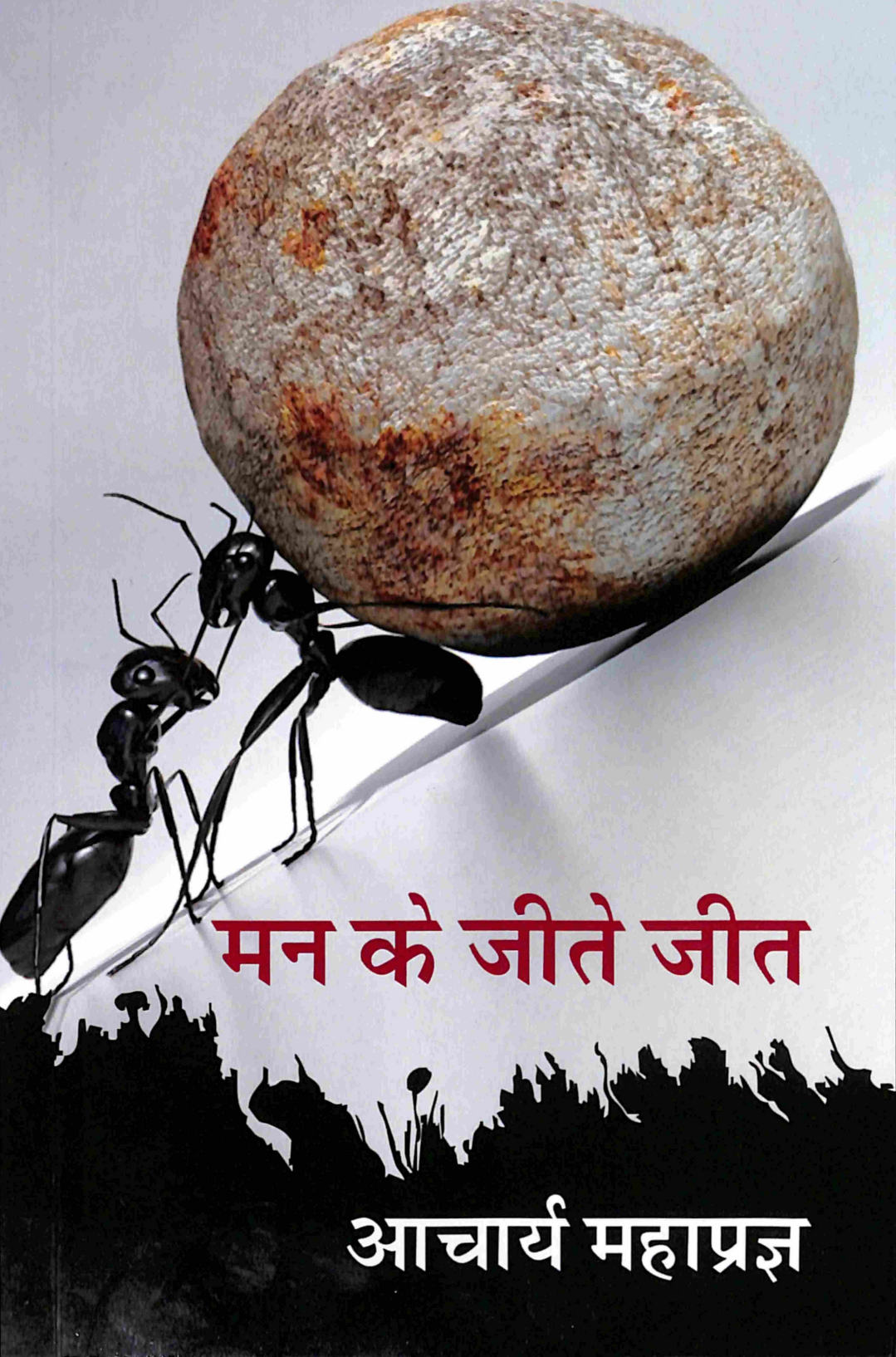

मन के जीते जीत

आचार्य महाप्रज्ञ

मन के जीते जीत

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रकाशक :
आदर्श साहित्य विभाग
जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-341306
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (01581) 226080,224671
ई-मेल : books@jvhbarati.org

Books are available online at
http://books.jvbharati.org

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

द्वितीय संस्करण : अगस्त 2021

मूल्य : 300/- (तीन सौ रुपये मात्र)

मुद्रक : जैन विश्व भारती प्रकाशन, लाडनूं

MAN KE JEETE JEET by Acharya Mahapragya ₹ 300/-

प्राथमिकी

मन का प्रश्न बहुत उलझा हुआ है। हजारों वर्षों से यह उलझा हुआ आ रहा है और भविष्य में कब सुलझेगा, पता नहीं। जिन लोगों ने मन को समझा और उसे देखा, उनका भ्रम समाप्त हो गया। जो मन को नहीं समझ पाए, उसे नहीं देख पाए, वे मन को जीतने के प्रश्न पर ही उलझे रहे। जीतने की भाषा लड़ाई की भाषा है। लड़ाई में जीत और हार–दोनों की संभावना रहती है। मन से लड़ने वाला संभव है जीत जाए, पर यह भी उतना ही संभव है कि वह हार जाए। निश्चयपूर्वक कोई नहीं कह सकता कि मन से लड़ने वाला मन को जीत लेता है। मन की उपेक्षा करने वाला, उसे देखने वाला तटस्थ होता है, मध्यस्थ होता है। उपेक्षा की बात कितनी बड़ी होती है, उसे कोई झेल नहीं सकता। मन भी उसे नहीं झेल सकता और वह किसी लड़ाई के बिना अपने आप पराजित हो जाता है।

अध्यात्म के क्षेत्र में युद्ध की अपनी भाषा है और योद्धा की भी अपनी भाषा है। युद्ध केवल समर-प्रांगण में ही नहीं लड़ा जाता, केवल शस्त्रों से ही नहीं लड़ा जाता; वह अपने भीतर भी लड़ा जाता है और शस्त्रों के बिना भी लड़ा जाता है। इसीलिए महावीर ने कहा–''अपने आप से लड़ो। दूसरों से लड़ने में क्या? '**जुद्धारिहं खलु दुल्लहं**'–युद्ध का अवसर दुर्लभ है, इसे मत खोओ।'' अध्यात्म का घोष है–

ओ वीर!
इन विजातीय तत्त्वों से लड़,
नकली लड़ाई से क्या होगा?
युद्ध की सामग्री जो मिली है,
वह बार-बार कब मिलेगी?
यह सर्वस्व युद्ध का मौका है।
यह रहा सामने घर,

जो सर्वस्व-त्यागी हैं, वे इस घर में रहते हैं।
पूरा साम्य वहीं है।
मैंने इसी अट्टालिका के शिखर से
विजातीय तत्त्वों को उस पार फेंका
दूसरा शिखर ऐसा नहीं है,
जहां से उन्हें उस पार फेंका जा सके।
थको मत।
थमो मत।
रुको मत।
झुको मत।
आगे बढ़ो।
दुगुनी शक्ति के साथ
आगे बढ़ो।

विजय के इस मंत्र को जो लोग नहीं समझ पाए उनके लिए मन सदा अजेय रहा और रहेगा भी। मानसिक उलझन को भी वे लोग नहीं सुलझा पाए जो विजय का रहस्य नहीं समझ सके। एक रस्सी के दो छोरों को दो आदमी खींचते हैं और रस्सी टूट जाती है तो दोनों गिर जाते हैं। एक खींचता है और दूसरा उसे छोड़ देता है तो खींचने वाला गिरता है और छोड़ने वाला खड़ा रहता है। जो प्रेक्षा को जानता है, वह विजेता बनता है। इस सीधी-सादी बात को समझने के लिए ही प्रस्तुत पुस्तक को पढ़ें, स्वयं देखें और अनुभव करें। यदि बात समझ में आ गई तो उलझा हुआ प्रश्न थोड़े में सुलझ जाएगा।

आचार्य तुलसी प्रेरणा-स्रोत और ज्योति-स्तंभ थे। उनका आशीर्वाद और सान्निध्य–दोनों मुझे प्राप्त थे। आज भी वे अप्रत्यक्षरूप से मेरे मार्गदर्शक हैं। साधना-शिविर उनके प्रोत्साहन और प्रेरणा से व्यवस्थित चलते रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में साधना-शिविर में हुए प्रवचन संकलित हैं। इनका संकलन और संपादन मुनि दुलहराजजी ने किया। कच्ची सामग्री उनके हाथों से पककर व्यवहार के उपयोगी बन गई। इसका व्यवहार करने वाले अवश्य ही आत्मानुभूति के क्षण को उपलब्ध होंगे।

आचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

1. देखें और सोचें	7
2. शरीर को साधें	18
3. शब्द को साधें	30
4. मन को पटु बनाएं	37
5. न करने का अर्थ	48
6. न बोलने का मूल्य	59
7. शरीर से परिचित हों	71
8. प्रेक्षा का प्रयोग	81
9. अनुप्रेक्षा	91
10. रूपांतरण की प्रक्रिया	102
11. स्थूल से सूक्ष्म की ओर	113
12. अध्यात्म के रहस्यों की खोज	125
13. अध्यात्म और व्यवहार	137
14. शरीर और उसके विशिष्ट केन्द्र	148
15. शरीर-बोध की अपेक्षा	155
16. प्राण और उसका कार्यक्षेत्र	162
17. आहार : अनाहार	167
18. भावना	173
19. अध्यात्म की साधना	178

20. इन्द्रिय-संयम 180
21. अप्रमाद 191
22. ज्ञान और संवेदन 202
23. जप और मौन 205
24. एकाग्रता 217
25. साधना के तीन पक्ष 224
26. निर्विचार ध्यान 230
27. चेतना की दिशा में परिवर्तन 241
* जिज्ञासा : समाधान 250

1. देखें और सोचें

इस संसार में दो तत्त्व हमारे सामने हैं–एक अभेद और दूसरा भेद। जब हम अभेद को देखते हैं, मन में कोई विकल्प उत्पन्न नहीं होता, कोई संदेह उत्पन्न नहीं होता। जब हम भेद को देखते हैं, मन में विकल्प उत्पन्न होता है, संदेह उत्पन्न होता है। यह क्यों? यह अंतर क्यों? यह अलगाव क्यों? ऐसी ही एक घटना घटित हुई प्राचीन काल में।

एक बार पार्श्वनाथ परंपरा के पट्टधर कुमारश्रमण केशी अपने श्रमण परिवार के साथ श्रावस्ती नगरी में आए और तिंदुक उद्यान में ठहरे। भगवान महावीर के शिष्य गणधर गौतम भी अपने श्रमण परिवार के साथ उसी नगरी में आए और 'कोष्ठक' उद्यान में ठहरे। दोनों के श्रमणों ने एक-दूसरे को देखा। वेशभूषा और चर्या का अंतर देख उनके मन में शंका उत्पन्न हुई। उन्होंने जाना कि तीर्थंकर पार्श्व ने चतुर्याम धर्म की प्ररूपणा की है। मुनियों के लिए चार महाव्रत बतलाए हैं और महावीर ने श्रमणों के लिए पांच महाव्रतों का प्रतिपादन किया है। चार महाव्रत और पांच महाव्रत यह अंतर क्यों?

पार्श्व के श्रमणों के वस्त्र सभी रंगों के थे। महावीर के श्रमणों के वस्त्र केवल श्वेत वर्ण के ही थे। चर्या में अंतर था। दोनों परंपराओं के श्रमणों के मन में संदेह उपजा। आचार्य केशी और गणधर गौतम ने यह जाना। वे अतीन्द्रिय ज्ञानी थे। दोनों एक स्थान पर मिले। श्रमण परिवार साथ था। कुमारश्रमण केशी ने गणधर गौतम से पूछा–'हमारा लक्ष्य एक है, हम एक ही उपलब्धि के लिए चले हैं, फिर तीर्थंकर पार्श्व ने चार महाव्रतों की और तीर्थंकर महावीर ने पांच महाव्रतों की बात कैसे कही? यह अंतर क्यों? वेशभूषा में अंतर क्यों? चर्या में अंतर क्यों? एक ही लक्ष्य के लिए प्रस्थित श्रमणों में यह अंतर संदेह उत्पन्न करता है। इसका समाधान क्या है? आप आशुप्रज्ञ हैं, इसका समाधान दें।'

गौतम ने समाधान किया। पहले ही चरण में जो कुछ उन्होंने कहा, वह बहुत

ही महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने कहा–**पन्ना समक्खिए धम्मं, तत्तं तत्तविणिच्छियं–** धर्म के परम अर्थ को जानना है, तत्त्व के निश्चय को जानना है, तो प्रज्ञा के द्वारा उसकी समीक्षा करो, प्रज्ञा के द्वारा देखो, भीतर को देखो, बाहर के रूप को मत देखो। तब तुम जान पाओगे कि परम धर्म क्या है? यह वेशभूषा का अलगाव या चार-पांच महाव्रतों की भिन्नता, संख्या का परिवर्तन धर्म नहीं है। धर्म इनमें नहीं मिलेगा। प्रज्ञा द्वारा गहरे में उतरो और देखो। धर्म वहां मिलेगा। उसमें कोई भिन्नता प्रतीत नहीं होगी। सब एक ही प्रतीत होगा।

प्रेक्षा : गहराई में उतरना

प्रेक्षाध्यान क्या है? प्रेक्षाध्यान है गहरे में उतरकर देखना। जब तक गइराई में नहीं उतरा जाता, सत्य को नहीं देखा जा सकता। हम सत्य को देखना चाहते हैं। हम सत्य को जानना चाहते हैं। उसे देखने-जानने के दो माध्यम हैं–एक विचार और दूसरा दर्शन-देखना। हम विचार से बहुत परिचित हैं, किंतु दर्शन से देखने से अभी परिचित नहीं हैं, विचार का धरातल नीचे रह जाता है, दर्शन का धरातल उससे बहुत ऊपर चला जाता है। दर्शन में जो शक्ति है, वह विचार में नहीं है। विचार की पहुंच बहुत सीमित रह जाती है। दर्शन की पहुंच बहुत आगे चली जाती है। जहां दर्शन होता है, वहां विचार समाप्त हो जाता है। विचारों को समाप्त करने का सबसे अच्छा साधन है दर्शन। आप जब दर्शन की भूमिका में प्रवेश करते हैं, देखना शुरू करते हैं, तब विचार अपने आप बंद हो जाते हैं। आप बहुत बार सोचते हैं कि विचारों का तांता कैसे टूटे? एक के बाद एक उठने वाले विचारों को कैसे रोका जाए? विचारों को ऐसे नहीं रोका जा सकता। उन्हें रोका जा सकता है दर्शन के द्वारा, देखने के द्वारा। आप देखने का अभ्यास करें। जैसे ही आप देखने लगेंगे, दर्शन होने लगेगा, विचार बंद हो जाएंगे। दोनों साथ में नहीं चल सकते। या तो दर्शन चलेगा या विचार चलेगा। दर्शन है तो विचार नहीं होगा और विचार होगा तो दर्शन नहीं होगा। दोनों दो दिशागामी पथिक हैं। दोनों साथ नहीं चल सकते। साधना की दृष्टि से 'देखना' बहुत ही मूल्यवान है। सत्य को जानने का, सत्य को देखने का सबसे बड़ा उपाय है देखना, दर्शन।

तीन प्रश्न

प्रश्न होगा–क्या देखें? कैसे देखें? क्यों देखें? ये तीन प्रश्न हैं। ये स्वाभाविक हैं।

क्या देखें यह पहला प्रश्न है। उत्तर होगा—जो सामने आए उसे देखो। कोई नियम नहीं बनाया जा सकता कि यह देखो और यह मत देखो। किसी भी वस्तु को देखा जा सकता है। जहां देखना है, वहां यह प्रश्न ही नहीं हो सकता कि किसको देखना है और किसको नहीं देखना है।

आकार को देखें, यह सबसे सीधा दर्शन है। कोई भी आकार सामने आया और हमने उसे देखना प्रारंभ कर दिया। हर आकृति, जो सामने आई, उसके बाहरी रूप को देखने लग गए। हर आकृति के दो रूप होते हैं—एक उसका बाहर का रूप और दूसरा उसका आंतरिक रूप। ऐसी एक भी वस्तु नहीं है, जिसका बाहर का रूप तो हो और अंदर का रूप न हो अथवा अंदर का रूप हो और बाहर का रूप न हो। दोनों होते हैं। जहां रस होता है, वहां छिलका भी होता है। जहां छिलका होता है, वहां रस भी होता है। हम छिलके को भी देखें और रस को भी देखें। हम गूदे को भी देखें और छिलके को भी देखें। बाहर और भीतर दोनों को देखें। पहले बाहर को देखें, फिर भीतर को देखें। पहले स्थूल को देखें, फिर सूक्ष्म को देखें।

पहले दर्शन में जो हमारे सामने आता है, वह है स्थूल रूप, किंतु जो पहले दर्शन में आता है, वह उतना ही नहीं होता, उसके भीतर भी बहुत होता है। सूक्ष्म को भी देखें। मेरे हाथ में पेंसिल है। आप इसके स्थूल रूप को देख रहे हैं। आप इसे गहराई से देखते चले जाएं। एक मिनट, दो मिनट, पांच मिनट देखते ही चले जाएं। देखते-देखते वह स्थूल रूप नष्ट होता-सा लगेगा और उसका भीतरी रूप, सूक्ष्म रूप हमारे सामने आने लगेगा। आप देखते चलें, देखते चलें, गहराई में उतरें। इतने नए-नए पर्याय उस वस्तु के सामने आएंगे कि आप आश्चर्यचकित रह जाएंगे।

आज मैं पेंसिल के आकार को देख रहा था। उसकी आकृति पर एकाग्र हो गया। पहले उसके एक रूप को देखा, केवल स्थूल आकार दिखा। दूसरी बार दृष्टि गई तो रंग दिखा, तीसरी बार सूक्ष्म अक्षर दिखे। वे पहली बार में नहीं दिख सके थे। अब बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखने लगे। पेंसिल एक छोटी-सी वस्तु है, अपने-आप में अनंत पर्यायों को समेटे हुए। एक बार दर्शन से वे अनंत पर्याय हमारे सामने प्रकट नहीं होंगे, किंतु हम जितनी गहराई से, जितनी सूक्ष्मता से देखते चले जाएंगे, वे पर्याय एक-एक कर क्रमशः उद्घाटित होते चले जाएंगे। संभव है, यदि हम इसी पेंसिल को पांच-दस दिन तक देखते रहें

तो यह पेंसिल नहीं रहेगी। हमारे लिए यह और कुछ हो जाएगी। यह सत्य के उद्घाटन का माध्यम बन जाएगी।

हम आकार को देखें, बाहर को देखें और भीतर को भी देखें। स्थूल को देखें और सूक्ष्म को भी देखें। देखते रहें, देखते रहें। देखते ही चले जाएं। गहरे में उतरकर देखें। देखना, केवल देखना और गहराई से देखना। हम जितनी गहराई से देखेंगे, उतने ही नए-नए पर्याय उद्घाटित होते चले जाएंगे। जिनकी प्रथम दर्शन में कल्पना ही नहीं की जा सकती। जैसे पेंसिल को देखा, वैसे ही श्वास को देखें। हमारे लिए केवल बाहर की वस्तुएं ही नहीं हैं देखने के लिए। हमारे आसपास भी बहुत है देखने के लिए। श्वास को देखें। श्वास के कंपनों को देखें। श्वास किस बिंदु को छू रहा है, उसे देखें। श्वास कहां तक जा रहा है, कहां मुड़ रहा है, कहां से वापस आ रहा है श्वास और कहां प्रश्वास बन रहा है, यह सब देखें। श्वास की सघनता को देखें। मोटाई को देखें कि कितना मोटा है? श्वास कितना छोटा है? अधिक परमाणुओं को लिए हुए है या कम परमाणुओं को लिए हुए है? श्वास कितना लंबा है? उसकी लंबाई को देखें। श्वास की गति को देखें। एक ही श्वास के विभिन्न रूपों को देखते चले जाएं।

मस्तिष्कीय कोष्ठक

शरीर को देखें। बहुत छोटा-सा है शरीर का आयतन, पर बहुत बड़ा खजाना है। शरीर का यंत्र इतना बड़ा है कि विश्व की बड़ी-से-बड़ी फैक्टरी उसके सामने छोटी पड़ जाती है। इस छोटे-से शरीर में अनेक मशीनों का निर्माण हुआ है। यदि कोई मनुष्य निर्माण करने बैठे तो इतने विकसित विज्ञान के युग में भी वह सफल नहीं हो सकेगा। छोटे-से इस मस्तिष्क में अरबों-खरबों कोष्ठक हैं, अत्यंत सूक्ष्म हैं। आदमी उनका निर्माण नहीं कर सकता। किसी भी आदमी की यह क्षमता और योग्यता नहीं है कि वह इतनी सूक्ष्म मशीनरी का निर्माण कर सके।

अपने पास ही इतना देखने को पड़ा है कि बाहर जाने की आवश्यकता ही नहीं है। आप मस्तिष्क के एक-एक कोष्ठक को देखना प्रारंभ करें। अरबों-खरबों कोष्ठक हैं। कोई स्मृति का कोष्ठक है तो कोई संवेदना का कोष्ठक है। कोई क्रोध का कोष्ठक है तो कोई क्षमा का कोष्ठक है। कोई अभिमान का कोष्ठक है तो कोई माया का कोष्ठक है। जितने आवेग, जितनी वृत्तियां, जितनी वासनाएं हैं, सबके अलग-अलग कोष्ठक हैं, उन्हें देखें। आज्ञाचक्र

को देखें। नासाग्र को देखें। नाभि को देखें और भी अनेक स्थान हैं। आप उन्हें देखते चलें। अनेक रहस्य उद्घाटित होते रहेंगे।

देखना केवल देखना ही नहीं है, उसका परिणाम भी होता है। शरीर के किसी एक स्थान को देखने का अर्थ होता है कि मन का वहां केन्द्रित हो जाना। जैसे ही आज्ञाचक्र को देखेंगे, मन सहज ही एकाग्र हो जाएगा, क्योंकि उस स्थान की अपनी एक विशेषता है कि जैसे ही मन वहां जाता है, वह उसे पकड़ लेता है। स्थान पकड़ लेगा। स्थान स्वयं मन को वहां टिकाना चाहेगा। हमारे शरीर में इतनी नाड़ियां हैं, इतना बड़ा नाड़ी-संस्थान है कि हम उसको देखते ही चले जाएं।

हमारे शरीर में अनेक ग्रंथियां हैं। योग के प्राचीन आचार्यों ने उन्हें चक्र कहा है। आज के शरीरशास्त्री उन्हें ग्लैण्ड्स कहते हैं। जापान में प्रचलित बौद्ध पद्धति 'जूडो' में उन्हें क्यूसोस कहते हैं। यह एक आश्चर्यकारी बात है कि योग के आचार्यों ने चक्रों के जो स्थान और आकार माने हैं, आज के शरीरशास्त्रियों ने ग्लैण्ड्स के जो स्थान और आकार माने हैं और जूडो पद्धति में क्यूसोस के जो स्थान और आकार माने गए हैं, वे तीनों समान हैं। विशेष अंतर नहीं है। तीनों की धारणा समान है।

1.	टेन्डो (Tendo)	पीनियल ग्लैण्ड	सहस्रार चक्र
2.	ऊतो (Uto)	पिट्यूटरी ग्लैण्ड	आज्ञा चक्र
3.	हिच (Hichu)	थाइरॉइड ग्लैण्ड	विशुद्धि चक्र
4.	क्योटोट्सु (Kyotosu)	थाइमस ग्लैण्ड	अनाहत चक्र
5.	सुइगेट्स (Suigetsu)	सोलर प्लेक्सस	मणिपुर चक्र
6.	माइओजो (Myojo)	एड्रीनल ग्लैण्ड	स्वाधिष्ठान चक्र
7.	सुरगिने (Tsuragine)	पेल्विक प्लेक्सस	मूलाधार चक्र

एक के बाद एक ग्लैण्ड, या क्यूसोस या चक्र को देखते चले जाइए। सबके स्थान स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होने लगेंगे। इन्हें देखने का बहुत बड़ा परिणाम होता है।

क्या देखें?

हमारे सामने देखने के लिए बहुत चीजें हैं, यह प्रश्न व्यर्थ हो जाता है कि हम क्या देखें? देखने के लिए यह शरीर ही पर्याप्त है। शेष जगत भी बहुत बड़ा है। इतना बड़ा है कि देखने की वस्तुओं का कभी अभाव होगा ही नहीं। देखने के लिए कोई वस्तु निकम्मी नहीं है। जिस वस्तु को हम निकम्मी मानते हैं, घृणित से घृणित मानते हैं, उसके दर्शन में भी हमें सत्य का दर्शन होता है। ये वस्तुएं निकम्मी या घृणित तब तक हैं, जब तक हमारा दृष्टिकोण भिन्न होता है। जब दृष्टिकोण सत्य को देखने का हो जाता है, फिर कोई वस्तु निकम्मी नहीं है, कोई वस्तु घृणित नहीं है, कोई वस्तु खराब नहीं है। अच्छी-बुरी का भेद समाप्त हो जाता है। केवल यथार्थ को देखने की, सत्य को देखने की बात शेष रह जाती है। क्या देखें? यह पहला प्रश्न था। इस पर मैंने थोड़ी-सी चर्चा की।

कैसे देखें?

दूसरा प्रश्न है कैसे देखें? यह बहुत ही महत्त्व का प्रश्न है। देखना जितना महत्त्वपूर्ण है, उससे अधिक महत्त्वपूर्ण है कैसे देखें? इसका सीधा उत्तर होगा कि आंखों से देखें। आंखों से देखना है, किंतु केवल आंखों से देखना ही पर्याप्त नहीं होगा। आंखों से देखने से पहले, जो कुछ अनिवार्य शर्तें हैं देखने की, उन्हें समझना होगा। पहली शर्त है कि अनासक्त भाव से देखें। तटस्थ भाव से देखें। राग-द्वेष रहित चेतना से देखें। यदि आसक्ति है तो ठीक दिखाई नहीं देगा। आंख देखेगी, पर यथार्थ नहीं दिखेगा, कुछ और ही नजर आएगा। एक रसिक आदमी ने स्त्री का गोल चेहरा देखा। उसे वह चांद-सा प्रतीत हुआ। भूखे आदमी ने स्त्री का गोल चेहरा देखा। उसे वह रोटी-सा लगा। एक के साथ कामासक्ति जुड़ी हुई है, एक के साथ पदार्थासक्ति जुड़ी हुई है। अब स्त्री का मुंह चांद कैसे हो सकता है? वह रोटी भी कैसे हो सकता है? नाटक में एक कल्पना की गई है कि जब भी भूखा आदमी चांद को देखता है, पूर्णिमा के चांद को देखता है, तो उसकी आंखों में गोल-गोल रोटी तैरने लगती है।

तटस्थ भाव से देखें

हम आंखों से देखते हैं, पर जो है, वह दिखाई नहीं देता। उसके साथ जो हमारी आसक्ति जुड़ी होती है, वह दिखाई देने लग जाती है। बहुत बार असुंदर सुंदर दिखाई देता है और सुंदर असुंदर दिखाई देता है। जिसके साथ आसक्ति जुड़ी होती है, वह असुंदर भी सुंदर प्रतीत होगा। जिसके साथ घृणा जुड़ी हुई

है, तिरस्कार का भाव जुड़ा हुआ है, वह सुंदर भी असुंदर दिखाई देगा। आंखें बेचारी यथार्थ को कहां देख पाती हैं। आंखों पर आवरण पड़ा है आसक्ति का, राग-द्वेष का, प्रियता-अप्रियता का। जब तक यह आवरण दूर नहीं होता, आसक्ति नहीं मिटती, राग-द्वेष नहीं मिटता, प्रियता और अप्रियता का भाव नष्ट नहीं होता, तब तक आंखें यथार्थ को नहीं देख पातीं। जो है, उसे उसी रूप में नहीं देख पातीं। आदमी अच्छा है। वह हमें बुरा दिखाई देता है, हम उसे बुरा मान लेते हैं। आदमी बुरा है। वह हमें अच्छा दिखाई देता है, हम उसे अच्छा मान लेते हैं, क्योंकि अच्छा मानने और बुरा मानने के साथ दूसरी भावना काम कर रही है, इसलिए अनासक्त भाव से देखें, तटस्थ भाव से देखें, केवल यथार्थ दीखेगा। जो घटित हो रहा है, उसे ही देखें। किसी चिंतन, भावना और संवेदना को साथ में न जोड़ें। यह अनासक्त भाव से देखना, राग-द्वेष-रहित चेतना से देखना, तटस्थ भाव से देखना, जो जैसा है, उसे वैसा ही देखना, यह है हमारा देखने का प्रकार।

जब अनासक्त चेतना जागृत हो जाती है तो फिर हम किसी भी माध्यम को काम में ले सकते हैं। आंख एक माध्यम है। स्थूल विषय, जो आंख के माध्यम से दृश्य हैं, उन्हें हम आंख से देखें। जो मन से देखे जाने योग्य हैं, उन्हें हम आंख मूंदकर मन से देखें। यदि आंखें खुली रखकर देखना चाहें तो भी हम देखें। भीतर देखें। यह है 'अनिमेष दर्शन'। किसी वस्तु को एकटक देखें। आंखें खुली हैं, उन्हें खुली रहने दें। पलक न झपकाएं। एकटक देखें। यह होगा 'अनिमेष दर्शन'-एकटक देखना। तंत्र और हठयोग में इसे 'त्राटक' कहा गया है। त्राटक का अर्थ है–एक बिंदु को अपलक दृष्टि से देखना, निरंतर देखना।

क्यों देखें?

तीसरा प्रश्न है क्यों देखें? देखना चेतना का मूल स्वभाव है। सोचना बुद्धि का काम है। बुद्धि चेतना की एक रश्मि है। विचारना उसका एक आलोक है। देखना अखंड चेतना का काम है। जब चेतना अनावृत होती है तब केवल दर्शन होता है, चिंतन नहीं होता। देखना हमारा स्वभाव है, इसलिए क्यों देखें यह प्रश्न ही नहीं होता। हम अपने स्वभाव से कम परिचित हैं, इसलिए यह प्रश्न होना अस्वाभाविक भी नहीं है। जितना गहरा और स्थिर होकर देखते हैं, उतनी ही एकाग्रता होती है। उतनी ही समाधि पुष्ट होती है। समाधि का सबसे ऋजु उपाय है देखना। किसी एक बिंदु या लक्ष्य पर मन को स्थिर करें और निरंतर देखते जाएं। कुछ क्षणों में निर्विचारता घटित हो जाएगी, समाधि का अनुभव होने लगेगा।

एकाग्रता और निर्विचारता के मंत्र-जप, श्वास-निरोध, एक विचार का

अवलंबन आदि-आदि जितने साधन हैं, वे सब स्वाभाविक नहीं हैं। इनमें कुछ विशेष विकल्प या प्रयत्न करना होता है। देखना स्वाभाविक है। उसमें किसी कल्पना, विचार या विकल्प का सहारा लेना आवश्यक नहीं होता। मन को बलपूर्वक नियोजित करने की स्थिति भी नहीं आती। केवल मन का नियोजन करना होता है। उससे सहज ही स्वभाव उद्‌बुद्ध हो जाता है और छिपी हुई शक्ति प्रकट हो जाती है। स्वभाव की अनुभूति, चैतन्य का साक्षात्कार, स्थूल में छिपे हुए सूक्ष्म का प्रत्यक्षीकरण, आनंद और शक्ति की अनुभूति सतत दर्शन के द्वारा ही हो सकती है। इसलिए देखने का अर्थ बहुत गंभीर और जटिल नहीं है।

दूसरा पहलू है सोचना। चिंतन भी सत्य की उपलब्धि का बहुत बड़ा साधन है। विचार की व्यर्थता नहीं है। विचार की भी सार्थकता है। विचार की व्यर्थता तब होती है जब वह किसी एक विषय पर केन्द्रित नहीं होता। केवल विचार करते चले जाते हैं, तब विचार की व्यर्थता होती है। समझदार आदमी और पागल आदमी में अंतर क्या है? बहुत बड़ा अंतर नहीं है। छोटा-सा अंतर है। जो आदमी, जब चाहे तब अपने विचारों पर नियंत्रण कर सकता है, वह होता है समझदार आदमी। जो आदमी अपने विचारों पर नियंत्रण नहीं कर सकता, वह होता है पागल। समझदार आदमी भी विचारता है और पागल आदमी भी विचारता है। आप यह न मानें कि पागल सोचता-विचारता नहीं। वह भी सोचता-विचारता है, किंतु जो विचार उसके मन में आ गया, उसे वह छोड़ नहीं सकता। वह विचार की पकड़ में आ जाता है। उस विचार का सातत्य चलता रहता है, छूटता नहीं। जो विचार की पकड़ में है, जो विचार को छोड़ नहीं पाता, वह पागल है और जिसमें विचारों को छोड़ने की क्षमता है, विचारों को बदलने का सामर्थ्य है, वह समझदार है। बस, इतना-सा अंतर है। एक छोटी-सी, पतली-सी सूक्ष्म रेखा है दोनों के बीच।

एक विषय पर विचार करते-करते, जब चाहा तब विषय बदल देना और दूसरे विषय में चले जाना, यह क्षमता बहुत उपयोगी है।

हम विचार के द्वारा ही सत्य को समझ सकते हैं, सत्य को जान सकते हैं। इस विचार-ध्यान के द्वारा बहुत बड़े-बड़े तथ्यों का अनुसंधान किया गया है। एक प्राचीन पद्धति रही है, जो प्रायः योग की सभी शाखाओं में मिलती है। आचार्य शिष्य को एक कोई समस्या दे देता और कहता कि इसका समाधान ढूंढ़ो। कोई पुस्तक में नहीं ढूंढ़ना है। पुस्तक उसमें सहयोगी बन भी नहीं सकती। एक दिन, दो दिन, दस दिन जब तक कि उसका समाधान न मिले, विचार करते

रहो, चिंतन करते रहो। इस प्रक्रिया से अनेक दूर की बातों का पता लगाया गया, अतीत की घटनाओं का पता लगाया गया और भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं को जाना गया।

एक पत्थर का टुकड़ा हाथ में ले लिया। यह पत्थर किन तत्त्वों से बना है, यह खोजना है। इस प्रश्न का उत्तर पाना है। यह पत्थर किन-किन अवस्थाओं से गुजरा है, यह जानना है। एक समस्या सामने आ गई। पत्थर को ले लिया। विचार प्रारंभ हुआ। विचार चलता रहा, चलता रहा, चलता रहा। कहीं नहीं रुका। एक ही विचार आते-आते एक स्थिति ऐसी आती है कि पत्थर अव्यक्त रूप से अपना सारा इतिहास बता देता है, कह देता है।

एक शब्द है। हमें उसके अर्थ को जानना है। हमने उसके अर्थ को सोचना शुरू किया। शब्द अपने आप कोई अर्थ नहीं बताता, किंतु हमने उसको एक समस्या बनाकर ले लिया। उस पर चिंतन करते चले, चिंतन करते चले। एक समय ऐसा आता है कि वह शब्द अपने आप अर्थ बता देता है।

रहस्यपूर्ण विद्या

महर्षि चरक आयुर्वेद के पुरस्कर्ता थे। वे जंगल में चले जाते। पौधों के सामने बैठकर कहते–'अरे, तुम मुझे बताओ, तुम्हारा उपयोग क्या है? तुम किस बीमारी में काम आते हो? तुम्हारा परिणाम क्या हो सकता है? बताओ। अपनी जबानी अपनी गाथा सुनाओ।' इन विचारों में वे तन्मय हो जाते। एकाग्रता के चरम बिंदु पर पहुंचते ही वह पौधा या वृक्ष अपने सारे गुण-धर्म बता देता। चरक जान जाते। वह एक सत्य घटना हो जाती। पौधा नहीं बोलता था, किंतु उस समस्या के आधार पर, चिंतन चलते-चलते मन की इतनी गहरी पकड़ हो जाती कि मन सूक्ष्म पर्यायों का साक्षात्कार कर लेता। अपने आप सारे पर्यायों का उद्घाटन हो जाता। यह विचार की प्रक्रिया, सत्य को जानने की बहुत सशक्त प्रक्रिया है। इसके द्वारा अनेक रहस्यों का उद्घाटन हुआ। आज भी अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया जा सकता है। जैन परिभाषा में इसे 'धर्म्य ध्यान' कहा है।

धर्म्य ध्यान

ध्यान के चार प्रकारों में दो ध्यान शुभ माने जाते हैं–धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान। शुक्ल ध्यान का अर्थ है आत्मा को देखना। यहां आत्म-साक्षात्कार की बात आ जाती है। धर्म्य-ध्यान का अर्थ होता है वस्तु का स्वभाव। यहां धर्म नहीं, धर्म्य है। धर्म-अधर्म, ये शब्द नहीं हैं। ये दोनों आचार से संबंधित हैं, धर्म्य शब्द से इनका संबंध नहीं है। वस्तु के स्वभाव को विचार के द्वारा

जानना, विचय के द्वारा जानना, चिंतन के द्वारा जानना-यह है धर्म्य ध्यान की प्रक्रिया। इसके द्वारा वस्तु के गुण-धर्म जाने जा सकते हैं। हम जान सकते हैं कि वस्तु के गुण क्या हैं? दोष क्या हैं? वस्तु का आकार जाना जा सकता है। वस्तु की प्रकृति जानी जा सकती है। वस्तु का भीतरी स्वरूप, सूक्ष्म स्वरूप जाना जा सकता है। यह सारा है विचय ध्यान, विचार ध्यान या चिंतन ध्यान। इसका तात्पर्य है विचारप्रधान ध्यान, चिंतनप्रधान ध्यान।

हम ऐसा न मानें कि सोचना ध्यान नहीं है, विचार करना ध्यान नहीं है। विचार करना भी ध्यान है, सोचना भी ध्यान है। विचार करना ध्यान तब बनता है जब वह विचार एक दिशाप्रवाही हो, बिखरा हुआ या छितरा हुआ न हो। एक दिशा में बहने वाला पानी धारा बन जाता है। धारा चाहिए। ध्यान के लिए धारा होना बहुत जरूरी है। छितरे बिंदु या छितरा पानी धारा नहीं बन सकता। वैसे ही बिखरे विचार ध्यान नहीं हो सकते। वे विचार जब केन्द्रित हो जाते हैं, एक दिशागामी हो जाते हैं, ध्यान बन जाते हैं।

विचार भी ध्यान है। निर्विचार भी ध्यान है। ध्यान दोनों हैं। दोनों का अपना-अपना महत्त्व है। एक दिशा में प्रवाहित होने वाले विचार ध्यान हैं। यह है विचार ध्यान। दर्शन की भूमिका है निर्विचार ध्यान। यहां विचार नहीं होता, केवल दर्शन होता है। यह न मानें कि निर्विचार ध्यान में कुछ भी नहीं होता। कुछ नहीं होना, यह मूर्च्छा की स्थिति है, ध्यान की स्थिति नहीं है। ध्यान में कुछ न कुछ उद्देश्य, लक्ष्य या विषय होता है। एक प्रश्न है कि एक दिशा में हम सोचते हैं, वह ध्यान होगा या हम देखते हैं, वह ध्यान होगा? एक दिशा में सोचना विचार-ध्यान और देखना निर्विचार ध्यान है। ध्यान दोनों हैं।

प्रेक्षा : केवल देखना

प्रेक्षाध्यान में दोनों के लिए अवकाश है। प्रेक्षा का अर्थ है निर्विचार ध्यान, देखने का ध्यान। प्रेक्षाध्यान का पहला अंग है देखना। इसमें हम देखते हैं, विचार नहीं करते। शरीर को देखना है, विचार नहीं करना है। शरीर में जो कुछ घटित हो रहा है, उसे देखना है। कहां स्पंदन है? कहां चंचलता है? कहां शब्द निकल रहा है? कहां धड़कन है? कहां कौन-सा अवयव सक्रिय है? जो कुछ हो रहा है, उसे देखना है। केवल देखना है, सोचना-विचारना कुछ भी नहीं है। हमारे शरीर के भीतर अनेक प्रकार की क्रियाएं सतत हो रही हैं। अनेक प्रकार के शब्द हो रहे हैं। हम उन क्रियाओं को नहीं जानते, उन शब्दों को नहीं सुन पाते, क्योंकि बाहर से इतने शब्द आ रहे हैं कि उन सूक्ष्म शब्दों को सुनने

का अवसर ही नहीं मिलता। शरीर में अनेक शब्द हो रहे हैं। ध्यान से सुनें, वे सुनाई देंगे। हृदय की धड़कन 'टिक-टिक' आपको सुनाई देगी। रक्त का प्रवाह निरंतर बह रहा है। उसका शब्द भी आप सुन सकेंगे। आपको सूक्ष्मता में जाना होगा। पूर्ण एकाग्र होना होगा, तभी ये सूक्ष्म आवाजें सुनाई देंगी। प्रेक्षाध्यान है केवल देखना, सोचना विचारना कुछ भी नहीं।

अनुप्रेक्षा

प्रेक्षाध्यान का दूसरा अंग है अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा का अर्थ है ध्यान में जो कुछ हमने देखा, उसके परिणामों पर विचार करना। 'अनु' का अर्थ है बाद में होने वाला। ध्यान में जो देखा, प्रेक्षा में जो देखा, देखने के बाद उसकी प्रेक्षा करना, परिणामों पर विचार करना, यह है अनुप्रेक्षा। अनु अर्थात् बाद में, प्रेक्षा अर्थात् विचार करना। जैसे हमने देखा कि शरीर के अमुक भाग में स्पंदन हो रहा है। परमाणु आ रहे हैं, जा रहे हैं। परमाणुओं का उपचय हो रहा है, अपचय हो रहा है। परमाणु घट रहे हैं, बढ़ रहे हैं। यह सारा देखा। अब सोचना है, इसका परिणाम क्या होगा? हम अनित्य अनुप्रेक्षा करेंगे कि जहां परमाणुओं का स्पंदन है, आना-जाना है, वह नित्य नहीं हो सकता, अनित्य होगा तो हम समझ लेंगे कि शरीर अनित्य है। शरीर अनित्य है, इसे जानने का आधार क्या है? जानने का आधार है प्रेक्षा। जब हमने प्रेक्षा में यह देखा कि शरीर में स्पंदन है, कंपन है, गति है, परमाणुओं का आना-जाना है, परमाणुओं का चय-अपचय है, इसका अर्थ है कि वह अनित्यधर्मा है। इस अनित्यता का अनुभव करना, विचार करना, चिंतन करना, यह है अनुप्रेक्षा।

प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा दोनों साथ-साथ चलेंगे। हम प्रेक्षा भी करेंगे। अनुप्रेक्षा भी करेंगे। निरंतर प्रेक्षा नहीं हो सकती। निरंतर अनुप्रेक्षा भी नहीं हो सकती। कभी प्रेक्षा करें, कभी अनुप्रेक्षा करें, पहले प्रेक्षा करें, फिर अनुप्रेक्षा करें। पहले देखें, फिर उसके परिणामों पर विचार करें, चिंतन करें और जो निष्कर्ष निकले, उससे लाभ उठाएं।

ध्यान के दो पहलू हैं–प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा। हम देखें और सोचें। हम दोनों प्रकार के ध्यानों का अवलंबन लेकर सत्य का बोध करें, यथार्थ को जानें, समझें और तटस्थ भाव से देखने का अभ्यास करें। इससे प्रेक्षाध्यान की सफलता सिद्ध हो सकेगी। प्रेक्षाध्यान का प्रयोजन ही है कि हम ध्यान की गहराई में जाकर देखने और सम्यक् प्रकार से चिंतन करने का अभ्यास कर सकें, सत्य का साक्षात् कर सकें।

2. शरीर को साधें

पहले पावर हाउस बनता है, फिर तार खींचे जाते हैं। तत्पश्चात् बिजली उन तारों में प्रवाहित होती है और फिर बल्ब में प्रकट होती है। बिजली तब तक प्रकट नहीं होती, जब तक बल्ब न मिले। हम केवल विद्युतप्रवाह (करंट) पर ही ध्यान केन्द्रित नहीं करते, किंतु वह जिसमें अभिव्यक्त होता है, उस पर भी पूरा ध्यान केन्द्रित करते हैं। हमारा शरीर शक्तियों की अभिव्यक्ति का सबसे शक्तिशाली माध्यम है। हम यदि केवल शक्तियों पर अपना ध्यान केन्द्रित करें और उन शक्तियों के अभिव्यक्त होने के माध्यम पर ध्यान केन्द्रित न करें तो इससे भयंकर भूल और कोई नहीं होगी। शरीर माध्यम है।

मूल्य शरीर का

सबसे पहले हमें इस बात पर ध्यान देना होगा कि हमारा शरीर प्रकट होने वाली शक्तियों को झेल पाने में समर्थ है या नहीं? यदि वह सशक्त नहीं है, तो किसी भी शक्ति का उसमें अवतरण नहीं होगा। कोई भी शक्ति अभिव्यक्त नहीं होगी। हमारे शरीर के जितने शक्तिकेन्द्र हैं, वे पूरे शक्तिशाली बन जाते हैं तभी उसमें किसी विशेष शक्ति का अवतरण हो सकता है। इस दृष्टि से मैं एक तथ्य प्रस्तुत करना चाहूंगा कि हम शरीर के प्रति उदासीन न हों, उसके प्रति घृणा का भाव न रखें। हम शरीर से प्रेम करना सीखें। प्रेम करें और इसलिए करें कि यह शरीर ही हमारी सारी सफलताओं का माध्यम है, सबसे बड़ा और शक्तिशाली माध्यम है। इस शरीर के बिना कुछ भी नहीं हो सकता। सबसे पहले हम शरीर को समझें और शरीर में रहे हुए विभिन्न शक्तिकेन्द्रों को समझें, चैतन्यकेन्द्रों को समझें।

शरीर को देखने के कोण

शरीर क्या है? सामान्यतः यही समझा जाता है कि मांस, रक्त और गंदगी का पुतला है शरीर। इसमें हैं हड्डियां, वसा और मज्जा। बड़ा बीभत्स

रूप है, जिसे देखते ही मन घृणा से भर जाता है। शरीर का बीभत्स रूप हमारे सामने प्रस्तुत है। हमने वैराग्य की दृष्टि से शरीर के बीभत्स रूप को देखने का प्रयत्न किया है। यह दृष्टिकोण गलत नहीं है। यह सच है कि शरीर ऐसा ही है, बीभत्स है। इसमें कोई सार दिखाई नहीं देता। यह जिन सात धातुओं से निष्पन्न है, वे सारी नश्वर हैं। शरीर खराब है, बीभत्स है, विकृत है, इसमें कोई संदेह नहीं, किंतु यह भी तो देखने का एक कोण मात्र है। दूसरे-दूसरे कोण भी हो सकते हैं। किसी भी वस्तु को देखने का एक कोण नहीं होता। जब हम वस्तु को एक ही कोण से देखते हैं, तब हम एकांगी हो जाते हैं। हमारा दृष्टिकोण मिथ्या बन जाता है। दृष्टिकोण सम्यक् तब बनता है जब हम उस वस्तु को अनेक कोणों से देखें। जब हम अनेक कोणों से देखते हैं तब होता है हमारा दर्शन, अन्यथा दृष्टि रहती है। वह भी टूटी हुई दृष्टि रहती है। वह मिथ्या बन जाती है।

शरीर को देखने का दूसरा दृष्टिकोण भी है। वह यह है कि शरीर जितना सारभूत है, उतना सारभूत हमारे लिए कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, मूर्त वस्तु नहीं है। परमात्मा की, चैतन्य की या शक्ति की अभिव्यक्ति कोई कर सकता है तो यह शरीर ही कर सकता है। कोई भी केवलज्ञानी बना है तो वह समर्थ शरीर के बिना नहीं बना।

वज्रऋषभनाराच संहनन

केवलज्ञान आत्मा की शक्ति है, उसकी निरावरण अवस्था है। इस अवस्था में ज्ञान के सारे आवरण दूर हो जाते हैं और पूर्ण चेतना, अखंड चेतना का उदय हो जाता है, किंतु इस ज्ञान के प्रकट होने के लिए भी एक शर्त है। हर कोई शरीर केवलज्ञान के अवतरण को नहीं झेल सकता। शर्त यह है कि जो शरीर वज्रऋषभनाराच संहनन वाला होता है, वही केवलज्ञान के अवतरण को झेल सकता है। इस शरीर वाला मनुष्य ही केवली हो सकता है, दूसरा नहीं। वज्रऋषभनाराच सबसे शक्तिशाली संहनन है, शरीर-संरचना है। इसमें अस्थिबंध अत्यंत मजबूत होता है। इस शरीर को धारण करने वाला मनुष्य ही केवली हो सकता है, सामान्य शरीरधारी मनुष्य नहीं ।

आप सोचेंगे, यह कैसी शर्त? यह कैसा अनुबंध शरीर के साथ? केवलज्ञान की प्राप्ति चेतना का अभ्युदय है, विशुद्ध चेतना का अवतरण है, चेतना का पूर्ण विकास है। यह आत्म-निर्मलता से प्राप्त होता है। राग-द्वेष का संपूर्ण विलय होने पर मिलता है, फिर उसके साथ यह शर्त क्यों? प्रतिबंध क्यों

कि वज्रऋषभनाराच संहनन वाला मनुष्य ही केवली हो सकता है, दूसरा नहीं?

यह तर्क हो सकता है, किंतु मैं समझता हूं कि यह प्रतिबंध बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक छोटा-सा मंच बनाया। उस पर दस आदमी बैठ सकते हैं। इतनी ही है क्षमता उसमें। यदि उस पर पचास आदमी बैठने का प्रयत्न करें तो वह मंच टूट जाएगा, क्योंकि उसमें पचास आदमियों के भार को झेलने की क्षमता नहीं है, शक्ति नहीं है। पतले कपड़े में भारी चीज डालने से कपड़ा फट जाता है। जितना भार है, उस भार को उठाने की, झेलने की जिसमें क्षमता है, वही उस भार को उठा सकता है, झेल सकता है।

शरीर का संहनन, शरीर की संरचना आदि दुर्बल है, हमारा स्नायु-संस्थान दुर्बल है, कमजोर है और यदि उसमें कैवल्य जैसी शक्ति का अवतरण हो जाए तो शरीर फट जाएगा। उसे झेल नहीं पाएगा। चूर-चूर हो जाएगा। कैवल्य की बात तो दूर, छोटी-मोटी शक्ति के अवतरण को भी वह झेल नहीं पाएगा।

मस्तिष्क में एक चक्र है सहस्रार। वह शक्तिकेन्द्र है। कोई दुर्बल व्यक्ति उस शक्तिकेन्द्र पर ध्यान करता है। ध्यान के साथ वह चक्र सक्रिय हो जाता है। उसकी सक्रियता गर्मी पैदा करती है, ताप और ऊर्जा पैदा करती है। वह गर्मी इतनी तीव्र होती है कि दुर्बल शरीर उसे सह नहीं सकता। आदमी पागल हो जाता है।

सामान्यतः बता दिया जाता है कि सहस्रार चक्र पर ध्यान करो, मन को एकाग्र करो, परंतु साथ में यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि किस अवस्था में उस केन्द्र पर ध्यान करना चाहिए। जब तक हम आज्ञाचक्र को नहीं साध लेते, आज्ञाचक्र पर ध्यान केन्द्रित करने की क्षमता का विकास नहीं कर लेते और सीधा सहस्रार चक्र पर ध्यान केन्द्रित करने के प्रयत्न में लग जाते हैं तो अनर्थ घटित हो सकता है। लाभ के बदले अलाभ हो सकता है। वह प्रयत्न सार्थक नहीं होगा, क्योंकि उस तीव्र ताप को झेल सकने की क्षमता हमारे शरीर में नहीं है। अनेक ध्यान-साधक पागल हो जाते हैं। यह ध्यान का दोष नहीं है। यह स्वयं ध्यान-साधक का दोष है, क्योंकि वह इस बात को नहीं जानता कि कब, किस स्थिति में, कहां ध्यान करना चाहिए? पहले किस शक्ति का विकास करना चाहिए और किस शक्ति का बाद में विकास करना चाहिए? जहां यह ज्ञान नहीं होता, वहां तनाव बढ़ता है, ताप बढ़ता है, लाभ के बदले नुकसान होता है।

बैठना सीखें

हम इस बात को भी समझें कि शरीर की शक्तियों के विकास का भी एक क्रम है। शरीर को हमें साधना है तो उन शक्तियों का क्रमिक विकास करना होगा। सबसे पहले हम बैठना सीखें। शरीर को साधने का पहला चरण है बैठना सीखना। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसी के आधार पर आसनों का विकास हुआ है। हजारों-हजारों प्रकार बैठने के बतलाए गए हैं। एक-दो नहीं, हजारों प्रकार। बहुत छोटी-सी बात लगती है कि हम बैठने पर इतना ध्यान क्यों दें? इतने प्रकारों की क्या जरूरत है? आसनों के इतने भारी विकास की क्या आवश्यकता थी?

एक छोटी-सी बात है बैठने की। आदमी जैसा चाहे वैसा बैठ जाए, किंतु जब शरीर को साधना है और शरीर में विशिष्ट शक्तियों का अवतरण करना है तो बैठने की बात को महत्त्व देना होगा। कैसे बैठें? इसे समझना होगा।

सीधे बैठें, रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। ग्रीवा सीधी रहे। पीछे का पूरा भाग सुषुम्ना के सिरे से लेकर मूलाधार तक, पुतों तक का भाग पूरा का पूरा सीधा रहे। यह साधना है। सामान्यतः आदमी सीधा नहीं बैठता या तो वह आगे की ओर झुककर बैठेगा या पीछे की ओर झुककर बैठेगा या अकड़कर बैठेगा। वह सीधा नहीं बैठता। साधना की दृष्टि से सीधा बैठना बहुत आवश्यक है। सीधा बैठने का अर्थ ही है कि हमारी प्राणधारा में कोई अवरोध उत्पन्न नहीं होता। प्राणधारा का सबसे अधिक प्रवाह पृष्ठरज्जु में, सुषुम्ना में होता है। रीढ़ की हड्डी पोली है। उसमें सुषुम्ना नाली है। वह मध्य नाली है। उसमें प्राण का प्रवाह होता है। यदि हम टेढ़े बैठते हैं तो प्राण के प्रवाह में अवरोध उत्पन्न होता है। अकड़कर बैठते हैं तो भी प्राण के प्रवाह में अवरोध उत्पन्न होता है। हम इधर-उधर मुड़ते हैं तो भी प्रवाह में अवरोध उत्पन्न होता है। सीधे बैठने से यह अवरोध उत्पन्न नहीं होता। इसीलिए कहा गया है कि सीधे बैठो। रीढ़ की हड्डी का, सुषुम्ना का केवल साधना की दृष्टि से ही मूल्य नहीं है, स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बहुत मूल्य है। आयुर्वेद के आचार्यों ने यहां तक लिखा है कि भोजन करें तब सीधे बैठें, टेढ़े-मेढ़े नहीं। बोलें तो टेढ़े न हों। छींकें तो टेढ़े न हों। कोई भी शरीर की क्रिया करें, तब रीढ़ की हड्डी सीधी रहे, टेढ़ी न हो।

महत्त्व सुषुम्ना का

हमारे स्वास्थ्य का मूल आधार है सुषुम्ना की स्वस्थता। रीढ़ की हड्डी यदि स्वस्थ है, ठीक है तो सारे स्वास्थ्य में कोई गड़बड़ी नहीं होगी और यदि

वह अस्वस्थ है, ठीक नहीं है तो उसका असर समूचे शरीर पर आएगा। आज चिकित्सा जगत में माना जाता है कि रीढ़ की हड्डी की विकृति के कारण ही बीमारियां उत्पन्न होती हैं, इसलिए किसी भी बीमारी की अलग से चिकित्सा करने की आवश्यकता नहीं है, केवल रीढ़ की हड्डी की चिकित्सा कर दो, बीमारी ठीक हो जाएगी। यह भी चिकित्सा की एक पद्धति है।

मेरे घुटने में दर्द था। एक चिकित्सक को दिखाया। उसने 'एक्यूपंक्चर' चिकित्सा पद्धति से चिकित्सा प्रारंभ की। उसने कहा 'रीढ़ की हड्डी में कुछ गड़बड़ है, इसीलिए घुटने में दर्द हुआ है।' यह कहां का संबंध! घुटने में दर्द है और उसका संबंध है रीढ़ की हड्डी से। पेट में दर्द होता है, सिर में दर्द होता है, कमर में दर्द होता है, शरीर में कहीं भी दर्द हो, वह सारा होता है रीढ़ की हड्डी की गड़बड़ी के कारण। उसकी चिकित्सा करो, दर्द मिट जाएगा। बीमारी मिट जाएगी। रीढ़ की हड्डी हमारे शरीर और स्वास्थ्य का मूल केन्द्र है। साधना की दृष्टि से भी यह महत्त्वपूर्ण है। जिस साधक ने सुषुम्ना को ठीक से समझ लिया, उसने साधना की चोटी पकड़ ली। जिसने सुषुम्ना को ठीक से नहीं समझा, उसे नहीं साधा, वह साधना करता हुआ भी अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सकता।

हमारे शरीर में अनेक चैतन्यकेन्द्र हैं, जहां चेतना विकसित है, प्रकट है। इन केन्द्रों के माध्यम से विशेष शक्तियों का अवतरण होता है। हम उन केन्द्रों को साधें, विकसित करें। जब तक हम उनको विकसित नहीं करेंगे, तब तक उनका उपयोग नहीं हो सकेगा। एक कहानी है, जो इस तथ्य को स्पष्ट करने वाली है।

एक भाई अपनी बहन के घर गया। भोजन का समय हुआ। न जाने बहन के मन में क्या बात उत्पन्न हुई, उसने थाली में गेहूं परोसे और उसे भाई के सामने रख दी। भाई प्राकृतिक चिकित्सा नहीं करवा रहा था कि कच्चे गेहूं खाए। वह बोला–'बहन! यह क्या? ये कैसे खाए जा सकते हैं?' बहन बोली–'भैया! मैंने मूल वस्तु परोसी है। सारे खाद्य इसी से बनते हैं। यह मूल खाद्य है। मैंने सोचा–भाई घर आया है। उसे मूल का ही भोजन कराऊं।' भाई ने सुना। बिना कुछ खाए उठ गया। बेचारा खाता भी तो क्या?

कुछ महीने बीते। बहन की लड़की के विवाह का प्रसंग आया। बहन के घर उसने एक पूड़ा भेजा। भाई के घर से कुछ आया देख बहन प्रसन्न हुई। उसने पूड़ा खोला। उसमें रुई थी। केवल रुई। बहन को कुछ भी समझ में नहीं आया।

वह बढ़िया कपड़ों की आशा लगाए बैठी थी, पर मिली उसको केवल रुई। कुछ दिनों बाद भाई भी आ गया। बहन ने पूछा–'यह क्या मजाक! विवाह में रुई का क्या प्रयोजन? भेजने थे कपड़े और भेजी रुई। क्यों?' भाई बोला–'बहन! मैंने मूल भेजा है। सारे कपड़े इसी रुई से बनते हैं। मैंने सोचा–'कपड़ों का क्या भेजना। बहन के घर विवाह है। कपड़ों का मूल ही भेज दूं, इसीलिए रुई भेजी है। यह सब कपड़ों का मूल है।'

सारा भोजन गेहूं से बनता है और सारे कपड़े रुई से बनते हैं, यह सही है, पर बात अधूरी है, पूरी नहीं। मैं भी मानता हूं कि गेहूं से भोजन बनता है और रुई से कपड़े बनते हैं, किंतु केवल गेहूं से न पेट भरता है और केवल रुई से न लज्जा का निवारण होता है, न सर्दी-गर्मी से बचाव ही होता है। गेहूं से भोजन बनाना होता है, तब भूख मिटती है। रुई से कपड़ा बुनना होता है, तब लज्जा का निवारण हो सकता है और सर्दी-गर्मी से बचाव हो सकता है। पेट तभी भरेगा जब गेहूं से रोटी बनाकर खाई जाएगी। सर्दी-गर्मी से तभी बचाव हो सकता है जब रुई से कपड़ा बुन लिया जाता है।

शरीर को साधें

हमारा शरीर मूल है, कच्ची सामग्री है। इससे हम जो चाहें प्राप्त कर सकते हैं। इसमें हमारे सभी शक्ति के केन्द्र और चैतन्य के केन्द्र मौजूद हैं कि जहां से हम वर्तमान को भी देख सकते हैं, अतीत को भी देख सकते हैं और भविष्य को भी देख सकते हैं। इस शक्ति के अवतरण के बाद हम अपने हाथ को वज्र भी बना सकते हैं और अपनी छाती पर से मोटर और हाथी को भी निकलवा सकते हैं।

जो लोग इस प्रकार के प्रदर्शन करते हैं, जिनकी छाती के ऊपर से ट्रक निकल जाता है, पर हड्डी नहीं टूटती, यह कैसे संभव होता है? जिस व्यक्ति ने अपने प्राण को साध लिया, वह ऐसा कर सकता है। उसका कुछ भी नहीं बिगड़ता। ऐसा होता है, पर कच्चे माल से ऐसा कुछ भी नहीं हो सकता। केवल शरीर से ऐसा नहीं हो सकता। कच्चे गेहूं से पेट नहीं भरता। केवल रुई से सर्दी-गर्मी नहीं मिटती। पेट भरने के लिए, तन ढंकने के लिए और-और तैयारी की भी जरूरत होती है। यही बात शरीर के संबंध में है। शरीर को साध लेने की जरूरत है। उन शक्तिकेन्द्रों और चैतन्यकेन्द्रों को विकसित कर लेने की जरूरत है। पूरी तैयारी की जरूरत है। साधना की दृष्टि से शरीर को साधना अत्यंत आवश्यक है।

शरीर को साधें। शरीर के जिस अवयव में जो शक्ति और चैतन्य के अवतरण की जो क्षमता है, अभिव्यक्ति की जो क्षमता है, उस केन्द्र को इतना शक्तिशाली बना लें कि बड़ी शक्ति का अवतरण हो सके, विशाल चैतन्य की अभिव्यक्ति हो सके और उसका हम उपयोग कर सकें।

शरीर को साध लेने का एक उपाय है आसन। भगवान महावीर सोलह-सोलह दिन-रात तक खड़े के खड़े रह जाते। खड़ा रहना भी एक आसन है। महावीर कभी उकड़ू आसन में बैठते तो रातभर बैठे रहते। पंजा भूमि पर टिका रहता, पर एड़ी ऊंची रहती। वे केवल पंजों के आधार पर पूरी रात, पूरे दिन बैठे रहते। जैन, बौद्ध और वैदिक परंपरा में हजारों साधक हुए हैं, संन्यासी हुए हैं। उन्होंने अपने शरीर को साधने के लिए विभिन्न आसनों का सहारा लिया है। यह अस्वाभाविक और असहज-सा लगता है कि कोई साधक इतने लंबे समय तक एक ही आसन में बैठा रह सके, पर जिन्होंने शरीर को साधा है, उनके लिए यह सब असहज नहीं है, अस्वाभाविक नहीं है।

कायोत्सर्ग करना अस्वाभाविक लग सकता है। तर्क हो सकता है कि शरीर को हिलाए-डुलाए बिना कैसे बैठा रहा जा सकता है? यह असंभव है। आपको ज्ञात होगा कि भगवान ऋषभ के पुत्र बाहुबली बारह महीनों तक कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़े रहे। पूरा एक वर्ष बीत गया। आसपास घास उग गई। लताओं ने उनके शरीर को आवेष्टित कर डाला। पंछियों ने शरीर पर नीड़ बना लिए। वे अचल खड़े रहे। क्या यह संभव है कि एक व्यक्ति पूरे बारह महीने तक खड़ा रह सके? हिले-डुले नहीं। असंभव-सा लगता है। सब ऐसा नहीं कर सकते, किंतु जिस व्यक्ति ने अपनी शक्तियों को जागृत करने के लिए, अपने शक्तिकेन्द्रों को विकसित करने के लिए शरीर को साध लिया, वह व्यक्ति ऐसा कर सकता है। ऐसा हो सकता है। इस स्थिति को नकारा नहीं जा सकता। हम यह न मानें कि वह संभव नहीं है, किंतु यह मानें कि हमने उसे संभव बनाने का प्रयत्न नहीं किया, जिसे संभव बनाया जा सकता है।

पहली बात है आसन। इसमें खड़ा रहना, लेटना और बैठना-तीनों बातें समा जाती हैं। शरीर को साधने के लिए आसन को साधना बहुत जरूरी है। आसन को साधने का अर्थ है सोए हुए शक्तिकेन्द्रों को जगाना, सक्रिय बनाना, गतिशील बनाना। शरीर को साधने का आसन ही एकमात्र साधन नहीं है। दूसरा साधन है श्वास।

श्वास को साधें

श्वास शरीर से अलग नहीं है, उसी का एक भाग है। श्वास को साधने का अर्थ है शरीर को साधना और शरीर को साधने का अर्थ है श्वास को साधना।

प्रश्न है श्वास कैसे लें? जैसे आसन के हजारों प्रकार विकसित हुए हैं, वैसे ही शक्ति-जागरण की दृष्टि से श्वास लेने के हजारों प्रकार विकसित हुए हैं। आज हमें सभी प्रकारों का प्रयोग नहीं करना है। कुछ सीमित प्रयोग हम करें।

प्रेक्षाध्यान में हम दीर्घश्वास, समवृत्तिश्वास और सहजश्वास–इन तीनों का प्रयोग कर रहे हैं। ये तीन ही प्रकार नहीं हैं। श्वास के प्रयोग अनेक विकसित हुए हैं। एक व्यक्ति घंटों तक श्वास को रोककर बैठ सकता है। एक व्यक्ति घंटाभर भस्त्रिका प्राणायाम कर सकता है। तेज श्वास से सारे शरीर को प्रकंपित कर सकता है। एक व्यक्ति सूक्ष्म श्वास के द्वारा सारे शरीर को निस्पंद जैसा बना लेता है। ये बहुत सारे प्रयोग हैं। यह विकास आत्मिक विकास नहीं है। इस विकास के पीछे यह दृष्टि थी कि किस प्रकार इन शक्तिकेन्द्रों को मजबूत और दृढ़ बनाया जा सकता है। कोई भी लुहार या स्वर्णकार धौंकनी के समक्ष सोना या लोहा रखकर तपाता है। गर्म करता है। वह व्यर्थ ही धौंकनी को नहीं चलाता और व्यर्थ ही लोहे या सोने को आग में नहीं तपाता। वह उन्हें इसलिए तपाता है कि लोहा या सोना तपकर ऐसा बन जाए कि वह उन्हें जिस आकार में ढालना चाहे, ढाल दे। सोने को पिघाला जाता है कि जिस आकार में हम उसे गढ़ना चाहें, गढ़ सकें। इसी प्रकार प्राणायाम श्वास की आंच में हमारे शक्तिकेन्द्रों को ढालने की एक प्रक्रिया है। यह वह प्रक्रिया है, जिससे हम उन शक्तिकेन्द्रों को इच्छित रूप में ढाल सकते हैं, उनकी शक्ति को विकसित कर सकते हैं। हम उनको इतना विकसित कर लेते हैं कि बड़ी से बड़ी शक्ति का उनमें अवतरण हो सकता है। हमारा समूचा स्नायु-संस्थान, नाड़ी-संस्थान जो कि शक्ति को झेलने का काम करता है, वह इस प्रक्रिया से विकसित हो जाता है, शक्तिशाली हो जाता है।

संदर्भ ग्रंथियों का

तीसरा प्रश्न है चक्रों के विकास का। ये चक्र ज्ञानकेन्द्र हैं, शक्तिकेन्द्र हैं। इनका विकास करना है। शरीरशास्त्र में जो ग्रंथियां कहलाती हैं, योग की भाषा में वे चक्र हैं।

वर्तमान का विज्ञान बताता है कि हमारे मस्तिष्क के पिछले भाग में दो ग्रंथियां हैं। वे बहुत छोटी हैं और एक-दूसरे से सटी हुई हैं। एक ग्रंथि को विकसित करने का अर्थ है कि उसके विकसित होने पर आप आनंद से भर जाएंगे। आपकी संवेदना नष्ट हो जाएगी। कोई भी घटना घटित हो, आपके मन में कोई भी संवेदना नहीं होगी, कोई पीड़ा और व्यथा नहीं होगी। अखंड आनंद निरंतर बना ही रहेगा।

दूसरी जो सटी हुई ग्रंथि है, वह अगर जागृत हो जाए, विकसित हो जाए तो आपका मन सदा दुःख से भरा रहेगा, दुःख कभी मिटेगा नहीं। अच्छी घटना हो या बुरी घटना, दुःख निरंतर बना रहेगा। उसे मिटाया नहीं जा सकेगा।

दोनों ग्रंथियां सटी हुई हैं। एक आनंद की है और एक दुःख की। इनको जागृत करने की प्रक्रिया खतरे से खाली नहीं है। खतरा यह है कि आनंद की ग्रंथि को जागृत करने चले और तनिक-सी भूल के कारण यदि दुःख की ग्रंथि जागृत हो जाए तो फिर साधक दुःख के गर्त में गिर सकता है। सुख की ग्रंथि जागृत करने चले और दुःख की ग्रंथि जागृत हो जाए तो कितना बड़ा खतरा हो सकता है, इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

सुख का प्रकट होना, दुःख का प्रकट होना, ज्ञान का प्रकट होना, शक्ति का प्रकट होना–यह सारा का सारा हमारी ग्रंथियों, ज्ञान-तंतुओं और शरीर-तंतुओं पर आधारित है। ये सारे शरीर में हैं। ऐसी स्थिति में हम शरीर की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं? शरीर को साधे बिना हम विकास कैसे कर सकते हैं? शरीर की तैयारी के बिना, केवल भावना के बल पर हम आगे बढ़ नहीं सकते। यह बहुत जरूरी है कि जैसे हम भावना को शुद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, वैसे ही शरीर की शक्ति को विकसित करने का प्रयत्न करें। शरीर के सोए हुए जो ज्ञान-तंतु हैं, ज्ञान-तंतुओं के गुच्छक हैं, उनको विकसित करने का, खोलने का प्रयत्न करें। ये जब तक नहीं खुलेंगे, विकसित नहीं होंगे और उनमें विशिष्ट शक्तियों को झेलने की क्षमता विकसित नहीं होगी, तब तक विशिष्ट शक्तियों और आनंद के अवतरण का प्रयत्न भी सफल नहीं होगा। शरीरशास्त्र बतलाता है कि हमारी ग्रंथियों के स्राव और हार्मोन जब तक उपयुक्त मात्रा में नहीं होते, तब तक कोई भी विशेष प्रक्रिया नहीं हो सकती। स्वास्थ्य के लिए भी यही बात है। जब तक अमुक प्रकार के हार्मोन नहीं होते, तब तक स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रह सकता।

'थाइरॉइड' एक ग्रंथि है। यदि उसका स्राव ठीक नहीं है, उचित मात्रा में नहीं है, आप निराशा से भर जाएंगे, हीन भावना पैदा हो जाएगी। अगर शरीर बच्चे का है तो उसका विकास अवरुद्ध हो जाएगा। शरीर का बढ़ना या नाटा रहना–ये सारे कार्य उस ग्रंथि के स्रावों पर निर्भर है। कोई आदमी चिड़चिड़े स्वभाव वाला होता है, कोई आदमी बहुत प्रसन्न मुद्रा में रहता है। इसे आप केवल कर्म का ही फल न मानें। कर्म का भी फल हो सकता है, किंतु कर्म का फल किस माध्यम से प्रकट होगा, इस पर भी हम ध्यान दें। हमने सबसे बड़ी भूल यह की कि हमने इस बात को भुला दिया कि इसके पीछे शरीर का भी बहुत बड़ा योग है। शरीर की उपेक्षा कर दी। हमने शरीर की उपेक्षा करने को ही वैराग्य मान लिया। हमने यह मान लिया कि शरीर भी क्या कोई ध्यान देने की चीज है?

शरीर आधार है

हमारी भावनाओं के साथ शरीर का संबंध है, हमारी प्रसन्नता के साथ शरीर का संबंध है, हमारी शक्ति के विकास के साथ शरीर का संबंध है। इस बात को कभी न भूलें। हम जब साधना की चर्चा करते हैं और विशेष प्रकार की शक्तियों की अभिव्यक्ति अपने में करना चाहते हैं तो सबसे पहले इस बात पर ध्यान केन्द्रित करें कि हमने शरीर को कितना साधा है? हमने शरीर को कितना उपयुक्त बनाया है? कोई भी चित्रकार उपयुक्त भित्ति के बिना चित्र का निर्माण नहीं कर सकता। बहुत सुंदर चित्र बनाना है और भींत लीपी हुई है गोबर से, तो सुंदर चित्र कैसे उभरेगा? सुंदर चित्र के लिए उपयुक्त भूमिका, उपयुक्त स्थिति और उपयुक्त उपकरण चाहिए। इतना होने पर ही सुंदर चित्र बनाया जा सकता है।

हम मूल को न भूलें। मूल की बात को विस्मृत न करें। शरीर को साधना है, उसके विशिष्ट केन्द्रों को जानना और विकसित करना है, उनको शक्तिशाली बनाना है, ऐसा करना अत्यंत जरूरी है।

मनोविज्ञान में एक शब्द प्रचलित है मनोदैहिक। इसका अर्थ है शरीर और मन से संबंधित। हम शरीर और मन को सर्वथा अलग नहीं कर सकते। वास्तव में मन शरीर का ही एक भाग है, हिस्सा है। शरीर की समूची क्रिया मस्तिष्क के द्वारा होती है और मस्तिष्क स्वयं शरीर का ही एक हिस्सा है।

शरीर के तीन मुख्य भाग हैं–मस्तिष्क, धड़ और पैर। मस्तिष्क शरीर का मुख्य भाग है। मन शरीर का एक भाग है, वचन शरीर का एक भाग है और श्वास शरीर का एक भाग है। ये सारे शरीर के माध्यम से ही प्रकट होते हैं।

सैद्धांतिक भाषा में यह कहा जाता है कि मन के लिए पुद्गलों का ग्रहण शरीर करता है। वचन के लिए पुद्गलों का ग्रहण शरीर करता है। श्वास के लिए पुद्गलों का ग्रहण शरीर करता है। उनको जो रॉ-मैटीरियल कच्चा माल चाहिए, वह सारा शरीर देता है। वे तो बाद में बनते हैं।

मन किसे कहा जाता है? जिन मननयोग्य पुद्गलों को शरीर ने ग्रहण किया, उन पुद्गलों को छोड़ने की क्रिया का नाम मन है।

वचन किसे कहा जाता है? जिन वचनयोग्य पुद्गलों को शरीर ने ग्रहण किया, उन पुद्गलों को विसर्जित करने की क्रिया का नाम वचन है।

श्वास किसे कहा जाता है? जिन श्वासयोग्य पुद्गलों को शरीर ने ग्रहण किया, उन पुद्गलों को छोड़ने की क्रिया का नाम श्वास है।

इस प्रकार सबसे शक्तिशाली केन्द्र है शरीर। शरीर के बारे में दो बातों पर हमें ध्यान देना है। पहली बात है कि हम शक्ति के व्यय को रोकें। दूसरी बात है कि हम प्राणशक्ति का संचय करें।

हम जाने-अनजाने बहुत सारी शक्ति का व्यय कर देते हैं। शक्ति का व्यय शरीर करता है, मस्तिष्क करता है और स्वचालित नाड़ी-संस्थान करता है। इन तीनों से शक्ति का व्यय होता है।

उपाय : शक्ति संचय का

साधना में कायोत्सर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कायोत्सर्ग करने का बार-बार विधान है। क्यों? इसका उद्देश्य क्या है? इसका एकमात्र उद्देश्य है कि शक्ति का जो व्यर्थ ही व्यय हो रहा है, उसे रोका जाए। बताया गया कि मौन करो। क्यों? इसीलिए कि वाणी के द्वारा जो शक्ति खर्च हो रही है, उसे बचाया जा सके। कहा गया है कि मन को केन्द्रित करो, चंचलता को मिटाओ। किसलिए? इसीलिए कि मस्तिष्क की जो शक्ति व्यर्थ ही खर्च हो रही है, उसे बचाया जा सके।

यह सारी क्रिया इसीलिए है कि शरीर की शक्ति को बचाया जा सके और शक्ति का सही अर्थ में उपयोग किया जा सके। शक्ति को बचाकर भंडार को सुरक्षित रखा जा सके और विशिष्ट चेतना के अवतरण के लिए उसका उपयोग किया जा सके।

दूसरी बात है शक्ति के संचय की, प्राणशक्ति के संचय की। हमारी

शक्ति का सबसे बड़ा स्रोत है प्राणधारा। शक्ति प्राप्त होती है प्राणधारा के द्वारा। हमारे शरीर में शक्ति का केन्द्र है मूलाधार चक्र और उसमें रही हुई ब्रह्मग्रंथि। यहां प्राण उत्पन्न होता है। मूलाधार की ऊष्मा से प्राण पैदा होता है। नाभि चक्र से स्वाधिष्ठान चक्र के नीचे तक के भाग की ऊष्मा से प्राण-तत्त्व उत्पन्न होता है। वही प्राण हमारी जीवनशक्ति और प्राणशक्ति है। वही हमारे जीवन को संचालित करती है। उस शक्ति को पैदा किया जाए।

प्रयोग मूलबंध का

प्रयोगों की शृंखला में एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है—मूलबंध। मैंने स्वयं इसका बहुत बार प्रयोग किया है। चलते-चलते जब थक जाता हूं, ऐसा लगने लगता है कि शरीर शिथिल हो गया है, पैर थक गए हैं तो इसका प्रयोग करता हूं और कुछ ही क्षणों में ताजगी का अनुभव होने लगता है, थकान मिट जाती है। बैठे-बैठे जब शिथिलता का अनुभव होता है तो दस-बीस बार इस प्रयोग को दोहराता हूं और तत्काल शिथिलता मिट जाती है, ताजगी का अनुभव होने लगता है। यह प्राणशक्ति को उत्पन्न करने का प्रयोग है। आप अपनी गुदा का संकुचन करें। दस-बीस मिनट तक इस मुद्रा में रहें। आपको तत्काल अनुभव होगा कि नई शक्ति का संचार हो रहा है, ताकत आ रही है, क्योंकि प्राण उत्पन्न होने का जो केन्द्र है, उस पर हमने संयम कर लिया, उसे नियंत्रित कर लिया। उसे जेनरेटर बना लिया। वहां शक्ति का संचय होता है।

शक्ति उत्पन्न करने में बाहर का सहारा भी लिया जा सकता है। सूर्य प्राणशक्ति का, जीवनशक्ति का सबसे बड़ा केन्द्र है, खजाना है, भंडार है। वह अक्षय कोष है। हम सूर्य के द्वारा भी प्राणशक्ति को खींच सकते हैं। प्रातःकाल के समय, सूर्योदय के समय सूर्य के सामने खड़े होकर यदि हम संकल्प करें कि प्राणशक्ति का संग्रह हो रहा है, संचय हो रहा है, मस्तिष्क के मार्ग से प्राणशक्ति का अवतरण हो रहा है; दस-बीस मिनट इस संकल्प को दोहराएं और ध्यानस्थ मुद्रा में खड़े रहें, आपको अनुभव होगा कि नई शक्ति का संचार हो रहा है, स्फूर्ति का संचार हो रहा है। मैंने शरीर को साधने के विषय में और उपाय के विषय में कुछ रेखाएं प्रस्तुत की हैं। ये दिशासूत्र मात्र हैं। यदि इस बात को हम ठीक से समझ लें तो शरीर को इतना तैयार कर सकते हैं कि फिर हम आह्वान करेंगे, निमंत्रित करेंगे कि बड़ी से बड़ी शक्ति आए और शरीर में अवतरण करे, प्रकट हो, अभिव्यक्त हो।

3. शब्द को साधें

ध्यान के साथ ध्येय का संबंध जुड़ा हुआ है। अनेक ध्येय होते हैं, अनेक ध्यान। सबके लिए एक ही ध्येय अनुकूल नहीं होता। व्यक्तिशः अलग-अलग अनुकूलताएं होती हैं। एक के लिए जो अनुकूल होता है, वह दूसरे के लिए नहीं भी होता। सहज श्वास पर ध्यान करना किसी के लिए सरल होता है, अनुकूल होता है, किंतु कुछ लोग सहज श्वास को नहीं पकड़ पाते, वे अनुलोम-विलोम को सरलता से पकड़ पाते हैं। उनका मन उस पर जम जाता है। कोई दीर्घश्वास को सरलता से पकड़ पाता है। अभी-अभी एक साधक ने बताया कि समवृत्तिश्वास पर ध्यान अधिक केन्द्रित होता है। एक मुनि ने बताया कि दीर्घश्वास और समवृत्तिश्वास पर ध्यान केन्द्रित होता है, पर सहज श्वास पकड़ में ही नहीं आता। इस प्रकार सबके लिए एक ही ध्येय हो, यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि आदमी यंत्र नहीं है, यांत्रिक नहीं है। सबकी अलग-अलग क्षमता और अलग-अलग रुचि होती है। इसलिए यह आग्रह नहीं होना चाहिए कि ध्येय एक ही होना चाहिए। जैसे प्रेक्षा ध्येय है, वैसे ही अनुप्रेक्षा भी ध्येय है। आज मैं केवल शब्दात्मक ध्येय की चर्चा करूंगा। इसे पदस्थ ध्यान भी कहा जाता है।

पदस्थ ध्यान

ध्यान के चार प्रकार बतलाए गए हैं–पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। इनमें दूसरा ध्यान है पदस्थ। यह शब्द-ध्यान है। शब्द को साधना है। नहीं बोलना, मौन रहना एक बात है और बोलना दूसरी बात है। हम केवल मौन रहें, न बोलें, यह भी संभव नहीं है और केवल बोलते ही रहें, यह भी संभव नहीं है। जीवन में बोलने और न बोलने का संतुलन होना चाहिए। नहीं बोलने की चर्चा से पूर्व हमें यह समझना है कि हम बोलते हैं तो शब्द को साधें। शब्द के महत्त्व को समझें और उसकी सारी प्रक्रिया को जानें। इसका अर्थ है

कि पदस्थ ध्यान करें, पद को ध्येय बनाएं, शब्द को ध्येय बनाएं और उसके आधार पर चित्त की एकाग्रता स्थापित करें।

पद का बहुत महत्त्व है। जब हम पद का उच्चारण करते हैं तब केवल पद ही नहीं निकलता, केवल शब्द ही नहीं निकलता, उसके साथ हमारी भावना भी आती है, हमारा संकल्प भी आता है, मन की शक्ति भी आती है और श्वास का योग भी होता है। शरीर, श्वास, वायु, ध्वनि, संकल्पशक्ति, मानसिकशक्ति इन सबका जब योग होता है तब कोई शब्द हमारे सामने आता है। आदमी जब बोलता है तब बोलने के पीछे केवल शब्द ही नहीं होता, कई विशिष्ट प्रकार की शक्तियां भी होती हैं और वे शक्तियां अपने निश्चय के अनुसार प्रकट होती हैं।

श्रीकृष्ण और पांडव अमरकंका में गए। वहां के राजा पद्मनाभ ने द्रौपदी का अपहरण कर लिया था। पद्मनाभ को पता चला। वह भी अपनी सेना को सज्जित कर युद्धस्थल में आ गया। श्रीकृष्ण ने पांडवों से कहा–'जाओ, लड़ो।' पांडव गए। वे बहुत पराक्रमी और शक्तिशाली थे। पद्मनाभ सामने आया। पांडवों ने कहा–'आज ऐसा भयानक युद्ध होगा कि या तो हम रहेंगे या पद्मनाभ रहेगा। दोनों में से एक रहेगा।' जो मन का संकल्प था, भावना थी, वह प्रकट हो गई। युद्ध हुआ। स्थिति यह हुई कि पद्मनाभ स्थिर रहा और पांडव भाग खड़े हुए, क्योंकि उनका संकल्प शिथिल था। उनका संकल्प सूत्र था–**अम्हे वा पउमनाभे वा**–या तो हम रहेंगे या पद्मनाभ रहेगा। पद्मनाभ रह गया, वे भाग गए।

श्रीकृष्ण ने यह देखा। वे आगे आए। संकल्प की भाषा में बोले–अम्हे, न पउमनाभे-मैं रहूंगा, पद्मनाभ नहीं रहेगा। पुनः युद्ध हुआ। पद्मनाभ हार गया, भाग गया।

हमारे मुंह से केवल शब्द ही नहीं निकलता, उसके साथ अंतःकरण की शक्ति, संकल्प की शक्ति भी साथ-साथ निकलती है। हमारा कैसा निश्चय है, हमारी भावना कैसी है, उस निश्चय और भावना का बल भी उस शब्द के साथ होता है। हम शब्द की शक्ति को समझते हैं, जानते हैं और यह भी जानते हैं कि शब्द के साथ कुछ जुड़ा हुआ होता है।

हम 'अर्हं' की ध्वनि करते हैं, प्रेक्षाध्यान का प्रारंभ होता है अर्हं की ध्वनि से। हर क्रिया प्रारंभ होती है अर्हं की ध्वनि से। क्यों? ध्यान में तो मौन होना चाहिए, फिर अर्हं की ध्वनि क्यों ? अनुप्रेक्षा क्यों? शब्द का प्रयोग क्यों?

विद्युत की शक्ति

हम शब्द-प्रयोग को छोड़ नहीं सकते। वह बहुत बड़ी शक्ति है। मंत्र की शक्ति से लोग परिचित हैं। वह क्या है? शब्द की ही तो शक्ति है। वह शक्ति आज विज्ञान से, वैज्ञानिक व्याख्या से विश्लेषित होती जा रही है। हमारे शरीर के दो भाग मुख्य हैं–एक है मस्तिष्क और दूसरा है शेष शरीर। दोनों में विद्युत पैदा होती है। शरीर में रक्त की गति है। सारी धमनियों में, स्नायुओं में रक्त का प्रवाह है। फेफड़ा अपना काम करता है, लीवर अपना काम करता है। पाचनतंत्र अपना काम करता है। सारे अवयव अपना काम कर रहे हैं। उनमें घर्षण पैदा होता है। घर्षण से विद्युत उत्पन्न होती है। इसे घार्षणिक विद्युत कहा जाता है। यह संघर्षण से पैदा होती है। एक विद्युत हमारे मस्तिष्क में पैदा होती है। उसे धारावाही विद्युत कहा जाता है। यह निरंतर पैदा होने वाली विद्युत है। हमारे शरीर में दोनों प्रकार की विद्युत है–घार्षणिक विद्युत और धारावाहिक विद्युत। दोनों में बहुत बड़ी शक्ति है। पवन भीतर जाता है। उसकी टकराहट से शब्द उत्पन्न होता है। शब्द के साथ दोनों प्रकार की विद्युत जुड़ जाती है। शरीर के घर्षण से होने वाली विद्युत भी शब्द के साथ जुड़ जाती है और मस्तिष्क की चुंबकीय विद्युत या धारावाहिक विद्युत भी शब्द से जुड़ जाती है। शब्द शक्तिशाली हो जाता है। उसमें अपार शक्ति पैदा हो जाती है।

हम जब बोलते हैं तब शब्द के साथ विद्युत भी निकलती है। एक व्यक्ति के शब्द का दूसरे पर प्रभाव होता है। उस प्रभाव का कारण है कि शब्द के साथ-साथ जो विद्युत निकलती है, वह प्रभावित करती है। हमारे शरीर में विद्युत निकलने के कुछ मुख्य स्थान हैं–हाथ की अंगुलियां, पैर की अंगुलियां, आंखें और ध्वनि। इन स्थानों से होकर शरीर की विद्युत बाहर जाती है। शब्द के साथ विद्युत का योग होता है और वह योग शब्द को शक्तिशाली बना देता है। शब्द प्रभावोत्पादक बन जाता है। शब्द की तरंगें, शब्द के प्रकंपन बाहर निकलकर शक्ति पैदा करते हैं।

संकल्पशक्ति

जो हम सामान्यतः बोलते हैं उसकी वैज्ञानिक व्याख्या यह है कि जैसे हम बोलते हैं, बारह वर्ष तक बोलते चले जाएं तो इतनी-सी विद्युत पैदा होगी, जिसके द्वारा एक बार हजामत कर सकने जितना पानी गर्म हो सकता है। इतनी-सी विद्युत बहुत कम विद्युत है, किंतु जब उस शब्द के साथ संकल्प की

शक्ति जुड़ती है तो उसमें बहुत तीव्रता आ जाती है, तीव्र गति आ जाती है। इतनी गति कि संकल्प के साथ निकला हुआ वह शब्द प्रति सेकंड एक करोड़ मील की यात्रा कर लेता है। प्रकाश की गति एक सेकंड में एक लाख छियासी हजार मील है, किंतु संकल्पशक्ति के साथ निकला हुआ शब्द विशिष्ट प्रकार की गति करता हुआ एक सेकंड में एक करोड़ मील चला जाता है। वर्तमान में इस विषय में अनेक खोजें हुई हैं। बहुत विकास हुआ है। आज सुपरसोनिक विमान आकाश की छाती को चीरकर उड़ान भर रहे हैं। वे ध्वनि की गति से भी तेज चलते हैं। हीरों को काटने के लिए ऐसे यंत्र बने हैं, जो एक सेकंड में बीस हजार स्ट्रोक देते हैं, चोट करते हैं। यह होता है सूक्ष्म ध्वनि के द्वारा।

अर्हं ध्येय क्यों?

हम पदस्थ ध्यान की शक्ति को समझें। पद एक माध्यम है। अर्हं का जप करते हैं, अर्हं की ध्वनि करते हैं। अर्हं की ध्वनि केवल शब्द ही नहीं है। ध्येय सदा गुप्त रहता है। वह हमारे सामने नहीं होता। यदि ध्येय प्रकट हो जाए तो फिर ध्यान करने की कोई जरूरत ही नहीं रहती। ध्येय एक स्थूल रूप में हमारे सामने रहता है। हमेशा असिद्ध को सिद्ध करने का प्रयास होता है। तर्कशास्त्र में साध्य का लक्षण ही यह माना गया है कि **असिद्धं साध्यम्** जो असिद्ध है, वह साध्य है। यदि सिद्ध है तो वह साध्य नहीं बन सकता। उसको साधने की जरूरत नहीं होती। साध्य वह बनता है, जो सिद्ध नहीं है, जिसे साधना है। यदि अर्हत् हमारे सामने प्रकट हो, सिद्ध हो, तो उसे ध्येय बनाने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। हम अर्हं को ध्येय इसलिए बनाते हैं कि वह हमारे सामने प्रकट नहीं है, सिद्ध नहीं है, गुप्त है। उसे प्रकट करना चाहते हैं, सिद्ध करना चाहते हैं। अर्हं को हम ध्येय बनाते हैं। ध्येय बनाने के दो साधन हैं–आकार और शब्द। हम उसकी कोई प्रतिकृति बना लेते हैं और यह कल्पना कर लेते हैं कि वह अर्हं है।

दूसरा साधन है शब्द। हमने अर्हं को ध्येय बनाया और माध्यम शब्द को। हम अर्हं का जाप करते हैं। उस अर्हं की ध्वनि का उच्चारण ही नहीं करते हैं, किंतु उस उच्चारण के पीछे जो छिपा हुआ हमारा ध्येय है, अर्हत् उसके साथ संपर्क स्थापित करते हैं। शब्द को माध्यम बनाकर हम अर्हत् की स्थिति तक पहुंचना चाहते हैं, जिसका प्रतिनिधित्व यह अर्हं शब्द कर रहा है।

एक है वाच्य और दूसरा है वाचक। शब्द वाचक है और वाच्य है उसका अर्थ। अर्हं वाचक है और उसका जो अर्थ है, वह है वाच्य। अर्हं का अर्थ है

अर्हत् की स्थिति। हम वाचक के द्वारा वाच्य तक पहुंचना चाहते हैं। हम साधन के द्वारा साध्य तक पहुंचना चाहते हैं। हम शब्द की ध्वनि के साथ अपनी भावना को जोड़कर, अपने भीतर जो छिपा हुआ अर्हत् का स्वभाव है, उसे प्रकट करना चाहते हैं। अर्हं की यह सारी भावना हमारी समझ में आ जाए तो अर्हं की ध्वनि का अर्थ ही दूसरा होगा और यह भावना समझ में न आए तो अर्हम् की ध्वनि भी एक रूढ़ि बन जाएगी।

मंत्र और श्वास

मंत्र के पद का चुनाव वैज्ञानिक दृष्टिकोण से होना चाहिए। सबसे पहली बात है श्वास के साथ उसका संबंध। हम इस बात को याद रखें कि हमारी समूची साधना की प्रक्रिया में श्वास सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण साधन है। श्वास की विस्मृति न करें। प्रत्येक वस्तु के साथ श्वास का योग करना है।

मंत्र का चुनाव ऐसा हो कि वह एक ही श्वास में पूरा हो सके। मंत्र के साथ श्वास की लय जुड़ जानी चाहिए। श्वास के साथ उसका संबंध स्थापित हो जाना चाहिए। अर्हं एक मंत्र-शब्द है। इसका उच्चारण एक श्वास में सहजता के साथ, आनंद के साथ किया जा सकता है। लंबा उच्चारण करें तो भी एक श्वास में समाप्त हो जाता है।

चुनाव भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। बड़े मंत्र भी हो सकते हैं। जैसे णमो अरहंताणं, णमो सिद्धांण, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं–ये पांच पद हैं। बड़ा मंत्र है। बहुत कठिन है कि ये सारे पद, यह पूरा का पूरा मंत्र, एक ही श्वास में उच्चारित हो सके। उसका भी एक उपाय है। मंत्र यदि बड़ा हो तो उसके हिस्से कर लें। एक श्वास में एक हिस्से का उच्चारण करें। 'णमो अरहंताणं'–इसका उच्चारण एक श्वास में सहजतया किया जा सकता है। 'णमो सिद्धाणं'–इसका उच्चारण दूसरे श्वास में किया जा सकता है। इस प्रकार पांच पदों का पांच श्वासों में उच्चारण किया जा सकता है। पूरे मंत्र का जप पांच श्वासों में किया जा सकता है। श्वास की बात ही पर्याप्त नहीं है। मंत्र-पद की श्वास के साथ लयबद्धता होनी चाहिए।

संगीतज्ञ साज-बाज के साथ गाता है। उस साज-बाज के साथ उसके लय की एकता हो जाती है। इसी प्रकार हमारे मंत्र-पद की श्वास के साथ एकता हो जानी चाहिए, लय जुड़ जानी चाहिए। श्वास के साथ जब मंत्र-पद की लय जुड़ जाती है तब एकाग्रता सहजभाव से निष्पन्न हो जाती है, फिर श्वास में

और मंत्र-पद के उच्चारण में विसंगति नहीं रहती। तालमेल हो जाता है और तन्मयता आ जाती है। श्वास का प्रकंपन और ध्वनि का प्रकंपन दोनों साथ में जुड़ जाते हैं।

सबकुछ तरंगमय

हम सब प्रकंपनों का जीवन जी रहे हैं। यदि कोई ऐसा कैमरा हो या दर्पण हो और हम उसके सामने खड़े होकर देखें तो पता चलेगा कि जो बाहर दिख रहा है, वह तो स्थूल-सा है, कुछ नहीं है। सूक्ष्म रूप में सारा शरीर पुद्गलों का प्रकंपन मात्र है। तेज वर्षा होती है। पानी नीचे गिरता है। बुलबुले उठते हैं। पानी का एक बुलबुला उठा, वह फूटा। दूसरा उठा, वह फूटा। तीसरा उठा, वह फूटा। यह क्रम चलता रहता है। तेज वर्षा में बुलबुलों का नाच-सा होने लग जाता है। बुलबुले उठते हैं, फूटते हैं, विलीन हो जाते हैं। हमारा शरीर भी ऐसा ही है। परमाणु आ रहे हैं, जा रहे हैं, संघटित हो रहे हैं, विघटित हो रहे हैं। तरंगें-ही-तरंगें। सारा शरीर तरंगों का, प्रकंपनों का, ऊर्मियों का एक पुलिंदा है। अच्छा है कि उस स्थिति को देख पाने का कोई साधन नहीं है। इसीलिए हम मान रहे हैं कि शरीर ठोस है। ठोस है कहां? विज्ञान मानता है कि हमारा सारा दृश्य जगत जिसे हम जानते-पहचानते हैं, यदि उसे कूट-पीसकर एकत्रित किया जाए तो वह एक बॉल (गेंद) जितना ही होगा। केवल आप नहीं, हम नहीं, सारे पहाड़, नदी-नाले, सारे मकान, सारे बालूकण सबको कूट-पीसकर एक कर लें तो उनका माप एक बॉल जितना ही होगा। ठोस बहुत कम है। केवल प्रकंपन। प्रकंपन ही प्रकंपन। शरीर ठोस लगता है, पर भीतर जाएं, भीतर की यात्रा करें तो लगेगा सबकुछ पोल ही पोल है, ठोस अत्यंत कम है। ऊपर चमड़ी आ गई। भीतर का दिखाई नहीं देता।

एक आदमी को कूट-पीसकर एकत्रित कर दिया जाए तो संभव है परमाणु जितना भी न बने। सारा जगत बॉल जितना है। कुछ भी ठोस नहीं है। शरीर की तरंगें, श्वास की तरंगें, विचारों की तरंगें, ध्वनि की तरंगें। हम केवल तरंगों से घिरे हुए हैं। दर्शन की भाषा में कहें तो हम पर्यायों से घिरे हुए हैं। पर्याय ही पर्याय हैं। द्रव्य है कहां? द्रव्य है आत्मा। वह तो दिखता नहीं है। द्रव्य है पुद्गल। वह भी बहुत सूक्ष्म है। पर्यायों का चक्कर है सारा। प्रकंपन ही प्रकंपन। इन सारे प्रकंपनों के बीच में हम जी रहे हैं।

हम प्रकंपनों का ठीक उपयोग करें। उनकी शक्ति का उपयोग करें। ध्वनि

की तरंगों का उपयोग करना सीखें। ध्वनि की तरंगों से उत्पन्न शक्ति को ठीक नियोजित करें। जब ध्वनि की तरंगें मन की तरंगों के साथ जुड़ जाती हैं, संकल्प की तरंगों के साथ जुड़ जाती हैं और श्वास की तरंगों के साथ जुड़ जाती हैं, तब बहुत बड़ी शक्ति पैदा होती है।

शब्द के कंपन अपनी चरम स्थिति तक पहुंचकर 'क्ष' किरणों-एक्सरेज के रूप में परिणत हो जाते हैं। तब उनकी गति एक करोड़ मील प्रति सेकंड हो जाती है। संकल्प के कंपन उसमें शक्ति का नियोजन कर देते हैं। इसलिए योग के मर्मज्ञ आचार्यों ने कहा है–जिनके निश्चय में कोई छेद नहीं है, वे क्या नहीं कर सकते? उनके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है। शब्द की सिद्धि आस्था की सिद्धि से होती है। आस्थाहीन शब्द शक्तिशून्य होते हैं। शब्द को साधने का अर्थ है आस्था और शब्द की दूरी को समाप्त कर देना। शब्द को साधने का अर्थ है ध्वनि को आस्था का कवच पहना देना।

4. मन को पटु बनाएं

हमारी चेतना के अनेक स्तर हैं। उनमें सबसे स्थूल स्तर है इन्द्रिय। उससे सूक्ष्म है मन। उससे सूक्ष्म है बुद्धि और उससे सूक्ष्म है अध्यवसाय। इस प्रकार असंख्य स्तर हो सकते हैं। इतने स्तर हैं कि जिनका नामकरण भी नहीं किया जा सकता। चेतना के इन अनेक स्तरों में से हम गुजरते हैं और अनेक स्तरों में हम जीते हैं।

इन्द्रियां बहुत स्थूल हैं, इसलिए वे हमारे लिए स्पष्ट हैं। मन की चेतना सूक्ष्म है, इसलिए इन्द्रियों की अपेक्षा उसे समझना कठिन है। हम ध्यान करते हैं। उसका संबंध मन से है। इन्द्रियों का ध्यान से सीधा संबंध नहीं है। पहला संबंध मन से जुड़ता है। ध्यान एक प्रकार से मानसिक क्रिया है। यह कोई सीधी बात नहीं है। इससे बहुत बड़ा खतरा हो सकता है। दुनिया में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो लाभदायी हो और खतरनाक न हो। जिससे बहुत बड़े लाभ की संभावना की जा सकती है, उससे बहुत बड़े खतरे की भी संभावना होती है। हम यह साथ-साथ मानकर चलें कि ध्यान से बहुत बड़ा लाभ हो सकता है तो बहुत बड़ा खतरा भी हो सकता है। यदि हम ठीक प्रक्रिया को समझे बिना ध्यान करते हैं तो बहुत कठिनाइयां पैदा होती हैं।

ध्यान के द्वारा एक विशेष ताप पैदा होता है, गर्मी पैदा होती है। यदि कोई उसे न सह सके तो वह पागल हो जाता है। इसीलिए ध्यान बहुत ही सोच-विचारकर, समझकर करना चाहिए। उसमें बहुत धीमे-धीमे गति पकड़नी चाहिए। यह नहीं हो सकता कि आज ही ध्यान करने बैठे और एक घंटा ध्यान कर लिया। एक घंटा तक ध्यान का अभ्यास करने के लिए लंबा समय बिताना पड़ता है। पहले दिन दो मिनट ध्यान हो जाए तो बहुत बड़ी सफलता है। दो मिनट का ध्यान छोटी बात नहीं है। यदि कोई व्यक्ति दो मिनट तक केन्द्रित रह सके, एकाग्र रह सके तो वह बड़ी सफलता है, उपलब्धि है। ऐसे लोग बहुत

ही कम मिलेंगे जो वर्षों के प्रयत्न के बावजूद एक विषय पर दो मिनट तक लगातार एकाग्र रह सकें। वे बीच में ही विचलित हो जाते हैं। दो मिनट तक मन में कोई व्यवधान न आए, विकल्प न आए, यह कम बात नहीं है।

हमारे मन में निरंतर विकल्प उठते हैं, व्यवधान आते हैं। हम एक विचार को लेकर बैठते हैं। उस पर एकाग्र होने का प्रयत्न करते ही विभिन्न विकल्प और व्यवधान उत्पन्न हो जाते हैं। मन की चंचलता की स्थिति में इन व्यवधानों की कल्पना भी नहीं कर सकते। एकाग्र होते हैं तभी हमें पता लगता है कि विकल्पों का प्रवाह कितनी तेजी से बह रहा है और वह हमारी एकाग्रता में कितना व्यवधान उपस्थित कर रहा है। ध्यान बहुत खतरनाक है। वह पहले ही क्षण में, पहले ही दिन या शिविर के पहले ही आयोजन में सिद्ध हो जाता है, यह बात नहीं है। यह स्पष्ट मानकर चलना चाहिए कि अभी जो अभ्यास हो रहा है, वह मात्र अवधान का अभ्यास हो रहा है।

मन की अवस्थाएं

योग की भाषा में मन की तीन अवस्थाएं हैं–अवधान, एकाग्रता या धारणा और ध्यान। मनोविज्ञान भी इसी का संवादी विचार प्रस्तुत करता है। उसमें भी तीन अवस्थाएं मानी गई हैं–अटेंशन, कॉन्सन्ट्रेशन और मेडिटेशन। अवधान, केन्द्रीकरण और ध्यान। ये मन की तीन अवस्थाएं हैं। मानसिक क्रियाएं इन तीन अवस्थाओं से गुजरती हैं।

पहली अवस्था है अवधान, अटेंशन। यह मन की वह क्रिया है जहां हम मन को किसी वस्तु के प्रति व्यापृत करते हैं, लगाते हैं। जो मन घूमता रहता है, उसे एक वस्तु के प्रति लगा देते हैं। वस्तु के प्रति मन को सचेत करना, चैतन्यवान बनाना यह है अवधान की अवस्था। इसमें पदार्थ के साथ मन का संबंध जुड़ जाता है। यह है अवधान। हम कहते हैं कि सावधान हो जाओ। इसका मतलब है कि एक कार्य के प्रति दत्तचित्त हो जाओ। चित्त को उसमें लगा दो।

अवधान जैसे बाह्य वस्तु के प्रति होता है, वैसे ही कभी-कभी अपने मूल स्वरूप के प्रति भी होता है। जब मौलिक स्वरूप के प्रति अवधान होता है, उस स्थिति में ही प्रज्ञा का उदय होता है, फिर बाह्य के प्रति अवधान नहीं होता। मन का अवधान अपने प्रति हो जाता है। अपने प्रति मन का अवधान होना एक विशेष प्रकार की स्थिति है। इस स्थिति में ही आंतरिक चेतना प्रकट होती है।

धारणा

मन की दूसरी अवस्था है कॉन्सन्ट्रेशन। योग की भाषा में एकाग्रता या धारणा। यह अवधान से अगली अवस्था है। जिसमें हमने अवधान लगाया, मन का पदार्थ के साथ संबंध स्थापित किया, उसी में केन्द्रित हो जाना। जो मन चारों ओर भटक रहा था, अनेक वस्तुओं पर जा रहा था, उसे सब वस्तुओं से हटाकर उसी वस्तु में केन्द्रित कर देना कॉन्सन्ट्रेशन है, एकाग्रता या धारणा है। यह मन की धारणावस्था है। ध्यान से पहले धारणा करनी होती है। शरीर के किसी भी हिस्से में या किसी वस्तु में मन को स्थापित कर लेना, मन को आरोपित कर लेना, धारणा है। पतंजलि ने धारणा की यह परिभाषा की है–**देशबन्धः चित्तस्य धारणा**–चित्त को किसी देश में बांध देना, किसी के साथ उसका संबंध स्थापित कर देना कि वह उसी से बंधा रहे, अन्यत्र न जाए, यह है धारणा की अवस्था।

ध्यान

मन की तीसरी अवस्था है मेडिटेशन, ध्यान। अवधान के बाद धारणा और धारणा के बाद ध्यान। केन्द्रीकृत मन की जो सघन अवस्था है, वह है ध्यान, जहां कि मन स्थिर हो जाता है, जम जाता है। लंबे समय तक मन जम जाता है, वह है ध्यानावस्था। वह है मेडिटेशन, ध्यान। हमने तीन अवस्थाओं पर विचार किया। ध्यान तीसरी अवस्था है।

सबसे पहले अवधान का अभ्यास करना होगा। मन की वह स्थिति पैदा करनी होगी, जो अवधान कर सके। मन बहुत ही गतिशील तत्त्व है। मन का काम ही है गति को बनाए रखना। वास्तव में यह उसका स्वभाव नहीं है। हम बिल्कुल विपरीत दिशा में जा रहे हैं। स्रोत के साथ चलना बहुत स्वाभाविक है। हर कोई स्रोत के साथ चल सकता है। नौका भी चलती है तो स्रोत के साथ चलती है। स्रोत के प्रतिकूल चलना बहुत ही कठिन काम है। जो स्रोत के प्रतिकूल चल सके, वह साधक होता है। भगवान महावीर ने कहा–

अणुसोयपट्ठिए बहुजणम्मि पडिसोयलद्धलक्खेणं।
पडिसोयमेव अप्पा दायव्वो होउकामेणं॥

ध्यान : प्रतिस्रोत का मार्ग

समूचा संसार स्रोत के पीछे चल रहा है। सारा समाज, सारी जनता स्रोत के पीछे चल रही है, प्रवाह के साथ-साथ चल रही है। ऐसी स्थिति में

प्रतिस्रोत में चलना बहुत कठिन काम है। बहुत महत्त्व की बात आगे कही गई है–**अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो**–अनुस्रोत अर्थात् स्रोत के पीछे चलना, इसी का नाम है संसार। स्रोत के पीछे चलना, यही है चंचलता। स्रोत के साथ चलना, यही है अशांति। स्रोत के साथ चलना, यही है दुःख। स्रोत के प्रतिकूल चलना, यही है शांति, यही है स्थिरता, यही है उतारो-पार पा जाना। जो स्रोत के प्रतिकूल चलने की क्षमता रखता है, वह सचमुच पार पा जाता है, पार चला जाता है। ध्यान की क्रिया प्रतिस्रोत की क्रिया है, स्रोत के प्रतिकूल चलने की क्रिया है। जो मन चंचल है, गतिशील है, उसे केन्द्रित करना, अवहित करना या स्थिर करना, यह सारी विपरीत क्रिया है यानी जो मन का स्वभाव नहीं है, उस स्वभाव में मन को ले जाना और स्थापित कर देना। इससे समझा जा सकता है कि ध्यान कितनी कठोर क्रिया है। इसे बहुत सीधा और बहुत सरल न समझें। ध्यान की जो एक विभीषिका है, उसे मैंने प्रस्तुत किया है। संभव है कुछ लोग इससे डर भी जाएं। वे ऐसा सोचें कि इतनी कठोर साधना है ध्यान की, हम उसे करने क्यों बैठे हैं? मैं ऐसा कहना नहीं चाहता हूं कि आप वस्तुस्थिति को समझें ही नहीं। आपके मन में भय पैदा हो जाएगा, इसलिए मैं सत्य को छिपा दूं, यह मुझे मान्य नहीं है। इस भ्रांति को मैं पसंद नहीं करता। मैं नहीं चाहता कि आप भ्रांति में रहें। जो जैसा है, उसे वैसा ही समझना होगा। ध्यान की साधना सचमुच कठिन है। यदि हम उसे सरल मानकर चलेंगे तो संभव है हमारे में भ्रांति पैदा हो जाए और हम ध्यान की स्थिति तक पहुंच ही न पाएं। यह आत्मभ्रांति नहीं होनी चाहिए।

कब होता है ध्यान सिद्ध?

हम ध्यान करते हैं मूर्च्छा को तोड़ने के लिए। हम ध्यान करते हैं प्रमाद को तोड़ने के लिए। यदि ध्यान से नई मूर्च्छा पैदा हो जाए, नई भ्रांति पैदा हो जाए, यह इष्ट नहीं है। जिस असत्य को तोड़ने के लिए, जिस असत्य से दूर होने के लिए हम ध्यान करते हैं, अगर उसी ध्यान के सहारे एक नया असत्य जन्म ले ले, यह कभी वांछनीय स्थिति नहीं हो सकती। इसलिए बहुत ही यथार्थवादी और वस्तुवादी होकर, वास्तविकता को समझकर हमें ध्यान के मार्ग में प्रवेश करना होगा। हमें यह मानना होगा कि ध्यान एक लंबी साधना है, लंबी प्रक्रिया है। हम जल्दबाजी न करें। पूरी तैयारी के बिना, कुछेक चीजों को साधे बिना यदि हम ध्यान को सिद्ध करना चाहेंगे तो लाभ के बदले हानि की संभावना ही अधिक होगी।

मंत्र और कवच-निर्माण

मंत्र की साधना करने वाला कोई भी व्यक्ति यदि कवच की क्रिया नहीं करता है तो उसे बहुत बड़ा खतरा होता है। सबसे पहले उसे अपना कवच बनाना होता है। इसलिए विभिन्न मंत्रों की दीक्षाओं के साथ विभिन्न कवचों की व्यवस्था की गई है। कवच तैयार करने का मतलब है अपने लिए वज्रमय पिंजरा बना लेना। कवच बना लेने के बाद कोई भी बाहरी शक्ति उसे आघात नहीं पहुंचा सकती। शरीर के प्रत्येक अवयव के लिए अलग-अलग कवचों की व्यवस्था है। सिर से लेकर पैर के अंगूठे तक हर अवयव को कवच पहनाया जा सकता है, उसे सुरक्षित किया जा सकता है।

प्राचीन काल में सैनिक कवच पहनकर युद्धस्थल में उतरते थे। लोहे या अन्य धातु के वे कवच इतने मजबूत होते थे कि उन पर तलवार या भाले का प्रहार भी काम नहीं करता था। सब शस्त्र निकम्मे हो जाते थे। कवच पहनने के बाद योद्धा सुरक्षित हो जाते थे। वे बाहरी प्रहारों से मुक्त हो जाते थे।

इसी प्रकार मंत्र का साधक भी, मंत्र की साधना से पूर्व कवच का निर्माण करता है, उसे धारण करता है, जिससे कि बाहर की कोई भी शक्ति उस पर प्रहार न कर सके, उसका अनिष्ट न कर सके। तैयारी हर किसी को करनी होती है। तैयारी के बिना कोई भी काम नहीं हो सकता। ध्यान के लिए भी पूर्व-तैयारी की जरूरत है और उस तैयारी में शरीर को साधना जरूरी है। वैसे ही मानसिक तैयारी के लिए सबसे पहले अवधान का अभ्यास जरूरी है।

मन को पटु बनाएं

ध्यान की चर्चा करने से पूर्व इस विषय की चर्चा जरूरी है कि हम मन को पटु बनाएं, उसे इस प्रकार प्रशिक्षित करें कि उसकी क्षमता विकसित हो जाए और ध्यान की स्थिति तक पहुंचने की योग्यता संपादित हो जाए। अवधान योग्यता का संपादन है। मन को पटु बनाए बिना, मन की पटुता को संपादित या अर्जित किए बिना हम ध्यान की भूमिका तक नहीं पहुंच सकते, इसलिए मन को पटु बनाना, कुशल बनाना बहुत ही जरूरी है। मन को पटु बनाने के लिए अनेक अभ्यास कराए जाते हैं।

आसनों का अभ्यास इसलिए कराया जाता है कि शरीर पटु बन जाए। उसमें पटुता आ जाए। उसमें इतना लचीलापन आ जाए कि हम उसे जैसा चाहें वैसा मोड़ सकें। आसनों के द्वारा हमारी रीढ़ की हड्डी में इतना लचीलापन

आ जाता है कि हम चाहें जैसे शरीर को मोड़ सकते हैं। जिसकी रीढ़ की हड्डी लचीली नहीं होती, वह शरीर को मोड़ नहीं सकता। शरीर में अकड़ रहती है। जैसे शारीरिक-साधना के लिए रीढ़ की हड्डी को लचीली करने के आसन जरूरी हैं, वैसे ही मानसिक साधना के लिए अवधान के विविध प्रयोग करना भी जरूरी है।

मन के प्रशिक्षण का क्रम

मन का संबंध है बाह्य विषय के साथ, मन को हम शिक्षित करें। उसके प्रशिक्षण का भी एक क्रम है। नंदीसूत्र में वह क्रम बहुत ही सुंदर ढ़ंग से प्रतिपादित है।

पहला क्रम-युगल है–अल्पग्राही, बहुग्राही। ये दो चरण हैं। मन को हम एक कार्य में लगाएं, जिससे कि वह एक बिंदु को पकड़ सके, थोड़े को पकड़ सके या थोड़े काल तक किसी वस्तु को पकड़ सके। यह है अल्पग्राही। बहुग्राही अर्थात् बहुत को पकड़ना, बड़ी चीज को पकड़ना, लंबे काल तक पकड़े रखना।

हम प्रेक्षा करते हैं। शरीर की प्रेक्षा करते हैं। श्वास की प्रेक्षा करते हैं। सुझाव दिया जाता है कि नासाग्र पर आने-जाने वाले श्वास को देखो। श्वास के गमन को देखो। श्वास के निर्गम को देखो। श्वास भीतर जाता है, उसे देखो। श्वास बाहर निकलता है, उसे देखो। नासाग्र पर केवल श्वास को देखो। मन को नासाग्र पर केन्द्रित करो, अवहित करो। मन के अवधान को नासाग्र पर टिकाओ और आते-जाते श्वास को देखो। जैसे द्वार पर खड़ा संतरी एक ही बात का ध्यान रखता है कि कौन भीतर आ रहा है और कौन बाहर जा रहा है। जब कोई भीतर आता है या बाहर जाता है, तब वह सजग रहता है, ध्यान रखता है। इसी प्रकार नासाग्र से होते हुए आने-जाने वाले श्वास को देखो। यह बाहर जा रहा है, यह भीतर आ रहा है। इसी बात को देखो, ध्यान केन्द्रित करो। यह है अल्प की प्रेक्षा, अल्प का अवधान। यह है अल्पग्राही।

बहुग्राही अर्थात् बहुत की प्रेक्षा। सुझाव दिया गया कि श्वास के साथ-साथ मन को भीतर ले जाओ, प्रस्थान के साथ-साथ मन को बाहर ले आओ। यह बहु का अवधान है, बहुग्राही है। अल्पग्राही में हमारा पथ छोटा था, अब हमारा पथ लंबा हो गया। अल्पग्राही में केवल नासाग्र पर मन को टिकाए हुए थे, अब यह श्वास-प्रश्वास के पूरे मार्ग का अवगाहन कर रहा है। पथ लंबा हो गया, यात्रा लंबी हो गई। जहां नाभि के आसपास से श्वास उठता है, वहां से मन को उसके साथ जोड़ दें और उसे श्वास के साथ ही साथ भीतर ले जाएं।

जहां जाकर श्वासयंत्र समाप्त होता है और फेफड़ों में प्रवेश करता है, वहां तक मन को ले जाएं। डायाफ्रॉम तक मन को ले जाएं। तनुपट तक श्वास को ले जाएं। यह श्वास की सीमा है। यहां तक श्वास को ले जाएं। यह बहु का अवधान है, बहुत का ग्रहण है, अभ्यास के ये दो क्रम हैं–1. अल्प का ग्रहण, अल्प को देखने का अभ्यास। 2. बहु का ग्रहण, बहु को देखने का अभ्यास।

पहले में हम एक छोटे-से बिंदु को देखते हैं और दूसरे में पथ लंबा हो जाता है, अवगाहन का मार्ग लंबा हो जाता है। अभ्यास का दूसरा मोड़ है, दूसरा युगल है–1. एकविधग्राही 2. बहुविधग्राही।

एक प्रकार की वस्तु को देखना या बहुप्रकार की वस्तुओं को देखना। सुझाव दिया गया कि नासाग्र पर होने वाले प्रकंपनों को देखें अथवा नासाग्र पर श्वास के स्पर्श का अनुभव करें। यह एक प्रकार का अवधान हो गया।

जैसे जल में प्रकंपन होता है, ऊर्मियां उठती हैं वैसे ही सारा शरीर प्रकंपित है। प्रकंपन ही प्रकंपन। ऊर्मियां ही ऊर्मियां। स्थिरता नाम की कोई चीज नहीं है। ऐसी स्थिति में सुझाव दिया जाए कि नासाग्र पर होने वाले प्रकंपनों को देखें। यह एक प्रकार का ग्रहण है, एक प्रकार का अवधान है। मन को एक स्थान पर अवहित कर दिया गया, वह एकविधग्राही है।

बहुविधग्राही का अर्थ है एक साथ अनेक वस्तुओं को देखना। मन की पटुता और बढ़ जाती है। एक साथ अनेक वस्तुओं को देखना ही नहीं, उन्हें ग्रहण भी करना है।

ध्वनि की पटुता

जो अवधान करते हैं, वे मन की पटुता का प्रशिक्षण लेते हैं। उनका अभ्यास इतना तीव्र हो जाता है, उनकी पटुता इतनी विकसित हो जाती है कि वे एक साथ अनेक वस्तुओं को पकड़ लेते हैं।

कई अवधानकार अनेक ध्वनियों में सूक्ष्म अंतर को पहचान लेते हैं। वे अपने श्रोत्रेन्द्रिय की पटुता को इतनी विकसित कर लेते हैं कि ध्वनि का सूक्ष्म अंतर भी उन्हें ज्ञात हो जाता है।

अवधान : मन का प्रशिक्षण

हमारे संघ के कुछ अवधानकार 'सप्तसंधान' नामक अवधान करते हैं। यह एक साथ अनेक विषयों को ग्रहण करने की क्षमता का द्योतक है। एक आदमी एक

बात कह रहा है। दूसरा आदमी उसी क्षण दूसरी बात कह रहा है। अवधानकार के पीछे की ओर दोनों हाथों में भिन्न वस्तुओं का स्पर्श कराया जा रहा है। सामने खड़े तीन आदमी तीन भिन्न-भिन्न वस्तुएं दिखा रहे हैं। ये सातों व्यक्ति सात प्रकार की भिन्न-भिन्न क्रियाएं करते हैं। यह सारा एक ही क्षण में होता है।

अवधानकार उन सातों क्रियाओं को एक ही क्षण में ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के बहुविध काम एक साथ पकड़ लेना और उन्हें यथावत् बता देना बहुविधग्राही का एक उदाहरण है।

अवधान की इस कुशलता से, पटुता के इस अभ्यास से एक साथ अनेक वस्तुओं को पकड़ने की क्षमता आ जाती है। चार विकल्प हो गए—अल्प का ग्रहण, बहु का ग्रहण, एकविध का ग्रहण, बहुविध का ग्रहण। यह मानसिक प्रशिक्षण का क्रम है, जिसके द्वारा मन को प्रशिक्षित किया जाता है। आप कल्पना करें कि मन की शक्ति कितनी प्रबल है। आप इसे जादू या आश्चर्य न मानें। मन की यह प्रबल शक्ति सबमें है। आपमें है, हममें है। प्रत्येक व्यक्ति का मन उस सारी शक्ति को संजोए हुए है, समेटे हुए है। अंतर केवल इतना-सा है कि कुछ व्यक्तियों ने अभ्यास किया, मन को पटुता दी, उसे विकसित कर दिया। कुछ व्यक्तियों ने प्रयत्न नहीं किया, उनका मन विकसित नहीं हुआ। अंतर है प्रयत्न का, अंतर है अभ्यास का। हम भी प्रयत्न करें तो उस पटुता को प्राप्त कर सकते हैं, जहां बहुविध ग्रहण हमारे लिए सहज बन जाता है।

हमारे अनेक साधु-साध्वियां अवधान का प्रयोग करते हैं। लोगों को बहुत आश्चर्य लगता है। वे मानते हैं कि चमत्कार है, दैवी शक्ति का निदर्शन है, यह कोई चमत्कार नहीं। कोई दैवी शक्ति नहीं। कोई दैवी विद्या नहीं। कोई बाहर की शक्ति नहीं। केवल मन का प्रशिक्षण है, मन की शक्ति है। इसी के आधार पर हमें यह सारा चमत्कार-सा लगता अवश्य है, पर है मन की पटुता। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

तीसरा चरण है क्षिप्रग्राही, चिरग्राही। यह एक युगल है।

मन को ऐसा अभ्यास दिया जाता है कि वह बाह्य पदार्थ को तत्काल ग्रहण करे यानी एक दृष्टि डाली और सबकुछ ग्रहण कर लिया। तत्काल ग्रहण कर लिया। कमरे को क्षणभर के लिए देखा। आंखें मूंद लीं। वह सबकुछ बता देगा। यह भींत सफेद रंग की है। सामने काले रंग का बोर्ड है। इतने पट्ट लगे हुए हैं। पट्ट पर लाल अक्षर भी हैं, काले अक्षर भी हैं, नीले अक्षर भी हैं।

इतने दरवाजे हैं। इतनी खिड़कियां हैं। पूरा का पूरा ब्यौरा बता देता है। यह है क्षिप्रग्रहण। तत्काल ग्रहण कर लेना, एक ही दृष्टि में सारा पकड़ लेना।

मन की क्षमता

हम मन की क्षमताओं से परिचित नहीं हैं। उसमें क्षमता बहुत है। हम बहुत कम जानते हैं। थोड़ा-बहुत जानते हैं, उसमें भी आश्चर्य होता है। यदि हम पूरी क्षमता को जान जाएं, विकसित कर लें, तो न मालूम क्या से क्या हो जाएं। आज मन की कुछेक क्षमताओं को विकसित कर मनुष्य भगवान बन जाते हैं। दुनिया उन्हें भगवान मान लेती है। अच्छा है। भगवान बनना कोई बुरी बात नहीं है। अपने अंदर में बैठे हुए अपने भगवान को प्रकट करना बहुत अच्छी बात है, परंतु दुनिया जल्दी भगवान मान लेती है। मन का थोड़ा-सा कार्य सामने आता है, दुनिया भगवान मान लेती है। पूरी क्षमता को हम जान लें, उसे साध लें, उसे अभिव्यक्त कर लें तब तो न जाने कितने भगवान बन जाएं।

एक विकल्प है चिरग्राही। यह वह क्षमता है, जो तत्काल तो नहीं पकड़ पाती, किंतु धीमे-धीमे लंबे समय से पकड़ती है।

चौथा चरण है अनिःसृतग्राही, निःसृतग्राही। यह एक युगल है।

यह (अनिःसृतग्राही) विचित्र क्षमता है। यह मन का ऐसा अभ्यास है, ऐसा अवधान है, जिसकी हम कल्पना ही नहीं कर सकते। मैं इस विषय को एक कहानी से स्पष्ट करूं।

एक बहुत बड़ा चित्रकार राजा की सभा में आया। संयोगवश उसने रानी के पैर का एक अंगूठा देख लिया। प्राचीन काल में रानियां **असूर्यंपश्या राजदारा** होती थीं। राजदाराओं को सूर्य भी नहीं देख पाता था। आज का समय नहीं था। आज तो सबकुछ अनावृत है। चित्रकार ने अंगूठा देख लिया। उसने रानी का पूरा चित्र बना लिया। चित्र को राजा के सामने प्रस्तुत किया। राजा ने देखा महारानी का चित्र। राजा स्तंभित रह गया, फिर एक बार ध्यान से देखा। जहां रानी के शरीर में तिल है, वहां तिल है। जहां मस है, वहां मस है। शरीर में जहां जो चिह्न हैं, वे सारे चिह्न चित्रगत रानी के शरीर पर हैं। चित्रकार ने सोचा था कि चित्र को देखकर राजा प्रसन्न होगा। पुरस्कार मिलेगा, पर उल्टा हो गया। राजा की भृकुटी तन गई। उसने सोचा–इस चित्रकार का रानी के साथ कोई गुप्त संबंध है, अन्यथा यह यथार्थ चित्र कैसे बना पाता? राजा संदिग्ध हो गया। उसके मन में भ्रम पैदा हो गया। उसने चित्रकार और रानी दोनों को मृत्युदंड दे दिया।

मंत्री ने सोचा, देश का सबसे बड़ा चित्रकार और ऐसा चित्रकार कि देश या राष्ट्र को भाग्य से ही प्राप्त होता है, अभी मारा जाएगा। अनर्थ हो जाएगा। वह राजा के पास गया। बोला–'महाराज! आप क्या कर रहे हैं? ऐसे कुशल चित्रकार की हत्या? उसे मृत्युदंड!' राजा ने कहा–'तुम नहीं जानते। यह दुष्ट है, दुश्चरित्र है, अयोग्य है।' मंत्री ने कहा–'ऐसा नहीं, महाराज!' राजा ने कहा–'कैसी भोली बात कर रहे हो। यदि इसका संबंध रानी के साथ नहीं होता तो यह यथार्थ चित्र कैसे बना पाता? शरीर में कहां कौन-सा चिह्न है, शरीर को देखे बिना कैसे जाना जा सकता है?' मंत्री बोला–'महाराज! इस चित्रकार के पास अद्भुत शक्ति है। यह शरीर के किसी भी अवयव को देखकर पूरा वैसा का वैसा चित्र बना लेता है।' राजा ने परीक्षा ली। चित्रकार उत्तीर्ण हुआ। उसे मृत्युदंड से मुक्त कर दिया।

यह है अनिःसृतग्राही। थोड़ी-सी चीज के आधार पर समूची चीज का विश्लेषण कर देना। एक दूसरी घटना है

रोम के बादशाह ने भारत के राजा के पास सुरमा भेजा और कहलाया कि यह सुरमा बहुत ही मूल्यवान है, शक्तिशाली है। इससे अंधापन दूर होता है। अंधे की आंख में आंजने से वह देखने लग जाता है। बादशाह परीक्षा लेना चाहता था कि वहां कोई बुद्धिमान आदमी है या नहीं। यदि बुद्धिमान नहीं है तो उस देश को सरलता से जीता जा सकता है।

दूत सुरमा लेकर भारत आया। राजा के पास पहुंचा। बादशाह को सारी बात सुनाई। राजा ने सोचा–सुरमा थोड़ा है। किस-किसको दूं? नगर में अंधे बहुत हैं। इतना-सा सुरमा है कि वह केवल दो आंखों को रोशनी दे सकता है, ज्योति दे सकता है। उसे अपने बूढ़े प्रधानमंत्री की स्मृति हो आई। वह बहुत बुद्धिमान और दीर्घदर्शी था। वह अंधा हो गया था, अतः राज्य कार्य से निवृत्त होकर घर पर ही समय बिता रहा था। राजा ने उसे बुला भेजा। प्रधानमंत्री आया। राजा ने कहा–'यह लो सुरमा। आंखों में आंजो। दीखने लगेगा। सुरमा इतना ही है कि दो आंखों में आंजा जाए। ध्यान रखना।'

प्रधानमंत्री ने सुरमा की डिबिया हाथ में ली। एक शलाका सुरमे से भरी और एक आंख आंज ली। कुछ ही क्षणों में आंख में ज्योति आ गई। एक आंख से दीखने लगा। उसने दूसरी शलाका भरी और उसे आंख में आंजने के बजाय जीभ पर रख दी। राजा ने कहा–'अरे, यह क्या किया? तुम काने रह

जाओगे। एक आंख वाले हो जाओगे। लोग तुमको काना कहेंगे। अंधे नहीं तो काने हो जाओगे।'

प्रधानमंत्री ने कहा–'राजन्! काना नहीं रहूंगा। मैं स्वयं सूझता होकर हजारों-हजारों अंधों को आंखें दूंगा, दृष्टि दूंगा।'

प्रधानमंत्री ने जीभ पर लगाए गए सुरमे का विश्लेषण किया। सारी चीजें जान लीं और राजा के देखते-देखते सारा फार्मूला लिखकर राजा को दे दिया। राजा ने देखा। प्रधानमंत्री ने कहा–'राजन्! सुरमे का सारा योग ज्ञात हो गया है। अब मैं यही सुरमा बनाकर हजारों-हजारों अंधों को आंख वाला बना दूंगा। यदि मैं दूसरी शलाका को अपनी दूसरी आंख में लगाता तो मेरी दोनों आंखें देखने लग जातीं, पर मैं ही केवल उससे लाभान्वित होता। अब मैं स्वयं अपनी एक आंख के साथ-साथ हजारों-लाखों आंखों को ज्योति दे सकूंगा।'

मंत्री घर गया। सुरमा बनाया और रोम से आए हुए दूत को एक डिबिया देते हुए कहा–'जाओ, अपने बादशाह से कह देना कि ऐसा सुरमा जितना चाहें, यहां से मंगा लें।'

दूत रोम पहुंचा। बादशाह को सारी बात बताई। बादशाह ने सोचा–'जहां ऐसे बुद्धिमान आदमी बसते हैं, उस देश पर आक्रमण करना पराजित होना है।' यह भी अनिःसृत ग्रहण उदाहरण है। यह एक प्रकार की अद्‌भुत शक्ति है। ये कल्पित बातें नहीं हैं, केवल कल्पनाएं नहीं हैं। ये सारी मन की क्षमताएं हैं।

मैंने मन के अवधान के कुछेक प्रयोग, उसके प्रशिक्षण के कुछेक प्रयोग प्रस्तुत किए। उनके आधार पर हम समझ सकते हैं कि मन की क्षमता को अभ्यास के द्वारा, साधना के द्वारा विकसित किया जा सकता है। मन को पटु बनाया जा सकता है। यह सारा अवधान का विवरण है, ध्यान का विवरण नहीं है। अवधान के द्वारा ही जब मन इतना पटु बन जाता है तब ध्यान के द्वारा उसकी क्षमता को कितना विकसित किया जा सकता है, यह स्वयं गम्य है। आप इसकी कल्पना कर सकते हैं, मुझे बताने की आवश्यकता ही नहीं है।

अतः हम सबसे पहले अवधान का ध्यान करें। मन को कहां नियोजित करना है, कैसे नियोजित करना है, इस बात को ठीक से समझ लें, जिससे कि हमारी चेतना में ध्यान करने की योग्यता, क्षमता पैदा हो सके। अवधान के बाद मन की धारणा की बात समझें। ये दोनों बातें जब ठीक समझ में आएंगी तब तीसरे चरण में हमारी चेतना में ध्यान करने की क्षमता जागृत होगी।

5. न करने का अर्थ

एक आदमी बगीचे में गया। उसने देखा लंबे-लंबे पेड़ खड़े हैं। उसने माली से कहा–'पेड़ बहुत लंबे हो गए।' माली ने कहा–'बाबूजी! पेड़ों के और काम ही क्या है?'

सबसे पहले काम की बात हमारे ध्यान में आती है। पेड़ भी निकम्मे नहीं रहते। कोई भी पदार्थ निकम्मा नहीं रहता। वस्तु का लक्षण ही है अर्थक्रियाकारित्व। वस्तु वह है, जिसमें क्रिया चलती रहती है। जो कुछ भी नहीं करता, वह सत् नहीं होता, पदार्थ नहीं होता। पदार्थ यानी कुछ करने वाला। करना पदार्थ के साथ जुड़ा हुआ है।

हम इस बात को जानते हैं और मानते भी हैं कि व्यक्ति को कुछ न कुछ करना चाहिए। पदार्थ भी कुछ न कुछ करता ही है। चेतन या अचेतन दोनों में कुछ न कुछ क्रिया होती रहती है। जो व्यक्ति कुछ करता है, उसे हम पुरुषार्थी मानते हैं, कर्मठ मानते हैं, कर्मण्य मानते हैं। जो व्यक्ति कुछ नहीं करता, उसे आलसी मानते हैं, निठल्ला मानते हैं, प्रमादी और अकर्मण्य मानते हैं। सारा बल इस बात पर दिया गया है कि मनुष्य को कुछ न कुछ करते रहना चाहिए। जो करता है, उसे आनंद का अनुभव होता है कि मैं कुछ करता हूं और कभी-कभी गर्व का अनुभव होता है। जो कुछ नहीं करता उसे हीनभावना का अनुभव होता है कि मैं कुछ नहीं करता। दूसरे लोग भी उसे कोसते हैं–यह निठल्ला है, कुछ भी नहीं करता। निठल्ले के लिए दुनिया में कोई स्थान नहीं है। निरंतर कुछ न कुछ करते रहना चाहिए।

वर्तमान का अर्थशास्त्र भी यही बतलाता है कि निकम्मे मत रहो। व्यवसाय या काम हो तो वह करो और यदि कोई काम न हो तो गढ़ा खोदो, उसे पाटो, फिर गढ़ा खोदो, उसे भरो, निकम्मे मत रहो। कुछ न कुछ करते रहो। इस प्रकार करने पर इतना बल दिया गया कि न करने का मूल्य हमारी दृष्टि से

ओझल हो गया। न करने का भी अपना कोई मूल्य है, इस बात को हम आज स्वीकार नहीं कर रहे हैं। यह युग इतना प्रवृत्ति-बहुल है कि आज निवृत्ति की बात समझ में भी नहीं आती। निवृत्ति को इतना नकारा गया है कि मानो उसका कोई मूल्य नहीं है। उसे मूल्यहीन बना डाला। प्रवृत्ति का यह घर्षण चिनगारियां पैदा कर रहा है। प्रवृत्ति टकराव पैदा करती है, संघर्ष पैदा करती है। वर्तमान के संघर्ष का सबसे बड़ा कारण है प्रवृत्ति को एकाधिकार देना। वर्तमान की अशांति का कारण है क्रिया को ही मूल्य देना, अक्रिया के मूल्य का अनुभव न करना। 'न करने' का जो वास्तविक मूल्य है, उसे अस्वीकृत कर देना। यह आज की सबसे बड़ी समस्या है।

आज मैं उल्टी बात कहने जा रहा हूं। प्रवृत्ति-बहुल युग में मुझे प्रवृत्ति का समर्थन करना चाहिए था, किंतु मैं वैसा नहीं करूंगा। प्रवृत्ति के विरोध में कुछ कहना, सुनने वालों को अच्छा नहीं लगता, किंतु जो सत्य है, उसे छिपाना भी नहीं चाहिए। सत्य-सत्य है। उसकी अस्वीकृति से बहुत सारी समस्याएं उत्पन्न होती हैं और वे मनुष्य को आक्रांत कर देती हैं। सचाई यह है कि या तो प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन हो या फिर निवृत्ति का यथार्थ मूल्यांकन किया जाए तो संभव है बहुत सारी समस्याएं स्वयं समाप्त हो जाए।

मूल्य निवृत्ति का

निवृत्ति का मूल्य प्रवृत्ति से कम नहीं है। 'न करने' का मूल्य करने से कम नहीं है। यदि यह बात समझ में आ जाए तो करना भी बहुत अर्थपूर्ण हो सकता है। कर्म के साथ जो दोष आते हैं, उनमें कमी आ सकती है। गीता में बहुत सुंदर कहा है–'प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ दोष आता है। ऐसी कोई भी प्रवृत्ति नहीं है, जिसके साथ दोष नहीं। जैसे ईंधन से जलने वाली अग्नि के साथ धुआं होना अनिवार्य है, वैसे ही प्रवृत्ति के साथ दोष अनिवार्य है।' **सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः**–आरंभ मात्र दोष से आवृत है, जैसे अग्नि धुएं से। वह अनुभव वास्तविक है, सत्य तक पहुंचा हुआ है। प्रवृत्ति के साथ आने वाला दोष तभी समाप्त हो सकता है, जबकि उसके साथ निवृत्ति का संतुलन हो। प्रवृत्ति के साथ-साथ निवृत्ति चलती रहे। अन्यथा प्रवृत्ति के दोष इतने बढ़ जाते हैं कि वे मनुष्य को ही लील जाते हैं। इसलिए हम निवृत्ति का मूल्य समझें, अक्रिया का महत्त्व समझें और 'न करने' के जो महत्त्वपूर्ण परिणाम हैं, उनका अनुभव करें।

प्रवृत्ति का सबसे पहला साधन है शरीर। शरीर की प्रवृत्तियों की मैंने चर्चा बहुत की है। आज ठीक उससे उल्टी चर्चा मुझे करनी है। प्रवृत्ति से मुक्ति की चर्चा करनी है।

आप कायोत्सर्ग करें, काया का विसर्जन करें, शरीर को त्याग दें, जीते हुए भी मृतवत् अनुभव करें और शरीर को बिल्कुल निष्क्रिय, निश्चेष्ट और प्रवृत्तिशून्य बनाएं। यह है कायगुप्ति, कायोत्सर्ग। बहुत बड़ी बात है काया को छोड़ देना। मरने के बाद हर आदमी शरीर छोड़ देता है या वह छूट जाता है, किंतु जीते-जी शरीर को छोड़ देना बहुत बड़ी साधना है। जब काया के उत्सर्ग की बात सामने आई तब गौतम के मन में भी प्रश्न खड़ा हुआ। उन्होंने भगवान से पूछा–**कायगुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ** ?–भगवन्! कायगुप्ति का परिणाम क्या है?' भगवान ने उत्तर देते हुए कहा कि **कायगुत्तयाए णं जीवे संवरं जणयइ**–कायगुप्ति के द्वारा संवर होता है।

आश्रव और संवर

दो शब्द हैं–आश्रव और संवर। आश्रव वह है, जिसके द्वारा दोष हमारे भीतर प्रवेश करते हैं। हमारे भीतर कोई दोष नहीं है। घर साफ-सुथरा है। उसमें कोई गंदगी नहीं है। गंदगी या धूल आ रही है दरवाजों से तथा इन खिड़कियों से। जहां भी छोटा-सा छेद हुआ, उसमें धूल घुस जाती है। आंधी चल रही है, उसे रोका नहीं जा सकता। कोई रोक भी नहीं सकता। ऐसा कोई उपाय भी नहीं है कि आंधी न चले, हवा न चले, तूफान न आए, किंतु ऐसी व्यवस्था है, ऐसा उपाय है कि हम धूल को भीतर आने से रोक सकते हैं। यदि हम दरवाजों-खिड़कियों को बंद कर देते हैं तो धूल अंदर नहीं आ सकती। वह बाहर ही रह जाती है। हमारी चेतना में कोई गंदगी नहीं है। वह शुद्ध है, निर्मल है, स्वच्छ है, किंतु जैसे हर मकान के साथ दरवाजे होते हैं, खिड़कियां होती हैं, वैसे ही चेतना भी इससे मुक्त नहीं है। उसके साथ भी कुछ दरवाजे जुड़े हुए हैं, कुछ खिड़कियां जुड़ी हुई हैं। उनको हम आश्रव कहते हैं। आश्रव अर्थात् छिद्र। इसके द्वारा बाहर से तत्त्व आते हैं और हम उनसे भर जाते हैं। वे विजातीय तत्त्व हैं, पराए हैं। जो पराया होता है, वह हमेशा संकट उत्पन्न करता है, कठिनाई पैदा करता है। जो अपना होता है, उससे कोई खतरा नहीं होता। पराए से खतरे की संभावना बनी रहती है। उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

हम ऐसा उपाय करें कि आश्रव न रहे। ये खिड़कियां खुली न रहें, ये दरवाजे खुले न रहें, ये नाले खुले न रहें, ये छेद खुले न रहें। ये सारे गुप्त हो

जाएं, सुरक्षित हो जाएं। संस्कृत में गुपू रक्षणे धातु है। गुप्त का अर्थ है संरक्षण। कायगुप्ति का अर्थ है काया की सुरक्षा। हम काया से इतने सुरक्षित हो गए कि भीतर किसी के लिए अवकाश नहीं है। बाहर से कोई आ नहीं सकता। केवल हम हैं, हमारी चेतना है, इसके सिवाय भीतर कुछ भी नहीं है। इस प्रक्रिया का नाम है संवर। भगवान महावीर ने कहा–'कायगुप्ति करने वाला संवर उत्पन्न करता है। वह आस्रव का अवरोध करता है, संवर हो जाता है।'

ध्यान : शरीर का स्थिरीकरण

एक बहुत ही महत्त्व की बात उन्होंने कही कि जितना बाहर से लिया जाता है उसे लेने का एकमात्र साधन है हमारा शरीर। हमारा शरीर चाहे मानसिक वर्गणाओं को ले, चाहे वचन की वर्गणाओं को ले, चाहे श्वास की वर्गणाओं को ले, जो भी परमाणु-स्कंध हमारे भीतर प्रविष्ट होते हैं, उन सबके लिए प्रवेश-द्वार है आश्रव–हमारा शरीर। शरीर की चंचलता न हो, शरीर की प्रवृत्ति न हो, शरीर की सक्रियता न हो तो भीतर कुछ भी नहीं जा सकता। जितने भी परमाणु शरीर में प्रविष्ट होते हैं, वे सारे के सारे शरीर की चंचलता के कारण प्रविष्ट होते हैं। कायगुप्ति का अर्थ है शारीरिक चंचलता को मिटा देना, समाप्त कर देना। शरीर को इतना स्थिर बना देना कि शरीर स्वयं ध्यान बन जाए। आप यह न मानें कि केवल मन से ही ध्यान होता है। बहुत सारे योग के आचार्यों ने केवल मानसिक क्रिया को ही ध्यान माना है, किंतु जैन आचार्यों का मत इससे भिन्न है। उन्होंने ध्यान के तीन प्रकार बतलाए हैं–कायिक ध्यान, वाचिक ध्यान और मानसिक ध्यान। जैसे स्थिर मन ध्यान होता है, वैसे ही स्थिर काया भी ध्यान होता है। शरीर का स्थिरीकरण भी ध्यान है।

ध्यान का शब्दिक अर्थ होता है चिंतन करना। 'ध्यैङ् चिन्तायाम्' इस धातु से ध्यान शब्द निष्पन्न हुआ है। शब्दों के अर्थ का विस्तार होता है, संकुचन होता है। जब शब्द के अर्थ का विस्तार होता है तब शब्द मूल अर्थ से बंधा हुआ नहीं रहता। यह ध्यान शब्द भी मूल अर्थ 'चिंतन करना' से बंधा हुआ नहीं रहा। इसका अर्थ व्यापक हो गया। इसका अर्थ हो गया स्थिरीकरण, स्थिर करना। शरीर को स्थिर करना, वचन को स्थिर करना, मन को स्थिर करना। मन स्थिर होता है तो मानसिक ध्यान हो जाता है। वचन स्थिर होता है तो वाचिक ध्यान हो जाता है। शरीर स्थिर होता है तो कायिक ध्यान हो जाता है। कायिक ध्यान सब ध्यानों का मूल है। जब तक कायिक ध्यान नहीं होता,

तब तक न वाचिक ध्यान होता है और न मानसिक ध्यान होता है। मानसिक ध्यान तो हो ही नहीं सकता। काया की स्थिरता के बिना श्वास की स्थिरता नहीं हो सकती और श्वास की स्थिरता के बिना मन की स्थिरता नहीं हो सकती। मन को स्थिर करना हो तो श्वास को स्थिर करना होगा और श्वास को स्थिर करना हो तो काया को स्थिर करना होगा। इसलिए ध्यान के आधारभूत तत्त्वों में सबसे बड़ा तत्त्व है काया की स्थिरता, कायोत्सर्ग या कायगुप्ति।

मानसिक ध्यान की क्षमता

मानसिक ध्यान तक पहुंचना बहुत ही कठिन बात है। कायिक ध्यान तक पहुंचना उसकी अपेक्षा सरल है। साधक के लिए पहला मार्ग यह है कि वह कायिक स्थिरता या शिथिलीकरण का अभ्यास करे। जिसने कायिक स्थिरता का अभ्यास कर लिया वह मानसिक स्थिरता तक पहुंचने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। शरीर को जो स्थिर नहीं बना सकता, वह मानसिक ध्यान में नहीं जा सकता। जिस व्यक्ति का शरीर तना हुआ है, जिसका मस्तिष्क तनाव से भरा हुआ है, जिसके ज्ञानतंतु कसे हुए हैं, जिसके मांसपेशियां कठोर हैं, वह मानसिक ध्यान में जा ही नहीं सकता। सबसे पहले शरीर को स्थिर करना होता है। पूरा मस्तिष्क तनाव से मुक्त हो जाए, किसी भी प्रकार का टेंशन न रहे। ज्ञानतंतु बिल्कुल स्थिर हो जाएं, उनमें तनाव न रहे। मांसपेशियां लचीली हो जाएं, ढीली हो जाएं। सख्त मांसपेशियां अवरोध पैदा करती हैं, इसलिए उन्हें लचीली करना बहुत ही आवश्यक है। रीढ़ की हड्डी लचीली हो जाए। उसमें तनाव न रहे। शरीर का हर अवयव तनाव से मुक्त हो जाए, किसी प्रकार की अकड़न न रहे। यह सबसे पहली साधना है। सबसे पहले इस निपुणता को प्राप्त करें कि वे जब चाहें तब शरीर को शिथिल कर सकें। सामान्य साधक के लिए यह बहुत उपयोगी है। मैं मानता हूं कि मानसिक ध्यान की भूमिका तक पहुंचने की क्षमता कुछेक लोगों में आ सकती है। सब उस भूमिका तक नहीं पहुंच सकते। यदि पहुंच सकें तो बहुत अच्छी बात हो सकती है, किंतु यह बहुत कठिन है। शारीरिक स्थिरता, कायिक ध्यान, कायोत्सर्ग या कायगुप्ति की साधना सबके लिए संभव हो सकती है। यदि यह प्राप्त हो जाए तो जीवन की सफलता है।

कुछ लोग समझते हैं कि अभी हम अवधान की भूमिका को ही प्राप्त कर पाए हैं, ध्यान की भूमिका बहुत दूर है। मैं कहना चाहूंगा कि यदि अभ्यास करते-करते हम अवधान की भूमिका तक पहुंचे हैं तो क्या यह ध्यान की ओर

गति नहीं है? क्या यह कम बात है? मन का जो अवधान चारों ओर भटकता था, यदि उसे आप एक विषय पर केन्द्रित करने में सफल हो गए हैं तो उसे कम उपलब्धि मत मानिए। भावना तक पहुंच गए तो और बड़ी बात है। मैं तो यह कहना चाहूंगा कि आप अवधान तक भी शायद न पहुंचे हों, भावना तक भी आप न पहुंचे हों, किंतु आप कायोत्सर्ग की भूमिका तक पहुंच गए हैं, कायिक स्थिरता और शिथिलीकरण की अवस्था तक पहुंच गए हैं तो भी आप ध्यान-साधना की ओर गति कर रहे हैं, बढ़ रहे हैं।

कायोत्सर्ग रामबाण

आज की सबसे बड़ी समस्या है कायिक तनाव, शारीरिक तनाव। आज का युग अतिरिक्त सक्रियता और दौड़-धूप का युग है। शक्ति के खर्च होने का तथा जीवनीशक्ति के नष्ट होने का बहुत बड़ा कारण है अतिरिक्त सक्रियता। अतिरिक्त सक्रियता से श्वास की अधिक तीव्रता होती है और वह शक्ति के अतिरिक्त व्यय का कारण बनती है। यदि आज का आदमी शरीर को स्थिर करना और दीर्घश्वास लेना–दो बातें सीख लेता है तो अनेक कठिनाइयों से बच सकता है। आज के इस प्रवृत्ति-बहुल युग में कायोत्सर्ग या कायगुप्ति रामबाण औषध है। इसके द्वारा बहुत सारी कठिनाइयों से बचा जा सकता है। प्रवृत्ति-बहुलता या अतिव्यस्तता के कारण अनेक प्रकार की मानसिक विकृतियां और शारीरिक बीमारियां पैदा होती हैं। उन बीमारियों से बचाव करने का एकमात्र साधन है काया की स्थिरता, काया का शिथिलीकरण। यह कम उपलब्धि नहीं है। शांत श्वास और शांत शरीर–ये दो महत्त्वपूर्ण साधन हैं साधना के। इसे मैं बहुत बड़ी उपलब्धि मानता हूं। मैंने इसकी चर्चा शारीरिक मूल्य की दृष्टि से की है। इसका आध्यात्मिक मूल्य भी कम नहीं है।

सूत्रकृतांग सूत्र में एक प्रश्न उपस्थित किया गया है कि 'कर्म का क्षय कौन कर सकता है? हमारे जो जमे हुए संस्कार हैं, उन संस्कारों को कौन मिटा सकता है?' इस प्रश्न का समाधान देते हुए कहा गया है–

न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।

निवृत्ति से प्रवृत्ति क्षीण

अज्ञानी आदमी सोचते हैं कि प्रवृत्ति के द्वारा प्रवृत्ति को नष्ट करेंगे। संस्कार के द्वारा संस्कार को नष्ट करेंगे। वे भूल में हैं, वे अज्ञान में हैं, अंधकार

में हैं। वे सचाई को नहीं जानते, वास्तविकता को नहीं जानते। प्रवृत्ति के द्वारा प्रवृत्ति को मिटाया नहीं जा सकता। संस्कार के द्वारा संस्कार को नहीं मिटाया जा सकता। प्रवृत्ति हमेशा रिपीट होती है। प्रवृत्ति हमेशा अनूदित होती है। प्रत्येक प्रवृत्ति संस्कार छोड़ जाती है। वह संस्कार हमें दूसरी प्रवृत्ति करने के लिए प्रेरित करता है। हम दूसरी प्रवृत्ति करते हैं और वह प्रवृत्ति अपना संस्कार छोड़ जाती है। वह संस्कार हमें तीसरी प्रवृत्ति करने के लिए प्रेरित करता है। यह चक्र चलता रहता है। इसका कहीं अंत नहीं आता।

प्रवृत्ति के द्वारा प्रवृत्ति के चक्रव्यूह को नहीं तोड़ा जा सकता। यह बहुत प्रलंब शृंखला है। उसका कभी पार नहीं पाया जा सकता। तब प्रश्न होता है कि इसे कैसे तोड़ा जा सकता है? इन संस्कारों को कैसे समाप्त किया जा सकता है? जो संस्कार हमें प्रवृत्ति में लगाए रखते हैं, एक के बाद एक नया संस्कार निर्मित होता है और वह विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रेरक बनता है, उसे कैसे तोड़ा जा सकता है? उत्तर में कहा गया–**अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा**–जो ज्ञानी हैं, सचाई को समझते हैं, अंधकार को चीरकर प्रकाश में आ गए हैं, जिन्हें वास्तविकता का बोध है, वे जानते हैं कि अकर्म के द्वारा कर्म को क्षीण किया जा सकता है। अकर्म यानी निवृत्ति के द्वारा प्रवृत्ति को समाप्त किया जा सकता है।

प्रवृत्ति नहीं की, पुराना संस्कार उभरा, किंतु उसे दोहराया नहीं, संस्कार शिथिल हो गया, फिर उभरा, दोहराया नहीं तो और शिथिल हो गया। संस्कार उभरता है और यदि उसे दोहराया नहीं जाता तो वह टूट जाता है, नष्ट हो जाता है।

अतिथि आया। उसे सत्कार मिला। वह फिर आया और फिर उसे सत्कार मिला तो वह फिर आएगा। वह सोचता है कि अच्छा है, आतिथ्य मिलता है और सत्कार भी मिलता है। वह आता रहता है।

अतिथि आया। उसे सत्कार नहीं मिला। उसकी उपेक्षा हुई। कोई ढीठ होता है तो दूसरी बार आ जाता है, फिर उपेक्षा हुई तो वह तीसरी बार नहीं आता। वह सोचता है कि जहां तिरस्कार है, वहां क्यों जाएं? वह नहीं आता।

यही क्रम है संस्कार का। संस्कार उभरता है और यदि उसे वहां स्थान मिल जाता है तो वह जमने लग जाता है, फिर वह अतिथि रहना नहीं चाहता, घर का सदस्य ही बन जाता है, फिर उसे वहां से हटाना कठिन हो जाता है। यदि उभरने वाले संस्कार को स्थान नहीं मिलता, उपेक्षा की जाती है, उसे दोहराया नहीं जाता, उसका तिरस्कार होता है तो वह धीरे-धीरे क्षीण हो जाता है। एक बार कटु अनुभव होता है तिरस्कार का, दूसरी और तीसरी बार भी यदि यही

अनुभव होता है, वह संस्कार फिर नहीं उभरना चाहता, वह क्षीण हो जाता है, नष्ट हो जाता है। सत्कार से वह उभरता है, बार-बार आता है और तिरस्कार से वह क्षीण होता है, नष्ट होता है। होते-होते संस्कार मिट जाता है। अब वह न घर का सदस्य ही रह पाता है और न अतिथि बनकर ही कभी घर का द्वार देखता है।

इसीलिए कहा गया कि **अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा**–जो आदमी गंभीर होते हैं, जिनमें धृति है, धैर्य है, जो घटनाओं से घबराते नहीं, कभी विचलित नहीं होते, जो घटित होता है, उसे जान लेते हैं, देख लेते हैं, पर कभी विचलित नहीं होते, वे अकर्म के द्वारा अप्रवृत्ति के द्वारा कर्म को क्षीण कर देते हैं। उस संस्कार को समाप्त कर देते हैं, विलीन कर देते हैं।

प्रवृत्ति और परिणाम

अकर्म से कर्म को क्षीण करने की बात, निवृत्ति से प्रवृत्ति को क्षीण करने की बात या निवृत्ति से प्रवृत्ति के दोषों को क्षीण करने की बात आज हमारी समझ से परे हो गई है। आज 'करो, करो, करो' की रटन लगाई जा रही है। इसके परिणामस्वरूप शारीरिक थकान, स्नायविक थकान और मानसिक थकान से आदमी ग्रस्त हो गया। इन सारी थकानों से निकलता है चिड़चिड़ापन, अकुलाहट, आकुलता, व्याकुलता और क्षोभ। इसका परिणाम होता है कहीं लड़ाई, कहीं युद्ध, कहीं संघर्ष, कहीं कुछ और कहीं कुछ। यह अप्रिय परिणाम सबको भुगतना पड़ता है। इतना होने पर भी इस ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। क्यों?

उद्योगपति और राजनेता प्रगति की रट लगाते-लगाते नहीं अघाते। वे निरंतर प्रगति की बात करते हैं। प्रगति के लिए प्रवृत्ति की अनिवार्यता है। भौतिक प्रगति के लिए, पदार्थ की प्रगति के लिए चाहिए निरंतर श्रम, कठोर श्रम और निरंतर प्रवृत्ति। प्रगति के लिए प्रवृत्ति अनिवार्य है। यह सच है, किंतु हम इसके परिणामों को देखें। परिणामों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि इस निरंकुश औद्योगिक और भौतिक प्रगति ने मनुष्य को दूसरी दिशा में ढकेल दिया है। मनुष्य भटक गया है। परिणाम सुखद नहीं आया है। मनुष्य स्वयं अपनी ही प्रवृत्ति का ग्रास बनता जा रहा है, आज यदि राजनेता और उद्योगपति अपने-अपने स्वार्थों को गौण कर सकें और यह तथ्य समझ सकें कि प्रवृत्ति की सीमा होनी चाहिए और साथ-साथ निवृत्ति का मूल्यांकन होना चाहिए तो मैं मानता हूं कि मनुष्य की चेतना सही दिशा में प्रवाहित होने लगेगी, स्वस्थ रहेगी और सही दिशा में विकसित होगी।

पदार्थ और चेतना का संतुलन

आज का संघर्ष चेतना और पदार्थ का संघर्ष है। आज पदार्थ प्रमुख होता जा रहा है, चेतना उसके आवरण में छिपती जा रही है, जबकि होना यह चाहिए था कि चेतना विकसित रहे और पदार्थ उसका अनुगामी रहे। यदि यह नहीं होता है तो कम-से-कम दोनों का संतुलन अवश्य ही बना रहना चाहिए, किंतु आज उल्टा हो रहा है। उसके दुःखद परिणाम भी आज विश्व भोग ही रहा है।

इसलिए हम कायगुप्ति के मूल्य को समझें। उसका बहुत बड़ा मूल्य है। साधना का भी बहुत बड़ा मूल्य है।

मूल्यांकन निवृत्ति का

लोग शिविर में आते हैं, दस दिन के लिए, बीस दिन के लिए और अधिक लंबा हो तो तीस दिन के लिए। उनको लगता होगा कि निकम्मे बैठे हैं। कोई काम नहीं करना पड़ता। शिविर निठल्लापन सिखाता है, यह अनुभव होता होगा। जो बहुत काम करने वाले लोग हैं, प्रवृत्ति में अतिरिक्त विश्वास करने वाले लोग हैं, उनको तो लगता होगा कि शिविर में कोई काम नहीं है। इससे निठल्ला समाज बनेगा। मैं समझता हूं कि यह चिंतन यथार्थ नहीं है। ऐसा चिंतन नहीं होना चाहिए। प्रवृत्तिमय जीवन तो हम बिता ही रहे हैं, पर निवृत्ति को भी हम समझें, निवृत्ति का मूल्यांकन करें और प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति का संतुलन स्थापित करें, यह आवश्यक है। इस दिशा में हमारी गति हो तो शिविर की बहुत बड़ी उपयोगिता है। यदि शिविर में अकर्म का वास्तविक अभ्यास कर सकें और उसकी यथार्थता का मूल्यांकन कर सकें तो मैं इसकी बहुत बड़ी सार्थकता मानता हूं, व्यर्थता का अनुभव नहीं करता।

हमारे जीवन का विकास अकर्म के क्षणों में होता है। जो आदमी निरंतर व्यस्त रहता है, वह ज्ञान की बड़ी उपलब्धि नहीं कर सकता। यद्यपि शारीरिक दृष्टि से प्रवृत्ति की यह व्यवस्था है कि दिन में जागो तो रात को सोओ। जितना काम करो, उतना विश्राम भी करो। आदमी इन नियमों को भी तोड़ता जा रहा है। जो सोने का समय है, उसका भी अतिक्रमण करता जा रहा है। पुराने जमाने में इस प्रकार के अतिक्रमण करने वाले को निशाचर कहा जाता था। जो रात में काम करता है, रात में घूमता है, चलता-फिरता है और रात में खाता है, उसे निशाचर कहा जाता है। निशाचर यानी राक्षस। इसका परिभ्रमण रात में ही होता है। आज का आदमी भी निशाचर बन गया है। वह रात में खाता-पीता है,

रात में काम करता है, रात में ही आता-जाता है। जीने का सारा क्रम ही बदल गया है, किंतु शारीरिक व्यवस्था की दृष्टि से, स्नायविक व्यवस्था की दृष्टि से और अपेक्षित विश्राम की दृष्टि से और निवृत्ति से होने वाली प्रवृत्ति की समीचीनता की दृष्टि से विचार किया जाए तो हम इसे अस्वीकार नहीं करेंगे कि प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति का संतुलन होना चाहिए, कर्म के साथ अकर्म का संतुलन होना चाहिए। कर्म इतना नहीं होना चाहिए कि जिससे अकर्म लुप्त हो जाए तथा कर्म का दोष इतना हावी हो जाए कि वह मानवीय चेतना को आवृत कर दे, ढांक दे।

निष्क्रियता उपलब्धि है

आचारागं-सूत्र में कहा गया है कि **अकम्मे जाणइ**–जो अकर्म होता है वह जानता-देखता है। आपने पढ़ा होगा कि वैज्ञानिकों को बड़ी उपलब्धियां उन क्षणों में हुई हैं, जबकि वे निश्चिंत और निष्क्रिय बैठे थे। काम करते-करते बहुत कम लोगों को बड़ी उपलब्धियां मिली हैं। निष्क्रियता का अर्थ है बाहर से निकम्मा और भीतर से सक्रिय। निष्क्रियता का अर्थ निठल्लापन नहीं है। एक आदमी बाहर से सक्रिय और भीतर से निष्क्रिय होता है। एक आदमी बाहर से निष्क्रिय और भीतर से सक्रिय होता है। हम चेतना-जगत में सक्रिय और बाह्य जगत में निष्क्रिय रहने वाले आदमी को निठल्ला मान लेते हैं, यह बहुत बड़ी भूल है। निठल्ला वह होता है, जो बाहर से भी निष्क्रिय और भीतर से भी निष्क्रिय है। वह मूर्च्छा में है, अज्ञान में है, प्रमाद में है। वह निकम्मा है, निठल्ला है, किंतु जो व्यक्ति बाहर से निष्क्रिय होकर बैठा है और भीतर की लौ जल रही है, भीतर में आग जल रही है, चेतना का प्रज्वलन हो रहा है, वह निकम्मा और निठल्ला नहीं है, किंतु वह सक्रिय है और बहुत बड़ी शक्ति को जागृत कर रहा है। यह शक्ति पदार्थ-जगत में भी बहुत उपयोगी है। गीता में कहा गया है–

कर्मण्यकर्म यः पश्येत्, अकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु, स युक्तः, कृत्स्नकर्मकृत्॥

जो कर्म में अकर्म को देखता है और अकर्म में कर्म को देखता है, वह युक्त होता है, संपूर्ण कर्मों को करने वाला होता है। अकर्म में कर्म को देखने की बात हमने भुला दी। अकर्म में भी बहुत बड़ा कर्म होता है। अकर्म से जो कर्म फलित होता है, वह वास्तव में बहुत निर्दोष कर्म होता है। कर्म से जो कर्म

फलित होता है, उसके साथ बहुत सारे दोष आते हैं। अकर्म के इस महत्त्व को हम समझें। काया की गुप्ति, काया का शिथिलीकरण, काया का विसर्जन इसे हम समझें। प्रयोग के साथ उसकी और भी चर्चा की जा सकती है कि किस प्रकार सिर से पैर तक प्रत्येक अवयव को आप स्थिर करें और इतना स्थिर करें कि उसमें चंचलता न रहे, प्रकंपन न रहे। समूचा शरीर स्थिर हो जाए। स्थिरता के लिए यदि एक बार तनाव भी पैदा करना पड़े तो आप करें। इसमें शिथिलन बहुत जल्दी प्राप्त हो सकता है।

प्रक्रिया : शिथिलीकरण की

आप भूमि पर लेटकर पैर फैला दें। हाथ ऊपर ले जाएं, फिर हाथ-पैरों को जितना तान सकें, उतना तान लें। एक बार इतना तनाव पैदा कर दें कि वह चरम स्थिति तक पहुंच जाए। तनाव को छोड़ दें, पूरे शिथिल हो जाएं। शिथिल होने की यह एक प्रक्रिया है।

शिथिलीकरण की यह दूसरी प्रक्रिया है–पैर से लेकर सिर तक। एक-एक अवयव पर संकल्प करते चले जाएं कि वह अवयव शिथिल हो रहा है, वह अवयव शिथिल हो रहा है, फिर सिर से पैर तक उसे दोहराएं। इस प्रकार केवल दो-चार मिनट शिथिलीकरण के संकल्प में लगाएं। शरीर शिथिल हो जाएगा। यह नहीं होता कि लेटने मात्र से शरीर शिथिल हो जाए। संकल्प करना होता है, सजेशन्स देने होते हैं। यह शिथिलीकरण की दूसरी विधि है, प्रक्रिया है। साधना की दृष्टि से शिथिलीकरण की प्रक्रिया बहुत अपेक्षित है। इसका बहुत बड़ा मूल्य है और मैं चाहता हूं कि प्रत्येक साधक इस मूल्य का अनुभव करे।

6. न बोलने का मूल्य

हम बोलने से परिचित हैं। बोलने का क्या मूल्य है, इसे भलीभांति जानते हैं। हमारा सारा व्यवहार बोलने से चलता है, किंतु न बोलने का भी अपना मूल्य है। जितना बोलने का मूल्य है, उतना ही न बोलने का मूल्य है और एक अवस्था में शायद बोलने की अपेक्षा न बोलने का मूल्य अधिक है। उस मूल्य को हमें समझना है। जो प्राणी विकसित होते हैं, उन्हें बोलने की अपेक्षा नहीं होती। देवताओं के पर्याप्तियां पांच होती हैं। उनके भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति एक ही होती है, दो नहीं होती। सामान्य मनुष्य में छह पर्याप्तियां होती हैं, किंतु देवताओं में पांच ही होती हैं। माना जाता है कि चक्रवर्ती में पांच ही पर्याप्तियां होती हैं। जो मन से अपनी बात कह सकता है, उसे बोलने की जरूरत नहीं होती। बोलने की जरूरत उसे होती है या तब होती है जब हम अपनी बात मन से नहीं कह सकते। जब व्यक्ति मन से कही हुई बात नहीं समझ सकता तब हमें बोलकर बात कहनी होती है, किंतु जब मन से बात हो सकती है तब भाषा व्यर्थ हो जाती है। उसकी कोई सार्थकता नहीं होती। बोलने की कोई अपेक्षा नहीं होती।

क्यों बोलते हैं तीर्थंकर?

मनुष्य जैसे-जैसे ज्ञान की भूमिका में आगे बढ़ता है, उच्चज्ञानी होता है, वैसे-वैसे बोलने की अपेक्षा कम हो जाती है। तभी तो यह प्रश्न उठता है कि तीर्थंकर क्यों बोलते हैं? केवली क्यों बोलते हैं? जब वे कृतकृत्य हो गए, जब उनका सारा कार्य संपन्न हो गया, सबकुछ सिद्ध हो गया, उन्हें बोलने की जरूरत क्या है? वे क्यों बोलते हैं? वे बातचीत क्यों करते हैं? वे धर्मकथा क्यों करते हैं? वे उपदेश क्यों देते हैं? प्राचीन व्याख्याकारों ने इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा कि तीर्थंकर या केवली कृतकृत्य हैं। उन्हें बोलने की कोई जरूरत नहीं है, किंतु तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति का उदय है, इसलिए वे

बोलते हैं। उन्होंने अपने ढ़ंग से ठीक सोचा होगा और समाधान की यह भाषा प्रस्तुत की होगी। इसका दूसरा भी समाधान हो सकता है। वह यह है कि ज्ञानी मनुष्य को भी अज्ञानी मनुष्य के लिए बोलना पड़ता है। जब व्यक्ति को परम ज्ञान उपलब्ध होता है तो उसके मन में एक करुणा जागती है कि मैंने जो जाना है, मैंने जो देखा है, मैंने जो अनुभव किया है, उसे दूसरों को भी बताऊं। उसके मन में परम करुणा, परम अनुकंपा, परम सौहार्द और मैत्री की भावना जागृत होती है। उस भावना से वे उस मनुष्य को कुछ बताना चाहते हैं, जो नहीं जानता, जिसने उस परम रस का आस्वाद ही नहीं किया है, जिसने परम ज्ञान को प्राप्त नहीं किया है। वे एक इशारा करना चाहते हैं, एक इंगित करना चाहते हैं और कुछ देना चाहते हैं, इसीलिए उनकी करुणा फूट पड़ती है और वे बोलते हैं।

यदि दो केवलज्ञानी मिल जाएं तो उन्हें बोलने की कोई जरूरत नहीं होती। भाषा का प्रयोग नहीं होता। वहां आत्मा से आत्मा की बात होगी। वहां भाषा व्यर्थ है। उसका कोई उपयोग नहीं है। दो विशिष्ट ज्ञानी मिलेंगे तो बातचीत की कोई जरूरत नहीं होगी। बातचीत की जरूरत होगी दो अज्ञानी मनुष्यों को। एक ज्ञानी और एक अज्ञानी होगा तो बातचीत की थोड़ी जरूरत होगी। दो ज्ञानी मिलेंगे तो बातचीत की जरूरत समाप्त हो जाएगी। कोई बोलेगा नहीं।

एक घटना है। फरीद यात्रा कर रहा था। उसके साथ काफी शिष्य थे। जब वह काशी के पास से गुजर रहा था तब शिष्यों ने कहा कि बहुत सुंदर अवसर है। पास में ही कबीर का आश्रम है। वहां चलें। दो दिन विश्राम करें। विश्राम भी होगा और दो ज्ञानी पुरुष मिलेंगे तो बातचीत भी होगी। हमें जानने को मिलेगा, विशेष सुनने को मिलेगा। शिष्यों ने फरीद से अनुरोध किया। फरीद ने अनुरोध स्वीकार कर लिया।

उधर कबीर के शिष्यों को पता चला कि फरीद काशी से गुजर रहा है। साथ में शिष्य भी हैं। उनके मन में भी भावना जागी। उन्होंने कबीर से कहा–फरीद इधर से गुजर रहा है। उसे यहां रोक लें। आप दोनों की बातचीत होगी। दो ज्ञानी मिलेंगे। कबीर मिलेगा, फरीद मिलेगा। दोनों ज्ञानी हैं। अच्छा वार्तालाप होगा। हमें सुनने को मिलेगा, जानने को मिलेगा। बहुत भला होगा। कबीर ने कहा–बहुत अच्छा।

कबीर अपने शिष्यों को साथ लेकर चल पड़े। फरीद आ ही रहा था। कबीर और फरीद दोनों गले मिले। कबीर ने फरीद से ठहरने को कहा। फरीद

ने बात मान ली। दोनों आए। आश्रम में ठहर गए। आश्रम कबीर का है। वहां कबीर भी है और फरीद भी है। दोनों के शिष्य भी हैं। दोनों के शिष्यों के मन में बहुत उत्कंठा है। एक ओर फरीद और उसके शिष्य बैठे हैं। दूसरी ओर कबीर और उसके शिष्य बैठे हैं। सभी शिष्य दोनों की बात सुनने के लिए उत्सुक हैं। शिष्य सोच रहे हैं कि कौन पहले बोलेगा–कबीर या फरीद? सभी प्रतीक्षा में बैठे हैं। एक घंटा बीता। दो घंटे बीते। सभी मौन हैं। दोनों ज्ञानी भी मौन हैं। फरीद कबीर की ओर झांक रहा है और कबीर फरीद की ओर झांक रहा है। दोनों की आंखें मिल रही हैं, पर वाणी का ताला नहीं खुल रहा है। मौन, मौन और सर्वत्र मौन। कोई नहीं बोल रहा है। न कबीर बोल रहा है और न फरीद बोल रहा है। शिष्य प्रतीक्षा करते-करते थक गए। ऐसे तो समय जल्दी बीत जाता है, किंतु प्रतीक्षा के क्षण लंबे होते हैं। आदमी प्रतीक्षा करते-करते थक जाता है। प्रतीक्षा के क्षण वैसे ही लंबे होते हैं, फिर मन में गहरी आकांक्षा और उत्कंठा होती है, तो वे क्षण और अधिक लंबे लगने लगते हैं। एक-एक क्षण एक-एक घंटा जितना लंबा लगता है।

सभी शिष्य प्रतीक्षा करते-करते थक गए, सोचा–क्या फरीद गूंगा है? अरे क्या कबीर भी गूंगा हो गया? दोनों मौन हैं। कोई नहीं बोल रहा है। आखिर हो क्या गया है? कुछ समय और बीता। कबीर उठ खड़े हुए। फरीद भी उठे। दोनों वहां से चले गए। अपने-अपने काम में लग गए। भोजन का समय आया। भोजन किया। विश्राम किया। मध्याह्न का समय हुआ। दोनों फिर मिले। दोनों बैठे हैं एक-दूसरे को देख रहे हैं। दोनों की आंखें मिल रही हैं। दोनों मौन हैं। शिष्य प्रतीक्षा में बैठे हैं। पूरा दिन बीत गया। सूर्यास्त हो गया। सभा विसर्जित हो गई। शिष्यों ने सोचा शायद रात को बोलेंगे। रात में मिले, फिर मौन-ही-मौन। शिष्य उकता गए। दिन उगा, फिर दोनों मिले। मौन। कोई बातचीत नहीं। रात में मिले। वही मौन। शिष्यों का मन ऊब गया। सब सो गए।

तीसरा दिन उगा। फरीद प्रस्थान के लिए तैयार हुआ। कबीर पहुंचाने गया। दोनों मौन चल रहे थे। आखिर एक सीमा आई। दोनों फिर गले मिले। फरीद आगे चला गया। कबीर अपने आश्रम की ओर लौट आया। आश्रम पहुंचते ही कबीर के शिष्यों ने कहा कि यह क्या, आपने हमको धोखे में क्यों रखा? आपको नहीं बोलना था तो पहले ही बता देते। हम इतनी प्रतीक्षा नहीं करते। हमने अड़तालीस घंटे प्रतीक्षा में बिताए। हमारी कितनी उत्कंठा थी? कितनी आकांक्षा

थी? कितनी भावना थी? हम सोचते थे कि दो ज्ञानी मिलेंगे। एक ओर फरीद होगा, दूसरी ओर कबीर। दोनों की बातें होंगी। हम सुनेंगे। ज्ञान बढ़ेगा।

कबीर ने कहा–किससे बात करता? किससे बोलता? सामने फरीद बैठा था। फरीद जैसे ज्ञानी से क्या बात करता। जो मन की बात समझता है, उसके सामने बोलकर क्या मैं अपनी नादानी प्रकट करता? मैं किससे बात करता? तुम ही बताओ। यदि सामने कोई अज्ञानी होता तो मैं अवश्य ही उससे बात करता, पर वह तो महाज्ञानी था। मैं क्या बात करता?

फरीद के शिष्यों ने भी फरीद से यही पूछा तो फरीद ने यही कहा कि मैं किससे बात करता। कबीर जैसा ज्ञानी व्यक्ति सामने था, वह मेरे मन की सारी बातें जानता है, फिर मैं क्या बोलता? जो मैं कहना चाहता, वह सबकुछ जानता था। ऐसी स्थिति में उसके सामने कुछ बोलकर मैं अपनी मूर्खता ही प्रकट करता। बात करने का मेरे सामने कोई प्रश्न ही नहीं था। बात वहां होती है, जहां सामने कोई अज्ञानी होता है। दो अज्ञानी होते हैं तो बात कभी समाप्त ही नहीं होती। बहुत लंबी हो जाती है। दो पंडित मिलते हैं तो शास्त्रार्थ कभी समाप्त नहीं होता। विवाद कभी समाप्त ही नहीं होता। ऐसी परिस्थिति को ध्यान में रखकर ही भगवान महावीर ने कहा था यदि कोई पंडित मिल जाए, कोई अर्थशास्त्री मिल जाए तो उसे पहले समझाओ। यदि समझाने पर भी न माने तो वहां वाग्गुप्ति कर लो। मौन हो जाओ। यह सबसे सुंदर समाधान है।

बादशाह ने बीरबल से पूछा–'मूर्ख से पल्ला पड़े तो क्या करना चाहिए?' बीरबल ने कहा–'जहांपनाह! मौन हो जाना चाहिए।' मौन रहना सबसे अच्छा समाधान है। विवाद को समाप्त करने का इससे बड़ा उपाय नहीं हो सकता।

महावीर ने भी यही कहा कि यदि कोई पंडित मिल जाए, निरा भाषाशास्त्री मिल जाए, केवल तर्क के बल पर ही विवाद को बढ़ाना चाहे, शास्त्रार्थ करना चाहे तो मौन हो जाओ, वाग्गुप्ति कर लो। यही उसका समाधान है। दो ज्ञानी बात नहीं करते। भाषा का प्रयोग वहां होता है, जहां एक बहुत समझने वाला है और दूसरा कम समझने वाला है। जहां दोनों ज्ञानी हैं, बराबर समझने वाले हैं, वहां भाषा का प्रयोग व्यर्थ है।

भाषा प्रयोग : अंतर्ज्ञान में बाधा

मौन के लिए बहुत बड़ा अवकाश है कि हमारा ज्ञान बढ़े। ज्ञान तब बढ़ेगा जब भाषा का व्यापार कम होगा। जितना भाषा का प्रयोग अधिक होगा, हम

अधिक बोलेंगे तो हमारे अंतर्ज्ञान में बाधा आएगी। चंचलता बाधा उत्पन्न करती है। भाषा का पहला काम है–चंचलता उत्पन्न करना। पूज्यपाद ने लिखा है कि **जनेभ्यो वाक् ततः स्पंदः**–जब संपर्क होता है तब बात होती है। अकेले में तो कोई बात नहीं होती। अकेले में बोलने की कोई जरूरत नहीं होती। जब दूसरा कोई होता है, संपर्क होता है, तब बात होती है। बोलने से पहले चंचलता और बोलने के बाद चंचलता। जब हम बोलते हैं तो सबसे पहले मन को चंचल करना पड़ता है। मन को चंचल किए बिना कोई आदमी बोल नहीं सकता, क्योंकि वह जो कुछ कहना चाहता है, पहले वह सोचता है, फिर बोलता है।

बोलना स्वयं चंचलता है। बोलने के बाद, उसका फिर जो चिंतन होता है, वह स्वयं चंचलता उत्पन्न करता है। बोलने से पहले चंचलता, बोलते समय चंचलता और बोलने के बाद भी चंचलता। यह सारा चंचलता का व्यवहार है और व्यवहार अंतर्ज्ञान में बाधा उपस्थित करता है। जो भी अंतर्ज्ञान की साधना करने वाले साधक हुए हैं, उन्होंने कम से कम भाषा का प्रयोग किया है। वे अधिक समय मौन रहे हैं।

भगवान महावीर से पूछा गया–'भगवन्! वचन की गुप्ति अर्थात् मौन के द्वारा जीव क्या प्राप्त करता है?' भगवान ने उत्तर दिया–'वचनगुप्ति से निर्विचारता प्राप्त होती है? 'निव्वियारत्तं' यह प्राकृत भाषा का शब्द है। इसके दो संस्कृत रूपांतरण हो सकते हैं–निर्विचारत्वं या निर्विकारत्वं।

वचनगुप्ति के द्वारा निर्विचारता या निर्विकारता प्राप्त होती है। विकृति अर्थात् परिणति। निर्विकृति अर्थात् स्थिरता, जहां कोई परिणति नहीं है, किंतु स्थिरता है। भाषा से होने वाली विकृति समाप्त हो जाती है।

निर्विचारता

वचनगुप्ति का एक परिणाम है निर्विचारता। हम ज्यादा इसीलिए सोचते हैं कि हम बोलें, दूसरों को कहें या जब बोलने की बात हमारे मन में आती है तब हम सोचते हैं। जब हम मौन कर लेते हैं, तब निर्विचारता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वचनगुप्ति का बहुत बड़ा लाभ है निर्विचारता। नहीं बोलने का एक मूल्य है निर्विचारता। विचार की स्थिति समाप्त हो जाती है।

विवाद-मुक्ति

नहीं बोलने का दूसरा लाभ है विवाद-मुक्ति। विवाद से छुटकारा मिल जाता है। मौन हो जाओ, विवाद अपने आप समाप्त हो जाएंगे। हमेशा विवाद

या लड़ाई होती है बोलने के कारण। एक बोलता है और यदि दूसरा मौन हो जाता है तो लड़ाई समाप्त हो जाती है। **अतृणे पतितो वह्निः, स्वयमेवोपशाम्यति**– आग जल रही है, उसे खाने के लिए घास नहीं मिला, भोजन नहीं मिला, तो वह स्वयं बुझ जाएगी, जलेगी नहीं।

वैसे ही दो व्यक्ति बोलते चले जाते हैं तो लड़ाई की आग भभकती है, बुझती नहीं, शांत नहीं होती। लड़ाई की आग को ईंधन मिलता जाता है, भोजन मिलता जाता है और वह जलती रहती है। एक बोलता है और दूसरा यदि मौन हो जाता है, नहीं बोलता है तो आग को घास नहीं मिलती, वह अपने आप शांत हो जाती है, बुझ जाती है। मौन का दूसरा लाभ है विवाद-मुक्ति।

अहं-मुक्ति

मौन का तीसरा लाभ है अहं-मुक्ति। नहीं बोलने से अहंकार समाप्त हो जाता है। बोलने से अहंकार बढ़ता है। 'मैं अच्छा बोलता हूं'–यह अहं है। 'भाषा पर मेरा प्रभुत्व है'–यह भी अहं है। इनसे अहं को बढ़ावा मिलता है। भाषाओं का जितना ज्ञान होता है, उतना ही अहं बढ़ता है। भगवान महावीर ने इसीलिए कहा कि भाषा हमें त्राण नहीं देती। नाना प्रकार की भाषाएं त्राण नहीं बनतीं। मैं संस्कृत जानता हूं, हिंदी जानता हूं, प्राकृत जानता हूं, अंग्रेजी जानता हूं, फ्रेंच जानता हूं। भाषा बोलने का माध्यम है, विचार को व्यक्त करने का माध्यम है, वह हमारे अहंकार का माध्यम बन जाती है।

स्वामी रामतीर्थ अमेरिका गए। अमेरिका के राष्ट्राध्यक्ष उनसे मिलने आए। उन्होंने आते ही पूछा–'स्वामीजी! आप अपने को बादशाह कहते हैं, यह कैसे? आपके पास तो कुछ भी नहीं है। जो कुछ है, वह थोड़ा ही है, फिर आप बादशाह कैसे हुए, यह समझ में नहीं आता।' रामतीर्थ ने कहा–'मेरे पास कुछ नहीं है, इसीलिए मैं बादशाह हूं। जो गरीब होता है, वह चीजों को बटोरना चाहता है, इकट्ठा करना चाहता है। मैं गरीब नहीं हूं, बादशाह हूं। मुझे किसी की जरूरत नहीं। सारी दुनिया मेरी है। मैं क्या बटोरूं, कहां से बटोरूं और किसको बटोरूं? समूची दुनिया ही मेरी है। सच्चा बादशाह तो मैं हूं, जो कुछ भी नहीं बटोरता। मेरे पास कुछ भी नहीं है, इसीलिए मैं बादशाह हूं।'

सचमुच! बात बहुत ही मर्म की थी। उस मर्म ने राष्ट्राध्यक्ष के हृदय को बींध डाला। संन्यासी को भी संतोष मिला कि एक अकिंचन व्यक्ति की बात काम कर गई। वे भारत लौटे। उन्होंने सोचा कि मैंने जो कुछ कहा, जो कुछ

अनुभव किया, भारत के लोगों को भी बताऊं। भारत में उन्होंने काशी को चुना, क्योंकि काशी पंडितों की नगरी है। पंडित उस बात को अधिक समझ सकेंगे, उसको अधिक मूल्य देंगे। वे काशी पहुंचे। सभा आयोजित हुई। काफी लोग आए। बड़े-बड़े पंडित, दिग्गज विद्वान आए। रामतीर्थ ने संस्मरण सुनाए। संस्मरण सुनने के बाद एक विद्वान उठा और बोला–'महाराज! आप संस्कृत जानते हैं?' रामतीर्थ ने कहा–'मैं संस्कृत नहीं जानता।' पंडित बोला–'तो फिर आप ज्ञान की क्या बात करते हैं? जो संस्कृत नहीं जानता, वह ब्रह्मज्ञान को क्या समझेगा? वह ब्रह्मज्ञान की बात क्या करेगा? कैसे करेगा? उसे अधिकार ही नहीं है कि वह ब्रह्मज्ञान की बात करे।'

भाषा त्राण नहीं

जो ब्रह्मज्ञान आत्मा की निर्मलता, आत्मा की पवित्रता और आत्मा की विशुद्धि से प्रसूत होता है, उसे भाषा में कैद कर लिया, यह कितनी बड़ी विडंबना है। जो संस्कृत जानता है, वही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है। जो संस्कृत नहीं जानता, उसे ब्रह्मज्ञान का अधिकार प्राप्त नहीं होता। अंतर्ज्ञान को, आत्मा से सहज उत्पन्न होने वाले ज्ञान को भाषा में बांधकर हमने अपने अहं को बढ़ाने का अच्छा रास्ता ढूंढ़ लिया, इसीलिए भगवान महावीर ने कहा–**न चित्ता तायए भासा**–नाना प्रकार की भाषा आपको त्राण नहीं दे सकती, दुःखों से नहीं बचा सकती, आत्मिक ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकती। **कओ विज्जाणुसासनं**–यह विद्याओं का अनुशासन, जो सारा का सारा बोलने के माध्यम से और भाषा के माध्यम से होता है, वह भी आपकी सुरक्षा नहीं कर सकता। आपकी अपनी सुरक्षा अपने ज्ञान में है, अपने आप में है। यह ज्ञान बोलने से प्राप्त नहीं होता, किंतु नहीं बोलने से अवश्य ही प्राप्त होता है। उस ज्ञान को स्वयं बोलने की जरूरत नहीं, किसी भाषा की जरूरत नहीं।

दुनिया में अनेक आत्मज्ञानी लोग हुए हैं, अंग्रेजी भाषा जानने वाले भी आत्मज्ञानी हुए हैं, फ्रेंच जानने वाले भी आत्मज्ञानी हुए हैं, हिन्दी जानने वाले भी आत्मज्ञानी हुए हैं, संस्कृत और प्राकृत जानने वाले भी आत्मज्ञानी हुए हैं और ऐसे भी लोग आत्मज्ञानी हुए हैं, जो किसी भी भाषा को पूरी नहीं जानते, पूरी नहीं समझते। ऐसे लोग भी आत्मज्ञानी हुए हैं, जो विचारों को प्रकट करना नहीं जानते, भाषण देना नहीं जानते, अपनी बात पूरी कहना नहीं जानते। आत्मज्ञान का भाषा के साथ कोई संबंध नहीं है। भाषा बाहर से आती

है और आत्मज्ञान का स्रोत भीतर से फूटता है। भाषा बोलने का एक साधनमात्र है, व्यवहार का माध्यम है, उस भाषा को भी अपने अहंकार का साधन बना लिया। मैं समझता हूं कि न बोलने का एक बहुत बड़ा लाभ है अहंमुक्ति। अहंकार से हम मुक्त हो जाते हैं, छूट जाते हैं और जिस माध्यम से हमने अहंकार बढ़ाया, उससे बच जाते हैं।

मैं यह मानता हूं कि सामान्य आदमी को बोलना पड़ता है। बोले बिना उसका व्यवहार नहीं चलता। बोले बिना उसके जीवन की चर्या नहीं चलती। बोलना पड़ता है, यह एक बात है और बोलने को हमने अनिवार्य मान लिया, यह दूसरी बात है। इन दोनों में बहुत बड़ा अंतर है, क्योंकि जब हमने बोलने को प्राथमिकता दे दी, तो हमारी मानसिक क्षमता भी कम हो गई। जो बात मन के द्वारा कही जा सकती थी उसे कहने में हम असमर्थ हो गए। जो मन की शक्ति थी उसमें बहुत बड़ा अंतर आ गया।

विचार-संप्रेषण

आज के पेरासाइकोलोजिस्ट टेलीपैथी का प्रयोग करते हैं। टेलीपैथी का अर्थ है विचार-संप्रेषण। एक आदमी हजार कोस की दूरी पर है। उससे बात करनी है, कैसे हो सकती है? आज तो टेलीफोन और वायरलेस का साधन है। घर बैठा आदमी हजारों कोस की दूरी पर रहने वाले अपने व्यक्तियों से बात कर लेता है। प्राचीन काल में ये साधन नहीं थे, तो वे दूरस्थित व्यक्तियों से बात कैसे करते? वे टेलीपैथी, विचार-संप्रेषण के द्वारा बातचीत कर लेते। प्राचीन काल में टेलीपैथी शब्द नहीं था। यह अंग्रेजी का शब्द है। उस समय प्रचलित शब्द था विचार-संप्रेषण। इसका अर्थ है यहां बैठे-बैठे अपने विचारों को हजारों कोस दूर भेज देना। जैसे एक योगी है। उसका शिष्य पांच हजार मील की दूरी पर है। योगी उसे कुछ बताना चाहता है, उससे बातचीत करना चाहता है। अब वह कैसे बात करे? आधुनिक साधन तो थे नहीं, किंतु उस समय विचार-संप्रेषण की साधना की जाती थी। इस साधना में निष्णात व्यक्ति ध्यान की मुद्रा में बैठता और अपने विचारों की तरंगों को निर्दिष्ट दिशा में संप्रेषित करता। विचार की तरंगें शक्तिशाली होकर वहां पहुंच जातीं, जहां साधक उन्हें पहुंचाना चाहता। वहां के व्यक्ति का दिमाग रिसीवर का काम करता। वह उन तरंगों को पकड़ लेता और उनके माध्यम से जान लेता कि कौन क्या कहना चाहता है, फिर यदि उसे उत्तर देना होता तो वह स्वयं ध्यानस्थ होता, ध्यान

करने बैठता और विचारों की तरंगों को गुरु या इष्ट व्यक्ति के पास पहुंचा देता। विचार जान लिए जाते। यह प्रक्रिया थी बातचीत करने की। यह माध्यम था विचार-संप्रेषण का। इसके लिए मानसिक क्षमता के विकास की जरूरत होती थी। साधक मानसिक क्षमता को बढ़ाने का प्रयत्न करते थे।

ध्वनि : विभिन्न भाषाओं में रूपांतरण

हमने बोलने की बहुत आदत डालकर मानसिक क्षमता को कमजोर किया है। आज मानसिक क्षमता को विकसित करने का कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है। इसके भी दो कारण हैं। एक तो हमने बोलने को प्राथमिकता दे दी। बोलने का कुछ काम पत्राचार से करने लगे। आज तो संचार के इतने साधन विकसित हो चुके हैं कि उसके लिए मानसिक क्षमता की कोई जरूरत ही महसूस नहीं होती। बोलने की जरूरत तब ज्यादा महसूस होती है, जब मानसिक क्षमता से हमारा विश्वास उठ जाता है। यदि हम न बोलकर अपनी मानसिक क्षमता को विकसित करें तो ऐसा भी हो सकता है कि बिना कहे भी बात समझ में आ सकती है।

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः–जिस गुरु की आत्मशक्ति प्रबल होती है, वह मौन बैठता है। शिष्य आते हैं नाना प्रकार के संदेह लेकर। गुरु के पास बैठते हैं। गुरु की सन्निधि प्राप्त करते हैं। उनके सारे संशय नष्ट हो जाते हैं। उनका समाधान हो जाता है। उनको अपने-अपने प्रश्नों का उत्तर प्राप्त हो जाता है, क्योंकि वहां मन की भाषा चल रही है। मन अपना काम करता है, संदेह मिट जाता है। काम समाप्त हो जाता है।

दिगम्बर मानते हैं कि तीर्थंकर बोलते नहीं। श्वेताम्बर मानते हैं कि तीर्थंकर बोलते हैं। मैं शास्त्रीय चर्चा में नहीं जाऊंगा। दिगम्बर कहते हैं कि तीर्थंकर बोलते नहीं। केवल ध्वनि निकलती है। इसमें मुझे वैज्ञानिकता लगती है। बहुत वैज्ञानिक बात है यह। वे बोलते नहीं, किंतु जो कहना चाहते हैं, वह सबकुछ सब तक पहुंच जाता है। यहां कोरी ध्वनि होती है, भाषा नहीं होती, किंतु जितने लोग बैठे होते हैं, वे उस ध्वनि को अपनी-अपनी भाषा के रूप में समझ लेते हैं। श्वेताम्बर मानते हैं कि तीर्थंकर बोलते हैं एक भाषा में। हिन्दी जानने वाले उसे हिन्दी में समझ लेते हैं, संस्कृत जानने वाले संस्कृत में और प्राकृत जानने वाले प्राकृत में समझ लेते हैं। हिन्दी जानने वाले समझते हैं कि वे हिन्दी में बोल रहे हैं। संस्कृत जानने वाले समझते हैं कि वे संस्कृत में बोल रहे

हैं। प्राकृत जानने वाले समझते हैं कि वे प्राकृत में बोल रहे हैं। आदमी जानता है कि वे आदमी की भाषा में बोल रहे हैं और पशु समझते हैं कि वे पशु की भाषा में बोल रहे हैं। उनकी ध्वनि या वाणी को आदमी समझ जाता है, पशु भी समझ जाता है और देवता भी समझ जाता है। यह कैसे होता है? क्या कोई अनुवादक बैठा है वहां? नहीं, कोई अनुवादक नहीं है। यह स्वाभाविक परिणति है। इसे इस रूप में प्रस्तुत किया जाए कि वह ध्वनि है और वह ध्वनि विभिन्न भाषाओं में बदल जाती है और श्रोता अपनी-अपनी भाषा में उसे पकड़ लेते हैं। वक्ता को बोलने की आवश्यकता नहीं होती। वह जो कहना चाहता है, वह ध्वनि के माध्यम से कह देता है। मनोवर्गणा के पुद्गल इतने शक्तिशाली होते हैं कि वे विभिन्न भाषाओं में बदल जाते हैं और अपना काम कर देते हैं।

सिद्धांत अनिर्वचनीयता का

नहीं बोलने का एक और मूल्य मैं प्रस्तुत करूंगा। वह है हमारा अनिर्वचनीयता का सिद्धांत। भारत के लगभग सभी दर्शनों ने इस शब्द का प्रयोग किया है। वेदान्त में कहा गया है कि ब्रह्म अनिर्वचनीय है। उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। बौद्ध दर्शन में अनिर्वचनीयता का बहुत प्रयोग हुआ है। बुद्ध ने पूछा–परलोक क्या है? बुद्ध ने कहा–अनिर्वचनीय, उसे कहा नहीं जा सकता। आत्मा क्या है? पुनर्जन्म है या नहीं? बुद्ध ने कहा–अनिर्वचनीय है, बताया नहीं जा सकता। जितने महत्त्वपूर्ण प्रश्न थे, सबको अनिर्वचनीय कहा। महावीर ने भी कहा–पूर्ण सत्य कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वस्तु अनंतधर्मा है। उसमें अनंत धर्म हैं। अनंत धर्मों को हम कैसे कह सकते हैं?

हम अपनी वाणी के द्वारा एक क्षण में एक धर्म का प्रतिपादन कर सकते हैं, शेष अनंत धर्म दब जाते हैं। उस स्थिति में हम समग्र वस्तु का प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं? इसलिए कह दिया कि वस्तु अवक्तव्य है। समग्र वस्तु को नहीं कहा जा सकता। एक धर्म ही कहा जा सकता है। एक धर्म की ही व्याख्या की जा सकती है। अनंतधर्म अवक्तव्य हैं। अखंड सत्य अवक्तव्य है। संपूर्ण सत्य अवक्तव्य है। यह बहुत अच्छा हुआ। हम भ्रांति से बच गए। हम असत्य से बच गए। अनंतधर्मा वस्तु को जानने वाला भी उसे कह नहीं सकता और जब वह कहता है तब एक भ्रांति पैदा होती है। चाहे कोई केवलज्ञानी कहे, सर्वज्ञ कहे, परमात्मा कहे या कोई भी कहे। वह जानता है पूर्ण, पर जो कुछ कहेगा, वह अपूर्ण ही होगा। वह अपूर्ण बात कहेगा, फिर हम उसे अनेक टुकड़ों में बांट

देंगे। हम एक बात को पकड़ लेंगे और आग्रह शुरू हो जाएगा, फिर यह होगा कि हमने जो पकड़ा है, वह तो सत्य है और तुम जो कह रहे हो, वह असत्य है। इस प्रकार से सत्य और असत्य की छीना-झपटी शुरू हो जाती है। विवाद खड़ा हो जाता है। एक-दूसरे का खंडन-मंडन प्रारंभ हो जाता है। खंडन-मंडन जैसा कुछ है नहीं। विवाद जैसा कुछ है नहीं। कोई भी जो कह रहा है, वह एक अंश को कह रहा है। हम अंश को पूर्ण मान लेते हैं, वहां सचमुच विवाद खड़ा हो जाता है। वाक्-युद्ध शुरू हो जाता है। सैद्धांतिक लड़ाइयां प्रारंभ हो जाती हैं। लड़ाई का एक ही कारण है कि अपूर्ण को कहना नहीं चाहिए था और वह कह दिया गया। यदि आदमी मौन रहता, शब्द भी मौन होता, ज्ञानी भी मौन रहता और यह कह देता कि मैं जानता हूं, पर कह नहीं सकता, तो लड़ाइयां कम होतीं, पर उन ज्ञानी व्यक्तियों ने अनुकंपावश थोड़ा-बहुत कह दिया। पूरा कहा नहीं जा सकता था। थोड़ा कहा, इसीलिए लड़ाइयां प्रारंभ हो गईं। पूरा कहा जाता तो लड़ाइयां नहीं होतीं।

पांच बच्चे हैं। पांच लड्डू हैं। एक-एक लड्डू सबको दे दिया। सबको बराबर मिला। कोई लड़ाई नहीं होगी। बच्चे पांच हैं और लड्डू एक है। आपने उसके पांच टुकड़े कर, एक-एक टुकड़ा दे दिया। लड़ाई शुरू हो जाएगी। बच्चे कहने लगेंगे कि इसको अधिक दे दिया, मुझे कम दिया। उसको वह दे दिया, मुझे वह नहीं मिला। जहां मांग ज्यादा है और वस्तु कम, वहां विवाद होता है, लड़ाई होती है।

इसी प्रकार हमारी मांग तो अनंत को जानने की है, संपूर्ण सत्य को जानने की है, अखंड सत्य को जानने की है, हमारी वह मांग पूरी नहीं होती। हमें जानने को मिलता है थोड़ा-सा अंश, अनंत का एक खंड। हम उस अंश को पकड़कर, उस खंड को लेकर, अखंड के लिए लड़ने लग जाते हैं। यह लड़ाई कभी समाप्त नहीं होती। अच्छा तो यह होता कि कोई भी आदमी बोलता ही नहीं, कम से कम सत्य के बारे में कभी जबान नहीं खोलता, केवल व्यवहार की संपूर्ति के लिए बोलता तो लड़ाइयां नहीं होतीं। सत्य के विषय में न बोलना ही असत्य से बचने का अच्छा उपाय है, किंतु ऐसा हो नहीं सका। उन ज्ञानी पुरुषों ने तो अनुकंपा की, दया की कि अज्ञानी लोग पूरा न जान सकें तो कम से कम थोड़ा-बहुत जान लें। यह अनुकंपा भारी पड़ गई। इसने विवाद का रास्ता खोल दिया। आज यह स्थिति पैदा हो गई है कि आदमी सत्य को जाने या न जाने, वह उसके लिए विवाद करने को तैयार है।

नहीं बोलने का एक बहुत बड़ा लाभ है–सत्य की सुरक्षा। नहीं बोलने से सत्य की पूरी सुरक्षा होती है। अवक्तव्य, अनिर्वचनीय, अव्याकृत–ये शब्द सत्य की सुरक्षा करते हैं। एक कहता है अस्ति अर्थात् 'है'। दूसरा कहता है नास्ति अर्थात् नहीं है। दोनों की दो दिशाएं हैं। विवाद की स्थिति आ जाती है। महावीर ने कहा–जो कहता है अस्ति, वह भी सही नहीं है और जो कहता है नास्ति, वह भी सही नहीं है। दोनों गलत हैं। दोनों सही तब हो सकते हैं, जब दोनों अपने-अपने कथन के साथ अपेक्षा जोड़ देते हैं और कहते हैं कि इस अपेक्षा से यह है और इस अपेक्षा से यह नहीं है–स्यादस्ति, स्यान्नास्ति। जब स्यादस्ति कहने से भी काम नहीं चलता और स्यान्नास्ति कहने से भी काम नहीं चलता तब स्याद् अवक्तव्य कहना होता है। यह मानकर चलो कि संपूर्ण सत्य कहा नहीं जा सकता। सत्य की प्रकृति ही ऐसी है, हम जो कहते हैं, वह सत्य का एक अंशमात्र होता है। हम अंशमात्र का कथन करके पूरे सत्य के प्रति शायद अन्याय करते हैं, इस बात को मानकर ही यह निर्देश दिया गया कि पूरा सत्य कहा नहीं जा सकता। यह गूंगे का गुड़ है। वह स्वाद का वर्णन नहीं कर सकता।

मैं समझता हूं कि न बोलना, मौन रहना, सत्य की सुरक्षा का सशक्त और प्रबल साधन है। मैंने मौन के कुछेक मूल्य प्रस्तुत किए हैं। हम इन मूल्यों को समझें। केवल बोलने के मूल्य को ही न समझें, किंतु न बोलने का जो महान मूल्य है, उसे भी समझें और बोलने और न बोलने में संतुलन स्थापित करें। वाक्-समिति को समझें तो साथ-साथ वाक्गुप्ति को भी समझें। दोनों को समझकर ही हम साधना को समझ सकते हैं और अपने आंतरिक ज्ञान को प्रकट करने में सफल हो सकते हैं।

7. शरीर से परिचित हों

साधना की दृष्टि से मस्तिष्क का ज्ञान बहुत आवश्यक है। साधक को यदि मस्तिष्क का ज्ञान नहीं होता है तो वह साधना में यथेष्ट सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

मस्तिष्क के तीन भाग हैं–बृहद् मस्तिष्क, मध्यम मस्तिष्क और लघु मस्तिष्क। इसकी रचना बहुत जटिल है। यह इतने अरबों-खरबों प्रकोष्ठों से बना है, इसकी यंत्र-प्रणाली इतनी जटिल और दुरूह है कि अभी तक इसकी पूरी जानकारी प्राप्त नहीं हुई है। वर्षों से इस पर शोध हो रहा है। हजारों वैज्ञानिक इसमें लगे हुए हैं, किंतु अभी भी इसकी कार्यप्रणाली रहस्य ही बनी हुई है। मनुष्य की सारी वृत्तियों का, सारे संस्कारों का केन्द्र है मस्तिष्क। शरीरशास्त्रियों ने अनेक केन्द्रों को खोज निकाला है। संवेदना का केन्द्र, ज्ञान का केन्द्र, वासना का केन्द्र आदि केन्द्र खोजे जा चुके हैं। इन केन्द्रों की सूक्ष्मता भी ज्ञात हुई है। इनकी चिकित्सा भी होती है। इनमें परिवर्तन भी किया जाता है।

हमारे मस्तिष्क में दो प्रकार के द्रव्य और वर्ण मिलते हैं। एक है धूसर-सा द्रव्य, (हल्का पीला-सा) जो कि बुद्धि का है। जिस व्यक्ति का यह धूसर द्रव्य अच्छा होता है, उसके ज्ञानवाहक तंतु अच्छे होते हैं, उसकी बुद्धि अच्छी होती है। दूसरा है श्वेत रंग का द्रव्य, जो क्रिया का सूचक होता है। श्वेत वर्ण वाले मस्तिष्क के भाग से क्रिया का नियंत्रण होता है और धूसरवर्णीय भाग से बुद्धि का नियंत्रण होता है।

हमारे बृहद् मस्तिष्क से बहुत सारे तार या सूत्र निकले हैं, जो ज्ञानवाहक हैं और गतिवाहक भी। वे बृहद् मस्तिष्क से लघु मस्तिष्क में होते हुए सुषुम्नाशीर्ष में से गुजरते हैं और आगे पृष्ठरज्जु के मध्य में जो सुषुम्ना है, वहां जाते हैं। वहां से समूचे शरीर में फैल जाते हैं। समूचे शरीर में क्रिया होती है। एक दृष्टि से मस्तिष्क समूचे शरीर का नियामक है, नियंत्रणकर्ता है। बृहद् मस्तिष्क, लघु मस्तिष्क और सुषुम्नाशीर्ष–ये तीनों ही शरीर के नियामक तत्त्व हैं।

मध्य सेतु है मस्तिष्क

मस्तिष्क ज्ञानकेन्द्र है। यह चैतन्य का सबसे बड़ा केन्द्र है। सूक्ष्म शरीर का भी मुख्य प्रकाश मस्तिष्क के माध्यम से ही हमारे स्थूल शरीर में उतरता है। एक प्रकार से यह मध्य-सेतु का कार्य करता है। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के मध्य का सेतु है यह। सूक्ष्म शरीर से जो उतरने वाली शक्ति या उतरने वाला चैतन्य है, वह मस्तिष्क के माध्यम से स्थूल शरीर या जागृत मन में उतरता है। अवचेतन मन और चेतन मन के कार्य भी इसके माध्यम से होते हैं, इसलिए मस्तिष्क का ज्ञान साधक के लिए बहुत जरूरी है। यदि हम मस्तिष्क की क्रिया को ठीक से समझ लें तो ज्ञानकेन्द्रों को विकसित किया जा सकता है। इसी आधार पर साधकों ने सहस्रार की परिकल्पना की है। हमारे मस्तिष्क में सहस्रार नाम का चक्र है, चैतन्यकेन्द्र है। हम उसे चाहे चक्र कहें, बुद्धि कहें या और कुछ अन्य कहें, वह ज्ञान का बहुत बड़ा केन्द्र है। उसे यदि विकसित किया जाए तो अतिरिक्त ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। यह सामान्य बात है, कोई बहुत बड़ी बात नहीं है । हर आदमी इसका परीक्षण कर सकता है। किसी को लगे कि उसकी बुद्धि कुंठित हो रही है, ज्ञान कम होता जा रहा है, वह व्यक्ति दस मिनट तक अपने तालु पर पीले रंग का ध्यान केन्द्रित करे। धीरे-धीरे उसे यह अनुभव होने लगेगा कि ज्ञान का विकास हो रहा है, बुद्धि बढ़ रही है। आप प्रयोग करें। स्वयं विश्वास होगा। इस प्रयोग के द्वारा बुद्धि को प्रबल किया जा सकता है, चैतन्यशक्ति को पुष्ट किया जा सकता है, उसमें दृढ़ता लाई जा सकती है, उसे विकसित किया जा सकता है। उसकी समग्रता से उपासना होने पर मनुष्य में अतिरिक्त ज्ञान का अवतरण हो सकता है।

सबसे बड़ा तनाव

हमारे शरीर में दो मुख्य केन्द्र हैं ज्ञानकेन्द्र और कामकेन्द्र। ज्ञानकेन्द्र है मस्तिष्क और कामकेन्द्र है कटिभाग के आसपास का स्थान। मनुष्य काम के तनाव से अधिक ग्रस्त है। उसमें विचित्र प्रकार की कामनाएं उत्पन्न होती हैं और उनका अधिक तनाव रहता है। क्रोध का तनाव होता है, पर कभी-कभी। अभिमान, लोभ और माया का तनाव होता है, पर वह भी निरंतर नहीं होता। किंतु कामना का तनाव बहुत लंबे समय तक चलता है। यह सबसे बड़ा तनाव है।

यदि हमारे शरीर की ऊर्जा, शरीर की विद्युत कामकेन्द्र की ओर अधिक प्रवाहित होती है तो कामकेन्द्र पुष्ट होता है, ज्ञानकेन्द्र क्षीण होता है। शरीर की

ऊर्जा, विद्युत, हमारा तैजस यदि ज्ञानकेन्द्र की ओर प्रवाहित होता है तो ज्ञानकेन्द्र पुष्ट होता है, कामकेन्द्र क्षीण होता है। इन दोनों का बहुत गहरा संबंध है।

साधना का अर्थ यही है कि कामकेन्द्रगत जो ऊर्जा है, उसे ऊपर की ओर प्रवाहित कर ज्ञानकेन्द्र में ले जाएं, ताकि ज्ञानकेन्द्र को सिंचन मिले, पोषण मिले और पुष्टि मिले। सामान्यतः होता यह है कि मनुष्य अपनी कामना के द्वारा ज्ञानकेन्द्र की ऊर्जा को नीचे ले जाता है और कामकेन्द्र को अधिक पुष्ट करता है। अब इस शारीरिक संरचना के बोध के पश्चात् इस दिशा में हमारा प्रयत्न होना चाहिए कि साधना की दृष्टि से कामकेन्द्रगत ऊर्जा को हम ज्ञानकेन्द्र में ले जा सकें। उसका सबसे बड़ा पथ है सुषुम्ना।

हमारे शरीर में तीन मुख्य पथ हैं—दाएं, बाएं और मध्य में। इन तीनों का महत्त्व इसलिए है कि प्राण की तरंगें इन तीनों में से होकर ऊपर आती हैं। ये प्राणधारा या प्राण-तरंगों के प्रवाह-कक्ष हैं। यही इनकी महत्ता है। तीनों के मध्य है सुषुम्ना। यह सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण प्राणधारा का प्रवाह-कक्ष है। इसमें प्रचुर मात्रा में प्राणधारा ऊपर की ओर जाती है। योग की भाषा में बाएं मार्ग को इड़ा और दाएं मार्ग को पिंगला कहते हैं। मध्य-मार्ग को सुषुम्ना कहते हैं।

पृष्ठरज्जु की संरचना छत्तीस हड्डियों से हुई है। पृष्ठरज्जु में जो पोला भाग है, वह है सुषुम्ना-कक्ष। उसमें से प्राण-तरंगें आती हैं, जाती हैं। बायां मार्ग पृष्ठरज्जु के बाहर नीचे से प्रारंभ होता है और ऊपर आता हुआ बाएं नथुने में आकर समाप्त हो जाता है। यह इड़ा का मार्ग है। दायां मार्ग पिंगला का है। वह पृष्ठरज्जु के बाहर नीचे से प्रारंभ होता है और ऊपर आता हुआ दाएं नथुने में आकर समाप्त हो जाता है। मध्य का मार्ग सुषुम्ना का है। यह पृष्ठरज्जु के नीचे से प्रारंभ होता है और मस्तिष्क में आकर समाप्त हो जाता है। ये तीन मार्ग हैं। दो मार्ग जाते हैं नथुनों में और एक जाता है मस्तिष्क में। हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि हम प्राण की धारा को दाएं-बाएं से निकालकर मध्य मार्ग में ले जाएं, प्राण की तरंगों को अधिक मात्रा में प्रवाहित करें ताकि वे मस्तिष्क तक पहुंच सकें। दो मार्गों में बहने वाली प्राणधारा मस्तिष्क तक नहीं जाती। केवल मध्य मार्ग से सुषुम्ना से बहने वाली प्राणधारा ही मस्तिष्क तक पहुंच पाती है। मस्तिष्क में प्राणधारा को ले जाने का अर्थ है ज्ञानकेन्द्र को प्राणधारा से भर देना। इस दृष्टि से सुषुम्ना को जानना और उस पथ से प्राणों को प्रवाहित

करना, उसे प्राणों से भर देना, यह साधना का एक प्रयोजन है। इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए हम अनेक क्रियाएं करते हैं।

प्रयोजन दीर्घश्वास का

हम दीर्घश्वास का अभ्यास करते हैं। इससे शारीरिक लाभ होता है। फेफड़ों की सफाई होती है। प्राणवायु पूरी मात्रा में अंदर चली जाती है। कार्बनडाइ-ऑक्साइड बाहर निकल जाता है। आमाशय की सफाई भी होती है। पूरे उदरयंत्र की सफाई हो जाती है, यह तो शारीरिक लाभ हुआ, किंतु हम दीर्घश्वास का अभ्यास केवल इस दृष्टि से नहीं कर रहे कि शारीरिक लाभ हो। यदि केवल यही प्रयोजन होता तो यह हमारा शरीर स्वास्थ्य-निकेतन होता, साधना-निकेतन नहीं, किंतु यह साधना-निकेतन है, स्वास्थ्य-निकेतन नहीं। हम दीर्घश्वास का प्रयोग आध्यात्मिक लाभ के लिए कर रहे हैं। दीर्घश्वास से सुषुम्ना का पथ खुल जाता है, विद्युत तरंगें प्रबल हो जाती हैं। लोहकार धौंकनी धौंकता है, अग्नि प्रज्वलित हो जाती है। दीर्घश्वास का भी यही काम है। उसमें यह क्षमता है कि वह सुषुम्ना के पथ को खोल देता है और उसमें प्राणधारा को प्रवाहित कर देता है। प्राणधारा उसमें प्रवाहित होती है और वह मस्तिष्क के केन्द्र में पहुंचकर ज्ञानकेन्द्र को पुष्ट करती है। दीर्घश्वास के अभ्यास का यही प्रयोजन है। यहां होने वाली हमारी प्रत्येक क्रिया का कोई न कोई आध्यात्मिक प्रयोजन अवश्य है और उसी से प्रेरित होकर हम यह सब कर रहे हैं।

जो भी साधक पूरी एकाग्रता, निष्ठा और तन्मयता से दीर्घश्वास का प्रयोग करता है, उसको पहला अनुभव यह होगा कि उसके पृष्ठरज्जु के तार झनझनाने लगेंगे। उनमें कंपन पैदा होगा। थोड़ी-सी गहराई में जाकर यदि वह अनुभव करेगा तो उसे लगेगा कि पीछे कुछ सरसरा रहा है।

दूसरी बात है, जब सुषुम्ना का पथ खुलता है, तब एक विचित्र प्रकार की शांति और तन्मयता का अनुभव होता है और सारे शरीर में शीतलता व्याप्त हो जाती है। ऐसा लगता है कि जैसे कोई गर्मी से उत्पीड़ित थका-मांदा पथिक सघन छाया में जाकर बैठ गया हो।

तीसरी बात है, जब दीर्घश्वास का अभ्यास परिपक्व हो जाता है तब अभ्यास के दस-पंद्रह मिनट बाद ही एक प्रकार से निर्विचारता की स्थिति पैदा हो जाती है। सारे संकल्प-विकल्प बंद हो जाते हैं।

यह सारा क्यों होता है? यह एक प्रश्न है। इसका दूसरा उत्तर है कि सुषुम्ना में प्राणधारा का प्रवेश होने के कारण यह सारा घटित होता है। यदि हमारा श्वास दाएं मार्ग से प्रवाहित होगा तब भी चंचलता आएगी। जैसे ही हमारा श्वास सुषुम्ना में, मध्य मार्ग में प्रवाहित होने लगेगा, सारी चंचलता अपने आप समाप्त हो जाएगी। यह चंचलता की समाप्ति का एक प्रबल हेतु है। यदि हम शरीरशास्त्रीय दृष्टि से इसका महत्त्व नहीं आंकते हैं तो योग-साधना की दृष्टि से या आध्यात्मिक दृष्टि से भी हम इससे लाभान्वित नहीं हो सकते, इसीलिए शरीर का पूरा-पूरा ज्ञान करना एक योगी या साधक के लिए उतना ही जरूरी है, जितना एक शरीरशास्त्री के लिए है। इस संदर्भ में चैतन्यकेन्द्रों पर भी विचार करना अपेक्षित है।

महत्ता आज्ञाचक्र की

मस्तिष्क से थोड़ा आगे आज्ञाचक्र का स्थान है। यह भी चैतन्य का बहुत बड़ा केन्द्र है। इसकी बहुत क्षमताएं हैं। कुछ शरीरशास्त्रियों ने तथा परामनोवैज्ञानिकों ने इसे एक प्रकार से सर्वज्ञता का केन्द्र कहा है। इसी को आज्ञाचक्र या तृतीय नेत्र भी कहा जाता है। यह मस्तिष्क और तालु के नीचे, भृकुटी के बीच गहरे में आगे जाकर है। पश्चिम के साधकों ने 'थर्ड आई' के नाम से इसकी बहुत चर्चाएं की हैं और इस पर अनेक पुस्तकें भी लिखी हैं। यह भी चैतन्य का एक केन्द्र है। हमारे शरीर के अनेक स्थानों में चैतन्यकेन्द्र हैं। जहां-जहां चैतन्यकेन्द्र होता है, वहां-वहां स्नायुओं का भी बहुत बड़ा जाल-सा बन जाता है। उस स्नायुजाल को हम ग्रंथि कहें, चक्र कहें या और कुछ भी कहें। इनके नाम भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किंतु यह सत्य है कि हमारे इस शरीर के विभिन्न स्थानों में चैतन्य के बड़े-बड़े केन्द्र हैं। ये केन्द्र स्थूल शरीर में नहीं हैं। स्थूल शरीर में इनकी अभिव्यक्ति मात्र होती है, किंतु ये केन्द्र सूक्ष्म शरीर में, बहुत गहरे में हैं। हो सकता है कि ये सब हमारी शरीर-पर्याप्ति में हों। सूक्ष्म शरीर में तो ये निश्चित ही हैं। शरीर के प्रतिबिंब शरीर-पर्याप्ति में और उसके प्रतिबिंब स्थूल शरीर में होते हैं। इस प्रकार यह एक शृंखला चलती है।

आज्ञाचक्र एक प्रबल चैतन्यकेन्द्र है। कुछ लोग पूछते हैं कि चेतना को जागृत करने के लिए मार्ग नहीं मिल रहा है। क्या वास्तव में कोई मार्ग है या कल्पना मात्र है। मार्ग तो है, किंतु हम कितना कर सकते हैं, यह हमारे अध्यवसाय और प्रयास पर ही निर्भर है। मार्ग की कठिनाई नहीं है। मार्ग है–यह

यथार्थ है, अनुभूत सत्य है। केवल कल्पना नहीं है। कोई साधक यदि तीन घंटा तक आज्ञाचक्र पर केन्द्रित हो सके, एकाग्र रह सके तो मैं समझता हूं कि वह दस दिन बाद यह नहीं कहेगा कि चेतना के जागरण का कोई मार्ग नहीं है। तीन घंटे के अंतराल में कोई दूसरा विकल्प न आने पाए। कठिन अवश्य है। सामान्यतः एक-दो मिनट या पांच-दस मिनट तक भी एक धारा में चल पाना कठिन होता है। उस स्थिति में एक साथ तीन घंटा रह पाना अत्यंत दुष्कर है। जो साधक दस-पंद्रह मिनट के अभ्यास तक पहुंच जाता है, वह यह अनुभव कर सकता है कि तीन घंटे तक एकाग्र रहने वाला सचमुच मार्ग को पा जाता है, उसका भटकाव मिट जाता है। किसी गुरु या उपदेशक की फिर आवश्यकता नहीं होती, किंतु उसमें इतनी श्रद्धा, इतनी तन्मयता, इतना प्रचुर सामर्थ्य अवश्य होना चाहिए कि वह लक्ष्य-बिंदु तक पहुंचकर ही साधना को सफल माने।

कुछ समझते हैं कि ध्यान करने वाले निकम्मे बैठे रहते हैं, निकम्मे हो जाते हैं। निकम्मे कहां होते हैं? ध्यान-काल में इतनी शक्ति का उपयोग करना होता है कि ध्यान करने वाले बहुत बार अपने शरीर से भी हाथ धो बैठते हैं। उससे अनेक शारीरिक कठिनाइयां भी उत्पन्न होती हैं। ध्यान-काल में अधिक ऊर्जा खर्च होती है। विद्युत खर्च होती है, मस्तिष्क को थोड़ा-सा श्रम होता है तो हमें लगता है कि सिर गरम हो गया है। ऐसा इसीलिए होता है कि मस्तिष्क की ऊर्जा, मस्तिष्क की विद्युत खर्च अधिक हुई है। सिर गर्म क्या हो गया, वहां जो ऊर्जा थी, हमने उसका अधिक उपयोग कर लिया और वह इतनी जलनी शुरू हो गई कि सिर गर्म हो गया। चूल्हे-जैसा जलने लग गया। जिस अवयव की ऊर्जा का हम उपयोग करते हैं, वहां की ऊर्जा खर्च होती है और गरमी पैदा होती है।

ध्यान-काल में ऊर्जा का अधिक व्यय होता है। मन एकाग्र करने में बहुत प्रयत्न करना होता है। जहां प्रयत्न की प्रबलता होती है, वहां ऊर्जा का व्यय बढ़ जाता है। बिना प्रयत्न किए हम निर्विचार नहीं हो सकते। यदि हम प्रयत्न में सफल हो जाते हैं, ऊर्जा का भरपूर उपयोग कर लेते हैं तो लक्ष्य-प्राप्ति की संभावना बढ़ जाती है।

तीसरा चैतन्यकेन्द्र है कंठ। योग की भाषा में इसे विशुद्धिचक्र कहते हैं। इसको यदि विकसित किया जाए तो वासनाओं पर नियंत्रण पाया जा सकता है। नियंत्रण पाना कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है उसका निर्मलीकरण, उदात्तीकरण। विशुद्धिचक्र के विकास से हमारी वृत्तियां सहज रूप में शांत हो जाती हैं।

नाभिचक्र

चौथा चैतन्यकेन्द्र है नाभिचक्र। वह अग्नि का स्थान है। बहुत ऊष्मा है, तेजस्विता है। जहां गर्मी होती है, वहां हर चीज में उभार आता है। उस चित्र पर यदि ध्यान एकाग्र किया जाता है तो वृत्तियों में भी उभार आता है। वासना में उभार आता है। तेजस्विता में हर वस्तु प्रबल हो जाती है।

विशुद्धिचक्र और नाभिचक्र दोनों का परस्पर संबंध है। कोई व्यक्ति नाभिचक्र को जागृत करता है, पर विशुद्धिचक्र को यदि जागृत नहीं करता है तो कठिनाई पैदा होती है। दोनों चक्रों को साथ-साथ जागृत करना होता है। यदि ऐसा होता है तो तेजस्विता बढ़ती है, शक्ति का संचय होता है, वृत्तियां शांत होती हैं।

एक बहुत बड़ा चैतन्यकेन्द्र है हृदय। मस्तिष्क का स्थान पहला है और इसका दूसरा। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह बहुत बड़ा पुराना विवाद है कि आत्मा मस्तिष्क में है या हृदय में। आयुर्वेद के ग्रंथों में लिखा है कि **हृदयं चेतनाधिष्ठानं**–हृदय चेतना का अधिष्ठान है। 'चैत्यपुरुष', हृदयपुरुष ये शब्द हृदय के लिए व्यवहृत होते रहे हैं। 'थारै घट राम विराजै'–यह घट राम का वासस्थान है। राम, आत्मा, प्रभु का स्थान है, घट यानी हृदय। हृदय महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवन की दिशा में भी हृदय का प्रमुख स्थान है। हृदय है तो जीवन है। हृदय नहीं है तो जीवन भी नहीं है। हृदय की धड़कन बंद होते ही जीवन समाप्त हो जाता है। शरीरतंत्र का संचालक है रक्त। 'रक्तं जीवनं' रक्त ही जीवन है। रक्त का संचालक है हृदय। हृदय में रक्त प्रवाहित होता है, फेफड़ों में उसकी शुद्धि होती है और फिर वहां से उसका प्रसार सारे शरीर में हो जाता है। रक्त जीवन है और उसको शरीरतंत्र में प्रसारित करने वाला है हृदय। इसलिए इसका महत्त्व है। यह हमारा भावपक्ष भी है। यदि ज्ञानपक्ष मस्तिष्क है तो भावपक्ष हृदय है।

हृदय चेतना का बहुत बड़ा केन्द्र है। साधना की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। जो साधक इस चक्र का उद्घाटन करता है, जागृत करता है, वह बाह्य जगत से छूटकर भीतर के जगत में प्रवेश पा जाता है।

इस प्रकार हमारे शरीर में अनेक चैतन्यकेन्द्र हैं। कुछ योगियों ने इन केन्द्रों की संख्या छह, कुछ ने सात और कुछ ने नौ बतलाई हैं। मैं मानता हूं कि चैतन्यकेन्द्र इन संख्याओं से अधिक हैं। मुख्य-मुख्य केन्द्रों के नाम गिना

दिए। दूसरे छोटे-छोटे केन्द्रों के नाम नहीं गिनाए, पर वास्तव में उनकी संख्या बहुत है।

चैतन्यकेन्द्र : मर्मस्थान

चैतन्यकेन्द्र का अर्थ है मर्मस्थान। भारतीय आयुर्वेद के पुरस्कर्ताओं ने सत्तर मर्मस्थान माने हैं। चीन में विकसित एक्यूपंक्चर की चिकित्सा-पद्धति में सात सौ मर्मस्थान माने गए हैं। शरीर में ऐसे सात सौ बिंदु हैं जहां चैतन्य का प्रवाह अधिक है। इन बिंदुओं को उत्तेजित कर अनेक प्रकार की बीमारियां मिटाई जाती हैं। अनेक असाध्य रोगों की चिकित्सा होती है।

मर्म का मतलब है रहस्य। मर्मस्थान अर्थात् रहस्य का स्थान। इन मर्मस्थानों में चेतना विशेष प्रकार से अभिव्यक्त होती है। प्रयोजनवश किसी एक, दो-चार मर्मस्थानों को पकड़ो, स्पर्श करो। विशेष उपलब्धि होगी। चीन में चिकित्सा की दृष्टि से इन मर्मस्थानों को खोजा गया। साधना की दृष्टि से भी इनका महत्त्व है।

पृष्ठरज्जु के नीचे का स्थान मूलाधार कहलाता है। साधना की दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यह विद्युत का केन्द्र है। हमारी समस्त शारीरिक ऊर्जा, विद्युत का यह संचयगृह है। यहीं से ऊर्जा का प्रसारण होता है। यहीं विद्युत का उत्पादन होता है और यहीं से विद्युत का प्रसारण होता है।

आप जानना चाहते हैं कि ध्यानकाल में आपका मन एकाग्र हुआ या नहीं? इसकी एक कसौटी है। जैसे ही मन एकाग्र होगा, नीचे के स्नायु ऊपर की ओर उठने लगेंगे। ऊर्ध्वाकर्षण का अनुभव आपको सहज भाव से होने लगेगा। यदि ऐसा होता है तो आप मान लीजिए कि आपका मन एकाग्र हुआ है, हो रहा है। यदि ऐसा नहीं होता तो मन एकाग्र नहीं हुआ है, नहीं हो रहा है। वह भटक रहा है। मन की एकाग्रता का और नीचे के स्नायुओं का बहुत गहरा संबंध है। मन के एकाग्र होते ही, मन के केन्द्रित होते ही नीचे से स्नायु अपने आप ऊपर उठने लगेंगे। जैसे-जैसे एकाग्रता बढ़ती जाएगी, संकुचन गहरा होता जाएगा, सबकुछ संकुचित होता जाएगा। इसका मतलब है कि जो विद्युत संचित है, वह ऊपर उठने लगी है। विद्युत की धारा ऊपर की ओर प्रवाहित होने लग गई है। ऊपर की ओर जाने के लिए वह अपना मार्ग खोजने लग गई है। यह एक कसौटी है। प्रत्येक साधक इसको काम में ले सकता है। अपनी परख कर सकता है।

मूलबंध का प्रयोग

किसी भी केन्द्र पर मन एकाग्र होते ही नीचे संकुचन प्रारंभ हो जाता है। संकुचन एकाग्रता के बिंदु की सूचना देता है। साधना की दृष्टि से यह माना गया है कि किसी भी साधना में साधक जाए, नीचे के स्नायुओं का संकोच, संकुचन अवश्य होना चाहिए। स्नायु जितने संकुचित रहेंगे, उतना ही ऊपर की ओर विकास होगा। ऊर्ध्वीकरण होगा, उदात्तीकरण होगा। विद्युत की जो धारा नीचे की ओर प्रवाहित हो रही थी, उसे रोककर हमने ऊपर की ओर कर दिया। यह साधना है। यह एक प्रकार से विद्युत की धारा को बदलने का, उसकी गति को मोड़ने का उपक्रम है, इसलिए इसे मूलबंध कहते हैं। मूल जितना मजबूत होगा, ऊपर के सब अवयव दृढ़ होंगे। वृक्ष का मूल यदि दृढ़ और स्वस्थ है तो पत्ते, फल और फूल आते ही रहेंगे। उनको कोई भी नहीं रोक पाएगा। यदि मूल विकृत है, स्वस्थ है, तो अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकेगा, धराशायी हो जाएगा।

साधना की दृष्टि से यह मूल स्थान है। यह स्थान यदि स्वस्थ है, सारा विकास सहज-सरल हो जाएगा। यदि हमने इसे ठीक से समझ लिया, पकड़ लिया तो ऊपर के केन्द्रों का विकास करना हमारे लिए सुगम हो जाएगा। उन केन्द्रों को विद्युतधारा का उपयुक्त सिंचन मिलेगा, पोषण मिलेगा, इसीलिए इस स्थान पर ध्यान केन्द्रित करना बहुत जरूरी है।

साधना और सूक्ष्म शरीर

अब हम स्थूल शरीर से हटकर सूक्ष्म शरीर की चर्चा करें। सूक्ष्म शरीर का साधना से बहुत बड़ा संबंध है। जो दृश्य शरीर है, स्थूल शरीर है, वही पर्याप्त नहीं है। सूक्ष्म शरीर भी हमारे साथ जुड़ा हुआ है। हमारी वृत्ति, हमारी आकांक्षा, हमारी वासना, हमारे संस्कार–ये सारे स्थूल शरीर में प्रकट होते हैं, जागृत मन में प्रकट होते हैं। ये कहां से आए? इनका स्रोत क्या है? हमें इसकी खोज करनी है। स्रोत को ढूंढ़ निकालना है। इस स्थूल शरीर में उनका स्रोत नहीं है तो फिर ये कहां से आ रहे हैं? किस माध्यम से आ रहे हैं? इनका माध्यम है मस्तिष्क। ये सारे मस्तिष्क के सहारे उतर रहे हैं, पर इनका मूल उत्पत्ति-स्थल कहां है, यह एक प्रश्न है।

इनका स्रोत है सूक्ष्म शरीर। हम उसे देख नहीं पाते। बहुत आवरण है। हम केवल स्थूल शरीर को ही देख पाते हैं। साधक के लिए यह आवश्यक है कि

वह इस सूक्ष्म शरीर को देखने का प्रयत्न करे। सूक्ष्म शरीर को देखा जा सकता है, उसका अनुभव किया जा सकता है। अपने स्वयं के सूक्ष्म शरीर को देखा जा सकता है और दूसरे के सूक्ष्म शरीर को भी देखा जा सकता है। अपने शरीर के 'ओरा' प्रभामंडल को देखा जा सकता है और दूसरे के प्रभामंडल को भी देखा जा सकता है।

एक छोटे-से प्रयोग की चर्चा करूं। आपने एकाग्रता का अभ्यास किया है। आपके पास कोई व्यक्ति आता है। आप अनिमेष दृष्टि से एक मिनट तक उसकी ओर देखें। देखने के बाद आंखें मूंद लें। आपकी आंखें मुंदी हुई हैं। उसकी प्रतिमा उभर रही है। उसमें वह शरीर नहीं दिखेगा आपको। वह आकृति नहीं दिखेगी, किंतु जिस व्यक्ति को आपने देखा है, उस व्यक्ति का शरीर-प्रमाण प्रकाशपुंज आपके सामने आएगा। सूक्ष्मता से यदि आप उसे देखेंगे तो उसके साथ लगा हुआ आभावलय भी आपको दीख जाएगा। उस प्रकाशमूर्ति के नीले वर्ण का वलय है या काले वर्ण का वलय है या सफेद वर्ण का। वह वलय दीखने लग जाएगा। इस प्रकार एकाग्रता की साधना के द्वारा दूसरे व्यक्ति के सूक्ष्म शरीर और आभावलय को देखा जा सकता है। अपने सूक्ष्म शरीर को भी देखना आसान हो जाता है। जब ध्यान एक विशेष बिंदु पर पहुंचता है, विशेष प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है, तब साधक के सामने उसके शरीर की एक तैजस प्रकृति प्रकट होती है। वह आंखें मूंदे हुए भी अंतर की आंखों से उसे देख लेता है।

यह जानना जरूरी है कि सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर का क्या संबंध है? सूक्ष्म शरीर किस प्रकार स्थूल शरीर को प्रभावित करता है और स्थूल शरीर, स्थूल मन और जागृत मन की साधना के द्वारा किस प्रकार से सूक्ष्म मन के प्रकंपनों को पकड़ सकते हैं, उन्हें बदल सकते हैं? इन सबको जानना जरूरी है।

8. प्रेक्षा का प्रयोग

जीवन के दो महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं–देखना और जागना। हम देखते रहें और जागते रहें। बहुत गहरे में जाएं तो देखना और जागना दो नहीं हैं, एक ही हैं। ये दोनों प्रेक्षाध्यान में काम कर रहे हैं। जागना अर्थात् अप्रमत्त रहना। यह बहुत बड़ी बात है। **सुत्तेसु यावि पडिबुद्धजीवी**–सोते हुए लोगों के बीच में जागृत रहना बहुत महत्त्वपूर्ण है। हम और गहरे में जाएं तो ऐसा मानना चाहिए कि सोई हुई प्रवृत्तियों के बीच में जागृत रहें। चेतना की एक लौ ऐसी जला दें, जिसे हवा का कोई भी झोंका बुझा न सके। हवा चल रही है, आंधी आ रही है, तूफान उठ रहा है, बवंडर आ रहा है, उस ज्योति को, उसकी लौ को कोई भी न बुझा सके, ऐसी ज्योति हम भीतर जला दें। यही साधना है। यही साधना का फलित है। ऐसी ज्योति को भीतर प्रज्वलित कर देना, जिसे विश्व की कोई भी शक्ति बुझा न सके, फिर बाहर कुछ भी होता रहे, यह ज्योति अखंड रूप से जलती रहेगी। वह कभी खंडित नहीं होगी। उसकी भी साधना है। वह है प्रेक्षा का अभ्यास, देखने का अभ्यास । साधना केवल जानने की नहीं होती, करने की होती है। केवल जान लेना ही पर्याप्त नहीं होता, करना भी जरूरी होता है। कुछ करें। प्रयोग करें। प्रयोग के लिए, जागृत रहने के लिए कुछ बातें जरूरी हैं।

शरीर को अपने अस्तित्व से भिन्न देखना है तो एक प्रयोग करना होगा। हम अभ्यास करते हैं तो मृत्यु को देखते हैं। मृत्यु को देखना, शरीर को अपने अस्तित्व से भिन्न देखना है तो उसके लिए प्रयोग आवश्यक है। यह है जागृति का प्रयोग, अप्रमाद का प्रयोग।

जागृत करें चेतना को

आहार इसलिए करते हैं कि भूख लगती है। भूख लगती है शरीर को। मुझे नहीं लगती। भूख किसी दूसरी चीज को लगती है। प्राणशक्ति है, शरीर है तो भूख लगती है। चेतना को भूख नहीं लगती। शरीर को भूख लगे और

चेतना देखती रहे कि किसे भूख लगी है और किसे नहीं? चेतना की वह स्थिति अभिव्यक्त हो जाए, वह ज्योति जल उठे, जो भूख को देखें और साथ-साथ अनुभव करे कि मुझे भूख नहीं है, मैं स्वयं तृप्त हूं, सदा तृप्त हूं, कभी अतृप्त होता ही नहीं, कभी भूख लगती ही नहीं। इस स्थिति का अनुभव ही वास्तव में तपस्या है। यह बहुत बड़ा तप है कि अपने चैतन्य को इतना जागृत कर देना कि वह देख सके कि भूख किसे लगी है? कौन खा रहा है? मैं तो केवल द्रष्टा हूं, देख रहा हूं।

नींद आती है, आदमी सो जाता है। मूर्च्छित हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने बहुत ही मर्म की बात लिखी है। उसे समझना आसान नहीं है। समझने के लिए भी बहुत गहराई में उतरना पड़ता है। उन्होंने लिखा–'आहार-विजय, निद्रा-विजय और आसन-विजय को जो नहीं जानता, वह जैन शासन को नहीं जानता। वह महावीर की वाणी को नहीं समझता, महावीर को नहीं समझता।' बहुत बड़ी बात है, छोटी बात नहीं है। आहार-विजय, निद्रा-विजय और आसन-विजय को समझने वाला जैन शासन को समझ लेता है और जो उन्हें नहीं समझता, वह जैन शासन को नहीं समझता, नहीं जानता।

आहार-विजय

साधना की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है आहार-विजय। शरीर शरीर है। वह आहार के बिना नहीं टिकता। ऐसी स्थिति में आहार-विजय कैसे हो सकती है? आहार-विजय हुए बिना जैन शासन को नहीं जाना जा सकता है। दोनों विरोधी बातें लग रही हैं। ये विरोधी नहीं। इनमें संगति है और वह यह है कि जो व्यक्ति भूख, खाने वाले और चैतन्य के भेद का अनुभव नहीं करता, वह आहार की विजय नहीं कर सकता। जो आहार की विजय नहीं कर सकता, उसे भूख निरंतर सताती है। वह उपवास भी करता है तो उसे निरंतर भूख की अनुभूति होती रहती है और जब भूख की अनुभूति होती रहती है तब तप की अनुभूति कहां से होगी? कब होगी? कैसे होगी? न खाए और न खाने पर भूख न सताए, यह है आहार की विजय। यह तब संभव है जब यह भेद इतना स्पष्ट अनुभव में आ जाए कि जिसे भूख लग रही है, वह कोई दूसरा है और मैं दूसरा हूं।

मुझे कभी भूख नहीं सताती। मुझे कभी भूख लगती ही नहीं। यह भेद प्रयोग के द्वारा स्पष्ट हो जाए। हम न खाएं और न खाकर यह प्रयोग करें। भगवान महावीर ने तपस्या पर, उपवास पर इतना बल दिया, संभव है वह तपस्या भी उनका एक प्रयोग हो। वे स्वयं एक प्रयोग कर रहे थे कि न खाने

की स्थिति में रहकर चैतन्य का कितना अनुभव किया जा सकता है और भूख के द्वारा होने वाली जो कठिनाई है, भूख के द्वारा होने वाली जो पीड़ा है, उस पीड़ा से अपने अस्तित्व को कितना अलग रखा जा सकता है। तप उनका एक प्रयोग था। न खाना या उपवास कर लेना मात्र ही तपस्या नहीं है। सतत ध्यान और जागरूकता उसके साथ जुड़ी हुई रहे कि मैं नहीं खाता हूं और नहीं खाने से कष्ट होता है। वह कष्ट किसको हो रहा है? उस कष्ट का कौन अनुभव कर रहा है? कष्ट कैसे हो रहा है? इसे स्पष्टता से समझ लेना, यह है तप का एक प्रयोग। इस बात को जो आदमी समझ लेता है, वह आहार-विजय कर लेता है। वह जैन शासन के मर्म को समझ लेता है।

निद्रा-विजय

दूसरी बात है निद्रा-विजय की। जो निद्रा पर विजय नहीं पाता, वह जैन शासन को नहीं समझता। शरीर है, इसलिए यह संभव नहीं है कि हर व्यक्ति नींद पर विजय पा ले। कुछ ही व्यक्ति अपवाद रूप में ऐसे होते हैं, जो नींद न लें या बहुत ही कम नींद लें। सब नींद लेते हैं। जो बड़े-बड़े तपस्वी हुए हैं, उन्होंने भी नींद ली है, फिर यह कैसे हो सकता है कि नींद को नहीं जीतने वाला जैन शासन को नहीं समझ सकता? इसे हम ठीक से समझें।

सदा जागृत रहें

आचारांग सूत्र में एक वाक्य मिलता है–**सुत्तेसु जागरमाणे**–सोए हुए लोगों के बीच में जागृत रहने वाला अथवा सोते हुए जागृत रहने वाला। तीन प्रकार के लोग होते हैं–सुप्त, जागृत और सुप्त-जागृत। सुप्त सोया हुआ, जागृत जगा हुआ और सुप्त-जागृत सोते हुए भी जागता हुआ। मुनि को ऐसा होना चाहिए कि वह सोता हुआ भी जागता रहे। वह सो रहा है, नींद ले रहा है, पर यह अनुभव कर रहा है कि मैं जागृत हूं, जाग रहा हूं। एक क्षण के लिए भी ऐसा अनुभव नहीं होता कि मैं सो रहा हूं। प्रतिक्षण यह अनुभव बना रहता है कि मैं जाग रहा हूं। यह बहुत बड़ी साधना है। जो व्यक्ति यह साधना कर लेता है कि छह घंटे सोते हुए भी निंरतर, प्रतिक्षण यह अनुभव हो कि मैं जाग रहा हूं, वह बहुत बड़ी उपलब्धि का अधिकारी हो जाता है। स्थूल चेतना सोएगी, शरीर सोएगा, किंतु जो ज्योति गहराई में प्रज्वलित कर दी,वह निरंतर जागृत रहेगी और यह अनुभव होता रहेगा कि मैं जाग रहा हूं।

सुत्तेसु यावि पडिबुद्धजीवी–सोते हुए भी प्रतिबुद्ध होकर जीएं, जागृत

होकर जीएं। जिसने यह साधना कर ली, वह जैन शासन के मर्म को समझ सकता है, निद्रा-विजयी हो सकता है। इसका भी प्रयोग होना चाहिए, अभ्यास होना चाहिए। प्रयोग और अभ्यास के बिना नींद पर विजय नहीं पाई जा सकती। हम प्रतिदिन सोते समय संकल्प करें कि मैं जागृत नींद लूंगा। नींद में अप्रमत्त रहूंगा, होश में रहूंगा कि मैं जाग रहा हूं। एक दिन में कुछ निष्पत्ति नहीं आएगी।' दो-चार दिनों में कुछ नहीं होगा। लंबा प्रयोग करना होगा। लंबा अभ्यास करना होगा। आप दूसरे के पास इस प्रयोग की चर्चा न करें। अन्यथा वह कहेगा कि कैसा पागल है। नींद लेते हुए भी जागते रहने की बात पागलपन नहीं तो क्या है? आप यह प्रयोग करते रहें। हो सकता है, आपको सफलता मिलने में दो महीने, चार महीने, छह महीने या पूरा वर्ष भी लग जाए। एक दिन ऐसा आएगा कि आप स्वयं अनुभव करेंगे कि सोते हुए भी आप पूर्ण रूप से जागृत हैं। नींद लेते हुए भी जाग रहे हैं। मैं नहीं कह सकता कि छह घंटों की पूरी नींद में जागृत रहने की स्थिति रहेगी, किंतु कुछ क्षण ऐसे बीतेंगे कि आप नींद में भी यह अनुभव करेंगे कि आप जाग रहे हैं।

संधिस्थल कौन-सा?

मैं चर्चा कर रहा हूं जागृत रहने की, पर यह उस स्थल की, उस संधि-स्थल की बात है, जहां चेतन और अचेतन का संगम हुआ है। हम समझना चाहेंगे कि चेतन और अचेतन का वह संधि-स्थल कौन-सा है? वह बिंदु कौन-सा है, जहां दोनों मिलते हैं? इसे आहार के द्वारा समझाया जा सकता है। चेतन को भूख नहीं लगती। चेतन आहार नहीं करता, भोजन नहीं करता। आहार प्राणशक्ति का कार्य है। इधर चेतना है, उधर शरीर है और एक ऐसी प्राण की धारा बहती है, जिसे भूख लगती है, जो खाती है।

आंख देखती है। इन्द्रियां अपना काम करती हैं। इन्द्रियों में ज्ञान नहीं है। जानने की शक्ति नहीं है। चेतना की आंख नहीं है। चेतना को आंख की कोई जरूरत भी नहीं है। यदि चेतना को आंख की जरूरत होती तो फिर अशरीरी बिल्कुल अंधा होता, कुछ नहीं देख पाता। चेतना को इन्द्रियों की जरूरत नहीं है और इन्द्रियों में जानने की क्षमता नहीं है। एक ऐसा संधि-स्थल है, जहां चेतना और इन्द्रिय की प्राणधारा का बिंदु मिल रहा है, संगम हो रहा है, उसे हम पकड़ें। इन्द्रियों के बिंदु और चेतना के बिंदु के संधि-स्थल को पकड़ें। श्वास और प्रश्वास के संगम-स्थल को पकड़ें। चेतना को श्वास की जरूरत नहीं है।

चेतना ऐसा दीप नहीं है कि उसमें तेल डाला जाए तो वह जले और तेल न डाला जाए तो वह न जले, बुझ जाए। वह तो अखंड ज्योति है। वह अपने आप जलती है। उसके लिए श्वास आवश्यक नहीं है, किंतु श्वास की प्राणधारा और चेतना का जो संगम-स्थल है, संधि-स्थल है, मिलन-बिंदु है, उस बिंदु को हम पकड़ें। ये सारे बिंदु हमारी जागृति के बिंदु हो सकते हैं।

यदि इन पर प्रयोग किए जाएं तो ये जागृति के बहुत बड़े प्रयोग होंगे और इन प्रयोगों के द्वारा ही हम उस सूत्र को सार्थक कर सकेंगे या उसका अर्थ समझ सकेंगे कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है, अन्यथा यह हमारी रटन मात्र रहेगी। हम चेतना की भिन्नता और शरीर की भिन्नता को तभी समझ सकेंगे जब हम उनके मिलन-बिंदुओं को पकड़ पाएंगे।

मिलन-बिंदु

पहला बिंदु है–भाषा। चेतना बोलती नहीं और जो बोलती है, वह चेतना से भिन्न है। जहां भाषा और चेतना का संगम होता है, वह बिंदु महत्त्वपूर्ण है। भाषा में जो शक्ति आती है, वह चेतना से आती है। दोनों के संगम-स्थल को हम समझें, मिलन-बिंदु को पकड़ें।

दूसरा बिंदु है–मन। चेतना को संकल्प-विकल्प की जरूरत नहीं होती। उसमें इच्छा भी नहीं होती। उसमें संकल्प भी नहीं होता। यह सारा मन का काम है। चेतना को मन की जरूरत नहीं है, किंतु चेतना के बिना मन निकम्मा हो जाता है। उसमें क्षमता नहीं होती कि वह संकलन कर सके, इच्छा कर सके, कल्पना कर सके, संकल्प कर सके। उसका भी एक मिलन-बिंदु है। आहार, श्वास, इन्द्रिय, भाषा और मन–इन पांचों के मिलन-बिंदुओं को हम पकड़ें। नींद और जागृति इन दोनों के बिंदुओं को पकड़ें और नींद लेते हुए भी जागृत रह सकें। इस दिशा में भी हमारा प्रयत्न चले।

अप्रमाद की साधना

अनेक दिशाओं में हमारा प्रयोग चले तो एक दिन ऐसा आ सकता है, एक क्षण ऐसा आ सकता है कि हम यह अनुभव करने में समर्थ हो जाएंगे कि चेतना अलग है, शरीर अलग है। मैं पृथक् हूं और शरीर पृथक् है, अन्यथा आत्मा और शरीर से भिन्नत्व की बात, मात्र हमारी मान्यता, धारणा या रटन रहेगी। उसका तात्पर्य हमारी समझ में नहीं आएगा। उसकी रटन लगाते हुए भी हम सही अर्थ को नहीं पकड़ पाएंगे।

यह सारी जागृति की साधना है। अप्रमत्त रहने की साधना है। भगवान महावीर ने कहा कि सदा अप्रमत्त रहो। अप्रमत्त वही रह सकता है, जिसकी चेतना सदा प्रज्वलित रहती है। जब चेतना पर कोई आवरण आ जाता है, मूर्च्छा आ जाती है, तब चेतना अप्रमत्त नहीं रह सकती। एक सूफी संत हुई है राबिया। वह रोती भी थी और हंसती भी थी। दोनों साथ-साथ चलते थे। लोग कहते थे कि बड़ी अजीब बात है। कोई आदमी हंसता है तो रोता नहीं। कोई रोता है तो हंसता नहीं। कोई भी आदमी एक साथ दोनों रोना और हंसना नहीं करता। वह रोता है तब रोता है और हंसता है तब हंसता है। यह राबिया हंसती भी है और रोती भी है। प्रश्न हुआ कि दोनों एक साथ क्यों? राबिया से पूछा। उसने कहा–तुम मुझे नहीं समझ सकते। मैं दोनों साथ-साथ कर रही हूं, पर पागल नहीं हूं। मैं देखती हूं कि यह परमात्मा सब जगह फैला हुआ है, यह सत्य सब जगह फैला हुआ है। उसे देखती हूं तो हंसती हूं। कितना सुंदर और रहस्यपूर्ण है यह जगत। तुम लोगों को देखती हूं तो रोती हूं कि इतना साफ-साफ दिखाई दे रहा है, फिर भी तुम नहीं देख रहे हो तो मुझे रुलाई आ जाती है।

हमारी भी यही स्थिति हो रही है। चेतना स्पष्ट है, उसका अस्तित्व स्पष्ट है, उसका कार्य स्पष्ट है और शरीर भी स्पष्ट है, प्रत्यक्ष है, फिर भी हम उस पार्थक्य के बिंदु को पकड़ नहीं पा रहे हैं। कितनी स्थूल बात है, फिर भी पकड़ नहीं पा रहे हैं। समझ में नहीं आ रहा है कि मिलन बिंदु कहां है? छोर कहां है? यह स्थूल तथ्य भी हमारी समझ में नहीं आ रहा है। इस चेतन आत्मा और अचेतन शरीर के संगम-स्थल को पकड़ सकें, संधि-स्थल को पकड़ सकें, मिलन-बिंदु को पकड़ सकें तो उनको अलग करने में भी हम सफल हो जाएंगे।

मृत्यु : एक महोत्सव

जो मृत्यु को नहीं देखता, वह मरने से बहुत घबराता है। जब कोई कहता है कि तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी, सचमुच उसी क्षण से उसकी मौत होने लग जाती है, मौत उतरने लग जाती है। जब यह लगता है कि मौत आ रही है तो सारा शरीर कड़ा हो जाता है। कड़ा क्यों होता है? मौत आती है, इसलिए नहीं, किंतु मौत का भय उसे कड़ा कर देता है। तनाव ला देता है। मौत की प्रक्रिया यह है शरीर को ढीला छोड़ दो, शिथिल कर दो और इतने तैयार हो जाओ कि हमारी आत्मा शरीर से अलग हो तो भी ऐसा लगे कि कुछ हुआ ही नहीं है। शरीर तो शिथिल पड़ा है। हम तो पहले ही मरने की तैयारी में लग

गए। शिथिल होने का मतलब ही है मृत्यु की तैयारी। तनाव विसर्जित करने का मतलब ही है मृत्यु की तैयारी। जो आदमी सदा मृत्यु की तैयारी रखता है, उसके न अकड़न होती है, न तनाव होता है, न भय होता है। कुछ भी नहीं होता। इसीलिए जैन आचार्यों ने मृत्यु पर बहुत कुछ लिखा है। मृत्यु विषयक एक ग्रंथ है 'मृत्यु महोत्सव', जो महोत्सव है, उससे तुम घबराओ मत। मंगल-गीत, राग, आनंद, आनंदपूर्ण आलाप यह तो हो सकता है महोत्सव में, किंतु भय की तो कोई बात नहीं हो सकती। मृत्यु महोत्सव है। उससे फिर भय कैसा?

जगदीश कश्यप बहुत बड़े विद्वान थे। उनका अभी-अभी देहावसान हुआ है। एक बार उन्होंने एक पत्र द्वारा हमसे कहा–'मैं अंतिम समय में जैन पद्धति की समाधि-मृत्यु से मरना चाहता हूं। इसलिए आप मुझे वह सारी पद्धति लिखकर भेजें, क्योंकि मृत्यु की तैयारी का विवरण जितना जैन साधना-पद्धति में किया गया है, उतना शायद अन्यत्र दुर्लभ है।'

जैन साधना में मृत्यु की तैयारी बारह वर्ष पूर्व से प्रारंभ हो जाती है। बारह वर्ष पहले मृत्यु की तैयारी! यानी मौत एक ऐसी घटना है जिसकी तैयारी के लिए बारह वर्ष चाहिए। आपने देखा होगा, छोटे-मोटे ऑपरेशन के पूर्व भी बहुत तैयारी की आवश्यकता होती है। ऑपरेशन होना है एक अवयव का, किंतु डॉक्टर को बहुत बड़ी तैयारी करनी होती है। एक ऑपरेशन के लिए कितने डॉक्टर, कितनी नर्सें, कितने उपकरण, कितने यंत्र, कितनी औषधियां तैयार रखनी होती है, क्योंकि एक अवयव के ऑपरेशन के मध्य दूसरे अवयव पर असर हो सकता है। उसे ठीक रखने के लिए भी तैयारी रखनी होती है।

संलेखना : तैयारी मृत्यु की

मौत समूचे शरीर का ऑपरेशन है। समूचे शरीर से पूरी चेतना को निकलना है, बिल्कुल अलग कर देना है, कितना बड़ा ऑपरेशन है यह। इतने बड़े ऑपरेशन के लिए बारह वर्ष की तैयारी अपेक्षित होती है। इसे संलेखना कहा जाता है। संलेखना का काल है बारह वर्ष का। बारह वर्ष पहले ऐसी तैयारी कर लेते हैं कि जिसमें पूरी-की-पूरी साधना-पद्धति फलित हो जाती है। बारह वर्ष के बाद अनशन करना होता है और फिर समाधि-मृत्यु। कितनी बड़ी तैयारी है? कितना सुंदर क्रम है? इसके विषय में इतना क्यों लिखा? इतना क्यों बताया? कारण क्या है? हम कारण को समझें। कारण यही है कि मृत्यु सबसे बड़ी मूर्च्छा है। मृत्यु सबसे बड़ी बेहोशी है। बेहोशी के क्षण में हमारी

ज्योति बुझे नहीं, हम मूर्च्छित न हों, हम जागृत रह सकें। मृत्यु के क्षण में जो जागृत रहता है, वह सदा के लिए जागृत हो जाता है। उस तरह की जागृति के क्षण के लिए हमारी सारी तैयारी चलती है।

ऑपरेशन के समय मरीज को बेहोश करने के लिए क्लोरोफार्म सुंघाया जाता था। आजकल दूसरे साधन प्रयुक्त हो रहे हैं। मरीज को बिजली के झटके देकर मूर्च्छित कर दिया जाता है, ताकि वह ऑपरेशन के भयंकर दर्द को सह सके, उसे दर्द का भान न हो। विद्युत के झटकों से उसकी चेतना शून्य हो जाती है, शांत हो जाती है और बड़े से बड़े ऑपरेशन सुगमता से संपन्न हो जाते हैं।

ऑपरेशन में भी मूर्च्छा की स्थिति लानी पड़ती है, इसलिए कि उसे कष्ट न हो। शायद प्रकृति ने यह मान्य किया कि मृत्यु जैसा बड़ा ऑपरेशन हो और मूर्च्छा न हो तो आदमी मृत्यु के झटके को कैसे सहेगा, इसीलिए मृत्यु से पूर्व कोई दो घंटा पहले, कोई चार घंटा पहले, कोई दो दिन पहले, कोई चार दिन पहले बेहोशी में चला जाता है कि अब ऑपरेशन होने वाला है समूचे शरीर का, मौत आने वाली है। केवल वही व्यक्ति बेहोशी में नहीं जाता, जो जागृति की साधना कर चुका है।

ऑपरेशन से पूर्व सबको बेहोश करना होता है, पर जो व्यक्ति जागृति की साधना कर चुका है, उसे किसी मूर्च्छा में ले जाने वाली औषधि की जरूरत नहीं, इंजेक्शन की जरूरत नहीं, बिजली के झटके की भी जरूरत नहीं।

चांदमलजी बैद एक बड़े श्रावक थे। वे राजलदेसर के थे। बड़े आध्यात्मिक व्यक्ति थे। उनके 'अदीठ' का ऑपरेशन था। वे ध्यान की मुद्रा में बैठ गए और डॉक्टरों से कहा–'आपको जो करना है, वह करें। जितना करना है, उतना करें। मैं बैठा हूं।' डॉक्टरों ने कहा–'यह कैसे संभव है? इतना बड़ा ऑपरेशन बिना अचेत किए, बिना मूर्च्छा लाए, यह कैसे होगा? आप उस कष्ट को कैसे सहेंगे?' उन्होंने कहा–'मैं ध्यान में बैठ जाता हूं। आप चिंता न करें। जो करना है, करें।' वैसा ही किया। वे ध्यान में बैठे रहे और ऑपरेशन कर दिया गया।

जागृति भीतर की

जोधपुर में श्रीकालूगणी का चातुर्मास था। मुनि कुंदनमलजी के मसे का ऑपरेशन होना था। वे सो गए। मुनि चौथमलजी (उनके बड़े भाई) और मुनि सोहनलालजी मसे को काटने लगे। मुनि कुंदनमलजी ने कहा–'संतो! देखो, पूरा ध्यान रखना। काम अधूरा न रह जाए। जितना काटना हो, पूरा का पूरा काट

देना।' यह एक स्थिति है। मूर्च्छित हुए बिना, जागृत रहते उस कष्ट को झेल लेना तभी संभव होता है जब भीतर में कुछ जाग जाए।

काशी नरेश का ऑपरेशन होना था। डॉक्टरों ने बेहोशी के लिए सुंघनी सुंघानी चाही। नरेश ने मनाही कर दी। उन्होंने कहा–'मुझे गीता ला दो। मैं गीता पढ़ता रहूंगा और आप अपना काम करते रहना।' वे गीता पढ़ने लग जाते, तब ऐसी दुनिया में चले जाते कि फिर शरीर में क्या घटित हो रहा है, उन्हें कोई भान नहीं रहता। हम भीतर में ऐसी ज्योति जला देते हैं कि उसके जलने के बाद फिर शरीर में क्या घटित होता है, कुछ भी ज्ञात नहीं होता। जो घटित होता है, वह होता है। ये जागृति के क्षण हमारे जीवन में आ जाते हैं, फिर हम मूर्च्छित नहीं होते। 'मृत्यु-विजय' की यह बहुत बड़ी साधना है। जो आदमी मृत्यु के क्षण में मूर्च्छित नहीं होता, जो जागते-जागते मौत का वरण करता है, वह सचमुच कुछ पा लेता है।'

उदाहरण इच्छामृत्यु का

हमारे संघ की एक घटना है। एक मुनि थे। वे बड़े तपस्वी थे। उन्होंने छब्बीस वर्षों तक मास-मास की तपस्या की, प्रतिवर्ष मासखमण करते थे। वे तेरापंथ के चौथे गणी श्रीमज्जयाचार्य के बड़े भाई मुनि भीमराजजी के साथ थे। मुनि भीमराजजी का देहावसान हो गया। लोग दाह-संस्कार के लिए ले गए। तपस्वी मुनि ने अन्य मुनियों को बुलाकर कहा–'देखो, मैं जिनके साथ वर्षों तक रहा, वे आज चल बसे। वे ही चले गए तो मुझे यहां क्यों रहना चाहिए? संतो, संभालो ये पुस्तक-पन्ने। मैं तो जा रहा हूं।' इतना कहकर वे स्वर्गस्थ हो गए। उन्होंने मृत्यु का वरण कर लिया। लोग दाह-संस्कार कर लौटे ही नहीं थे कि एक मुनि और चल बसे। यह है इच्छामृत्यु, संकल्प-मृत्यु। यह मृत्यु वैसे व्यक्ति की होती है, जो जागृत अवस्था में मरता है, पूर्ण जागरूकता में मरता है।

एक बहुत बड़ा साधक हुआ है। उसने कहा कि लोग बेहोशी में मरते हैं। मैं बेहोशी में नहीं मरूंगा। मैं चलते-चलते मरूंगा। एक दिन उसने देखा कि मौत आ रही है। मृत्यु का क्षण जब निकट आया तब वह घूमने लगा। घूमते-घूमते उसकी मृत्यु हो गई। बहुत सारे लोग बेहोशी में मरते हैं, सोते हुए मरते हैं। ऐसे लोग कम होते हैं जो बैठे हुए, खड़े हुए, चलते हुए मरते हों, जागृत अवस्था में मरते हों। आचार्य भिक्षु की मृत्यु पद्मासन की मुद्रा में हुई। वे पूर्ण जागृत थे। प्रमाद में नहीं थे। वे सुप्त अवस्था में भी जागृत रहने वाले व्यक्ति थे। मृत्यु के समय जागृत वही व्यक्ति रह सकता है, जिसने जागृति और सुषुप्ति के बिंदु को पकड़ लिया है।

हमारा साधना का अभ्यास चल रहा है। उस साधना के अभ्यास में हमने देखने का संकल्प किया और जागृत रहने का संकल्प किया। हम देखें और जागृत रहें। देखने और जागने का संकल्प है। यह देखने और जागने का संकल्प ही एक दिन उस ज्योति को जगा देगा, फिर चाहे कोई बीमारी आए, मृत्यु आ जाए, वह ज्योति बुझेगी नहीं। उसे कभी बेहोशी नहीं आएगी, कभी प्रमाद नहीं आएगा और जागृति कभी खंडित नहीं होगी।

उस स्थिति को प्राप्त करने के लिए ही हमारा यह प्रयत्न है, किंतु आप ध्यान रखें, ज्योति जलने से पूर्व ही आप सो न जाएं। यह एक समस्या है। इस समस्या के प्रति हमारी जागरूकता नहीं होगी तो हम उस स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। इसके लिए बहुत दौड़-धूप करने की आवश्यकता नहीं है, भटकने की जरूरत नहीं है, किसी के पास जाने की जरूरत नहीं है। इसे स्वयं करना है। हम आत्मा को स्वयं देखें। हम सत्य की खोज स्वयं करें। यही मार्ग है।

बोलने वाला आपको आत्मा दिखा नहीं सकता। आप स्वयं प्रयत्न करेंगे तो ही आत्मा का साक्षात् कर सकेंगे। आप दुनिया के किसी कोने में चले जाएं, कोई भी आपको सत्य नहीं दे सकेगा। सत्य की खोज आपको ही करनी होगी। दूसरा व्यक्ति कुछ संकेत कर सकता है, इशारा कर सकता है, रास्ता दिखा सकता है, पर प्रयत्न आपको ही करना होगा, चलना आपको ही पड़ेगा। यह आपके प्रयत्न पर निर्भर है, आपकी निष्ठा पर निर्भर है, आपकी एकाग्रता और तन्मयता पर निर्भर है। यह इस पर निर्भर है कि आप मूर्च्छा को कितना तोड़ते हैं, उस बिंदु को कितना समझते हैं और जागृति की लौ को कितना प्रज्वलित करते हैं। इस लौ को उस बिंदु पर ले जाते हैं, जहां यह निरंतर प्रज्वलित रहे, बुझे नहीं। इस स्थिति में ही यह बात सार्थक हो सकती है। **भारुण्ड-पक्खी व चरप्पमत्तो**–भारंड पक्षी की भांति सदा जागरूक रहो। आत्मा की रक्षा करनी है, अपने आपको बचाना है तो जागरूक रहो।

महावीर की वाणी के संदर्भ में हमने जिस सचाई को समझा है, जिस सचाई का अनुशीलन किया है, अभ्यास किया है, उस सचाई को याद रखें और अभ्यास की इस धारा को सतत प्रवहमान रखें। मुझे विश्वास है कि हम एक दिन उस ज्योति को प्रज्वलित कर सकेंगे, जिस ज्योति को न बीमारी का झोंका बुझा पाएगा और न मृत्यु का भयंकर बवंडर और तूफान ही उसे नष्ट कर पाएगा।

9. अनुप्रेक्षा

प्रेक्षाध्यान की पद्धति में हमने तीनों तत्त्वों का आलंबन लिया है। वे तीन तत्त्व हैं– श्वास, ध्वनि और शरीर। श्वास सहज है और स्वाभाविक है। ध्वनि काल्पनिक है, कृत है। शरीर सहज है, स्वाभाविक है। हमने स्वाभाविक का ही आलंबन नहीं लिया है, कृत और कल्पना का भी आलंबन लिया है। मैं सोचता हूं कि वह आवश्यक भी है। इसे अनावश्यक नहीं कहा जा सकता। इन तीनों आलंबनों के विषय में हमने समय-समय पर चर्चा की है और हम जो कर रहे हैं, उसे समझने का प्रयत्न किया है। आज हम ध्वनि के विषय में चर्चा करेंगे। मैं इस चर्चा का प्रारंभ एक छोटी-सी कहानी से करना चाहूंगा।

धारणा न बनाएं

एक आदमी तालाब के किनारे घूमने जाया करता था। यह उसका प्रतिदिन का काम था। पानी में उसका प्रतिबिंब पड़ता। तालाब में मछलियां थीं। एक मछली ने पानी में पड़े आदमी के प्रतिबिंब को देखा। उसने देखा–सिर नीचे है, पैर ऊपर हैं। एक दिन देखा, दो दिन देखा, दस दिन देखा। उसकी धारणा दृढ़ हो गई। उसने जान लिया कि आदमी वह होता है, जिसका सिर नीचे और पैर ऊपर होते हैं। एक दिन वह आदमी तालाब के किनारे घूम रहा था। मछली पानी की सतह पर आई। उसने आदमी को देखा तो उल्टा दीखा। आदमी का सिर ऊपर है और पैर नीचे। उसने सोचा कि आदमी संभवतः शीर्षासन कर रहा है, अन्यथा आदमी ऐसा नहीं हो सकता। आदमी वह होता है, जिसका सिर नीचे और पैर ऊपर होते हैं। आज इसका सिर ऊपर है और पैर नीचे, तो अवश्य ही यह कोई उल्टी क्रिया कर रहा है, विपरीत क्रिया कर रहा है, शीर्षासन कर रहा है। उसकी धारणा मजबूत हो गई।

यह हालत केवल मछली की ही नहीं है, हम सबकी यही हालत है। सिर ऊपर है, उसे हम नीचे देख रहे हैं और पैर नीचे हैं, उन्हें हम ऊपर देख रहे हैं।

हमने यह धारणा बना रखी है कि जिसके पैर ऊपर होते हैं और सिर नीचे होता है, वह आदमी है और जिसका सिर ऊपर होता है और पैर नीचे होते हैं, वह आदमी नहीं है, बनावटी है। न जाने इस प्रकार की कितनी ही धारणाएं हमने बना रखी हैं। उन सारी मिथ्या धारणाओं, मिथ्या कल्पनाओं को तोड़ने के लिए प्रेक्षाध्यान पद्धति में अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया जाता है। दो शब्द हैं। एक है प्रेक्षा और एक है अनुप्रेक्षा। मैं बहुत दिनों से सोचता था कि प्रेक्षा के पीछे 'अनु' का प्रयोग क्यों किया गया है? इस पर सोचते-सोचते जो एक बात सूझी, वह यह है जो सचाई है, उसे देखना अनुप्रेक्षा है।

सचाई को देखो। उसे अपनी धारणा से मत देखो। मछली ने धारणा बना ली कि आदमी वह होता है, जिसका सिर नीचे और पैर ऊपर होते हैं। इसी धारणा से वह आदमी को देखती थी। वह अनुप्रेक्षा नहीं है। अपनी धारणा से मत देखो। संस्कार की दृष्टि से मत देखो। काल्पनिक दृष्टि से मत देखो। केवल सचाई से देखो। वास्तविकता को देखो। यथार्थ को देखो। जो सत्य है, जो घटना घटित हो रही है, उसी को देखो।

अनुप्रेक्षा का अर्थ है–**सत्यं प्रति अनुप्रेक्षा**–अर्थात् सत्य के प्रति अनुप्रेक्षा, यथार्थ के प्रति अनुप्रेक्षा, वस्तु के प्रति अनुप्रेक्षा। उधारी धारणा से काम मत लो, किंतु जो घटना है, जो वास्तविकता है, जो सचाई है, उसी को देखो। अनुप्रेक्षा का तात्पर्य है कि हम अपनी धारणाओं को एक बार निकाल दें। अपनी पूर्ण मान्यताओं को छोड़ दें और जो सचाई है, यथार्थ है, उसको देखें। प्रेक्षाध्यान पद्धति से अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया जाता है। यह इसीलिए किया जाता है कि हम रूढ़ियों को, संस्कारों को, धारणाओं को छोड़कर, वास्तव में सचाई को देखना सीख सकें। यह सबसे बड़ी कठिनाई है कि मनुष्य सचाई को नहीं देखता। वह सबसे पहले अपनी धारणाओं का चश्मा लगा लेता है और बाद में देखता है। यदि वह ठीक नहीं जंचता है तो वह उसे तोड़ने-मोड़ने का प्रयत्न करता है।

अनुप्रेक्षा क्या?

अनुप्रेक्षा का सिद्धांत यथार्थ में सत्य के दर्शन का सिद्धांत है, सत्य के लिए समर्पित हो जाने का सिद्धांत है। सत्य के लिए पूर्णरूपेण समर्पित हो जाओ। अपनी किसी भी धारणा को महत्त्व मत दो। जो सचाई है, उसे ग्रहण कर स्वीकार करो। यह है अनुप्रेक्षा।

यह सारा संसार प्रकंपनों का संसार है। कंपन, कंपन और कंपन। प्रकृति में इतना तीव्र आंदोलन हो रहा है कि हमें आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। इतना बड़ा आंदोलन है कि यदि हम प्रकंपनों को देखने लग जाएं, सुनने लग जाएं तो हमारे इस शारीरिक अस्तित्व को ही खतरा हो जाए। यह तो अच्छा है कि हमारे कान के पर्दे ऐसे बने हुए हैं कि वे सारे प्रकंपनों को पकड़ते नहीं, बहुत थोड़े-से प्रकंपनों को पकड़ते हैं। यदि वे सारे प्रकंपनों को पकड़ने लग जाएं तो आदमी एक ही दिन में समाप्त हो जाए। वह जी ही नहीं सकता। इतने भयंकर शब्द हैं, इतनी भयंकर ध्वनियां हैं कि हम उन्हें सुन नहीं सकते, सह नहीं सकते। हम मुश्किल से कुछ ही डेसीबल ध्वनि को स्वीकार करते हैं, सुनते हैं। दुनिया में बहुत सारी ध्वनियां होती हैं। हम उन्हें बरदाश्त ही नहीं कर सकते। हम चिंतन करते हैं तो प्रकंपन की एक धारा छोड़ देते हैं। हम बोलते हैं तो प्रकंपन की एक धारा छोड़ देते हैं। हम चलते हैं तो प्रकंपन की एक धारा छोड़ देते हैं। आज जो जीवित हैं, वे ही नहीं छोड़ते, किंतु इस दुनिया में जो लोग हुए हैं, हजारों-हजारों वर्ष पहले हुए हैं, उन्होंने अपने प्रकंपनों का जाल बिछा रखा है, हमारे गुरुत्वाकर्षण की सतह पर पुराने लोगों के प्रकंपनों का इतना बड़ा जाल बिछा हुआ है कि आज उनका लेखा-जोखा करना भी कठिन है, किंतु आज का विज्ञान ऐसा नहीं है कि वह किसी बड़ी चीज का लेखा-जोखा न कर सके। विज्ञान सभी गूढ़ रहस्यों को अनावृत करने में लगा हुआ है।

कुछ वैज्ञानिक उन प्रकंपन को पकड़ने में अनवरत प्रयत्नशील हैं। वे जानते हैं कि इस गुरुत्वाकर्षण की सतह पर हजारों-हजारों वर्ष पहले के लोगों के चिंतन के प्रकंपन जमे हुए हैं। उन लोगों ने जो बोला, प्रकंपन आज भी जमे हुए हैं। वैज्ञानिक ऐसा उपाय ढूंढ़ रहे हैं, ऐसा यंत्र बनाने में संलग्न हैं, जिसके माध्यम से उन सारे प्रकंपनों को पकड़ सकें, उनके चिंतनों और विचारों को समझ सकें, पढ़ सकें। इस माध्यम से वे यह परखना चाहते हैं कि महावीर की, बुद्ध की, क्राइस्ट की वाणी आज जगत में उपलब्ध है, वह सही है या नहीं, जैसे उपलब्ध है वैसी ही है या नहीं। वे जानना चाहते हैं कि वाणी के प्रकंपन यह साक्षी देते हैं कि महावीर ने, बुद्ध ने, क्राइस्ट ने यही कहा था। इस विधि से यह जान लिया जा सकता है कि काल की इस लंबी अवधि में उनके भक्तों ने उस वाणी में क्या-क्या जोड़ा, क्या-क्या निकाला? क्या मूल है और क्या मिश्रण है? वे परीक्षा करना चाहते हैं, जांच करना चाहते हैं। यह प्रयत्न चल

रहा है। यह केवल कल्पना की उड़ान नहीं है। यह तथ्य है, यथार्थ है। आज विज्ञान इतना आगे बढ़ चुका है कि उसके लिए कुछ भी काल्पनिक नहीं रहा। वह आज हमारी कल्पनाओं को साकार किए चल रहा है। उसके पास सूक्ष्मतम उपकरण हैं, साधन हैं।

प्रकंपन का प्रभाव

प्रकंपन केवल हम ही पैदा नहीं कर रहे हैं, सारी दुनिया के वायुमंडल को केवल हम ही आंदोलित नहीं कर रहे हैं, पहले से ही वह आंदोलित है, प्रकंपित है। हमारे प्रकंपन उनमें ही समाविष्ट होते जा रहे हैं। वायुमंडल में जमते जा रहे हैं।

बहुत पुरानी बात है। मैं एक प्राचीन ग्रंथ 'विशेषावश्यक भाष्य', पढ़ रहा था। उसमें एक स्थान पर मैंने पढ़ा कि हमारा जो निःश्वास निकलता है, वह सर्वत्र फैलता है। पास में तालाब है तो वह निःश्वास-वायु उस तालाब में जाती है और पानी के जीवों को पीड़ा पहुंचाती है, उन्हें क्षुब्ध करती है। हम जब कपड़ा फाड़ते हैं तब सूक्ष्म रोएं हवा के माध्यम से सर्वत्र फैल जाते हैं और जीवों की घात करते हैं। ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि सचित्त वनस्पति पर अनिमेष ध्यान नहीं करना चाहिए, क्योंकि अनिमेष ध्यान की धारा के साथ हमारी जो चुंबकीय विद्युत बाहर निकलती है, वह सजीव पौधों के जीवों को पीड़ित करती है, उन्हें पीड़ा पहुंचाती है। इसलिए यह निषेध किया गया है कि सचित्त वस्तु पर ध्यान नहीं करना चाहिए। अचित्त वस्तु पर ध्यान करना चाहिए।

जैन आगमों में उल्लेख है कि मुनि को शुद्ध पृथ्वी पर नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि बैठने वाले के पुतों की गर्मी, शरीर की गर्मी से पृथ्वी के जीवों को पीड़ा पहुंचती है। इसलिए मुनि को कोरी भूमि पर नहीं बैठना चाहिए। कितना सूक्ष्म विवेक है! कपड़ा फाड़ते समय निकलने वाले रोओं से प्राणियों का आघात होता है, यह बात समझ में आने वाली नहीं थी, किंतु जब विज्ञान की उपलब्धियों, खोजों और अन्वेषणों के संदर्भ में उसे समझने का प्रयत्न किया तो लगा कि हमारे प्राचीन आचार्यों ने जो लिखा है, वह सचमुच अपने अतीन्द्रिय ज्ञान की क्षमता से लिखा है। उन्होंने देखा था, साक्षात् किया था, अनुभव किया था और उसी के आधार पर लिखा था, किंतु मनुष्य की यह कठिनाई सदा रही है। एक आदमी तीसरी मंजिल पर खड़ा है और दूसरा आदमी चौराहे पर खड़ा है। तीसरी मंजिल पर खड़ा व्यक्ति नीचे खड़े व्यक्ति से कह रहा है–'अरे, बस आ रही है, गाड़ी आ रही है, अमुक आदमी आ

रहा है।' नीचे वाला कहता है–'तुम झूठ कह रहे हो। कहां है बस, गाड़ी या आदमी? कुछ भी तो दिखाई नहीं देता।

दोनों सही हैं। ऊपर वाला भी सही है और नीचे वाला भी सही है। झूठा वह भी नहीं है और झूठा यह भी नहीं है। यह केवल भूमिका-भेद है। तीसरी मंजिल पर खड़े आदमी को दूर से आती हुई बस भी दिखाई देती है, गाड़ी भी दिखाई देती है और आदमी भी दिखाई देता है, किंतु नीचे धरातल पर खड़े आदमी को न दूर से आती हुई बस दिखाई देती है, न गाड़ी दिखाई देती है और न आदमी दिखाई देता है। दोनों का ज्ञान सही है। जो कहता है दिखाई दे रहा है, उसकी बात में भी सचाई है। जो कहता है कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा है, उसकी बात में भी सचाई है। झूठ दोनों नहीं हैं। केवल भूमिका-भेद है।

भूमिका-भेद को समझें

हमारे जीवन में भी भूमिका का भेद है। जिन लोगों ने अतीन्द्रिय ज्ञान की गहराइयों में जाकर, चेतना के अंतस्तल में जाकर जिन सत्यों की उद्घोषणा की थी, जिन तथ्यों को अभिव्यक्ति दी थी और जिन रहस्यों का उद्घाटन किया था, उन सत्यों को नकार सकते हैं और कह सकते हैं कि ऐसा नहीं है। जिस भूमिका पर स्थित होकर ये उद्घोषणाएं की गई थीं, सत्य उद्घाटित किए गए थे, उस भूमिका तक हमारी पहुंच नहीं है। वह भूमिका बहुत ऊंची है। हम अभी नीचे के धरातल पर खड़े हैं। धरातल पर खड़ा आदमी उन सत्यों को नकार सकता है, नकारता है। यह उसका दोष नहीं है। उसे बुरा नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह आदमी जिस भूमिका पर है, जिस धरातल पर है, उस धरातल पर खड़े व्यक्ति का निर्णय वही हो सकता है, इससे भिन्न नहीं हो सकता। जो आदमी ऊंची भूमिका पर है, उसका निर्णय भी वही हो सकता है, जिसकी उद्घोषणा उसने की है। उसका निर्णय भिन्न नहीं हो सकता। यदि मेरे सामने की खिड़कियां खुली हैं और मैं खड़ा हूं तो मैं बाहर के सारे दृश्य देखकर कह सकता हूं कि मुझे पहाड़ी दिखाई दे रही है, पेड़ दिखाई दे रहा है, मंदिर का ध्वज दिखाई दे रहा है, बालू का टीला दिखाई दे रहा है। यह कथन यथार्थ होगा, वास्तविक होगा, किंतु जो आदमी बैठा है, खिड़की की निचाई में है, उसे न पहाड़ी दिखाई दे रही है, न पेड़ दिखाई दे रहा है, न मंदिर का ध्वज दिखाई दे रहा है और न बालू का टीला दिखाई दे रहा है। वह कहेगा कुछ भी नहीं है। वह अस्वीकार करेगा। इसे नकारने में उसका कोई दोष नहीं है।

इस भूमिका-भेद को समझकर यदि हम चलें तो यह समझ में आ जाएगा कि सूक्ष्म जगत और स्थूल जगत की जो भिन्न-भिन्न मान्यताएं और धारणाएं हैं, वे अकारण नहीं हैं। उनके पीछे कारणों की लंबी शृंखला है। उन कारणों को हम समझें और अनुप्रेक्षा के लिए अपने आपको समर्पित कर दें। हम प्रेक्षाध्यान के प्रयोग के द्वारा, अभ्यास के द्वारा अपना एक ऐसा संस्कार निर्मित कर लें कि हम सत्य के लिए समर्पित हैं। धारणा को बीच में न लाएं। उसे हस्तक्षेप न करने दें। जो जैसा है, उसे उसी रूप में स्वीकार करें तो हमारा साधना-मार्ग प्रशस्त होगा, स्पष्ट होगा। साधना में सबसे बड़ी बाधा आती है असत्य की, मिथ्या धारणाओं की, मिथ्या कल्पनाओं की। इन्हें एक बार तोड़ना है।

पुरानी धारणा को तोड़ने के लिए नई धारणा का निर्माण करना होगा, पुराने संस्कार को तोड़ने के लिए नए संस्कार का निर्माण करना होगा और पुरानी कल्पना को तोड़ने के लिए नए कल्पना का निर्माण करना होगा। प्रश्न हो सकता है कि जब तोड़ना ही है तो फिर नए का निर्माण क्यों? यह बहुत ही स्वाभाविक प्रश्न है। हम इस बात को मानकर चलें कि अंततः हमें सारी धारणाओं को तोड़ देना है, सारी कल्पनाओं और सारे संस्कारों को तोड़ देना है, किंतु तोड़ने की प्रक्रिया इतनी सीधी और सरल नहीं है। इसके बीच में इतने व्यूह आते हैं कि उनसे भी हमें निपटना पड़ता है। एक संस्कार को तोड़ने के लिए दूसरे नए संस्कार का निर्माण करना ही पड़ता है। क्रोध के संस्कार को तोड़ने के लिए क्षमा के संस्कार का निर्माण करना होता है। लोभ के संस्कार को तोड़ने के लिए संतोष के संस्कार का निर्माण करना होता है। एक संस्कार को तोड़ने के लिए दूसरे संस्कार का निर्माण करना होता है।

ध्वनि का प्रभाव

अनुप्रेक्षा में ध्वनि का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि हम एक संस्कार को तोड़कर दूसरे संस्कार का निर्माण कर सकें। इस स्थिति में हमें ध्वनि के महत्त्व का भी अंकन करना है। ध्वनि प्रकंपन है। जैसे ही हम बोलते हैं, वैसे ही ध्वनि की तरंगें उत्पन्न होती हैं। वे तरंगें वायुमंडल में फैल जाती हैं। ऊपर-नीचे, दाएं-बाएं चारों ओर ध्वनि के प्रकंपन फैल जाते हैं। वे प्रकंपन दूसरी वस्तुओं से टकराते हैं, दूसरों को प्रभावित करते हैं और दूसरों पर अपना असर छोड़ते हैं। हम भी ऐसे ही प्रभावित होते हैं।

यह संक्रमण का जगत है। यहां कोई भी व्यक्ति अपने आपको संक्रमण

से बचा नहीं सकता। रूस में क्रांति हुई। लोग कहते हैं कि लेनिन ने क्रांति की, उसके साथियों ने क्रांति की, किंतु अब रूस के वैज्ञानिक कुछ नई बातें कह रहे हैं। वे कहते हैं कि न लेनिन ने क्रांति की और न उसके साथियों ने। सूर्य में विस्फोट हुआ और यहां क्रांति घटित हो गई। इस क्रांति का मूल कारण सूर्य का विस्फोट है, न कि मनुष्य। मनुष्य क्रांति का कारण नहीं है। सूर्य पर जब-जब विस्फोट होते हैं, तब-तब मनुष्य का मस्तिष्क प्रभावित होता है। जिस वर्ष सूर्य में भयंकर विस्फोट होते हैं, उस वर्ष पृथ्वी पर भयंकर बीमारियां, भयंकर तूफान और भयंकर भूकंप आते हैं। परस्पर भयंकर युद्ध और संघर्ष होते हैं। इस प्रकार ये सारे संघर्ष, ये सारे तूफान, ये सारी बीमारियां, ये क्रांतियां सूर्य का विस्फोट कराता है, न कि मनुष्य उन्हें करता है। हम अनेक चीजों से प्रभावित होते हैं। कहीं कुछ घटित होता है और हम प्रभावित हो जाते हैं। हम दूसरों को प्रभावित करते हैं और स्वयं दूसरों से प्रभावित होते हैं।

संक्रमण के इस जगत में कोई भी संक्रमण से बच नहीं सकता। कहीं कोई सुरक्षा का ऐसा कवच नहीं है कि मनुष्य उस संक्रमण से, उस प्रभाव से अपने आपको बचा सके और अपने आपको सुरक्षित रख सके।

अनित्य अनुप्रेक्षा

ध्वनि एक कवच का काम भी करती है। हम दूसरे से कम प्रभावित हों, इसके लिए ध्वनि का कवच बना सकते हैं। रोज पश्चिम रात्रि का समय आता है और अनित्य अनुप्रेक्षा का क्रम प्रारंभ हो जाता है। सब लोग बैठते हैं और संकल्प होता है कि अनित्य अनुप्रेक्षा करनी है। सब शांत और जागृत। सब शांत और सचेत।

उसका पहला सूत्र है–**इमं सरीरं अणिच्चं**–यह शरीर अनित्य है। इस सूत्र की ध्वनि के साथ हम अनित्य अनुप्रेक्षा का प्रारंभ करते हैं।

दूसरा सूत्र है–**इमं सरीरं चयावचयधम्मयं**–यह शरीर चय-अपचयधर्मा है। इसका चय होता है, अपचय होता है। यह पुष्ट होता है, क्षीण होता है।

तीसरा सूत्र है–**इमं सरीरं विपरिणामधम्मयं**–यह शरीर विपरिणामधर्मा है। इसमें विविध परिणमन होते हैं, नाना प्रकार के परिवर्तन होते हैं। कभी सर्दी से परिवर्तन होता है, कभी गर्मी से परिवर्तन होता है। कभी भोजन से परिवर्तन होता है, कभी दूसरे के संतापी पुद्गलों से परिवर्तन होता है। कभी बीमारी से परिवर्तन होता है तो कभी हमारी स्वयं की भावना से भी परिवर्तन हो जाता है। इन विविध

परिवर्तनों को हम ध्वनि के माध्यम से अनुभव कर सकते हैं, देख सकते हैं, साक्षात् कर सकते हैं। ध्वनि के साथ संकल्प का विकास भी आवश्यक है।

हिमालय की बर्फ पर साधक नग्न होकर बैठा है। चारों ओर बर्फ ही बर्फ है। वह गर्मी का प्रयोग आरंभ करता है। घंटा बीतता है, दो घंटे बीतते हैं और साधक के शरीर से पसीना चूने लगता है। बर्फ पर पसीना चूने लग जाता है। यह प्राकृतिक घटना नहीं है। यदि प्राकृतिक घटना होती तो एक ही आदमी के शरीर से पसीना नहीं चूता, वहां जितने आदमी होंगे, सबके शरीर से पसीना चूएगा, पर एक ही आदमी के शरीर से पसीना चूता है और दूसरे सब सर्दी में ठिठुरते हैं। यह प्राकृतिक घटना नहीं है, ध्वनि का प्रयोग है, संकल्प का प्रयोग है और भावना का प्रयोग है। यह भावनात्मक परिवर्तन है, प्राकृतिक परिवर्तन नहीं है।

गर्मी के दिन हैं। भयंकर गर्मी पड़ रही है। लूएं चल रही हैं। साधक सर्दी की भावना करता है, सर्दी का संकल्प करता है और शरीर में सर्दी व्याप्त हो जाती है। वह ठिठुरने लगता है। वह कंबल ओढ़ता है, फिर भी ठिठुरन समाप्त नहीं होती। यह प्राकृतिक परिवर्तन नहीं है, भावनात्मक परिवर्तन है।

एक आदमी आज भी जीवित है, जो प्रति शुक्रवार को क्रॉस पर चढ़ता है। उसके दोनों हाथों में घाव हो जाते हैं। रक्त बहने लग जाता है। हृदय से भी रक्त बहने लगता है। शुक्रवार को ही ऐसा होता है। यह भावनात्मक परिवर्तन है। वह व्यक्ति ईसामसीह का संकल्प करता है और ऐसा घटित हो जाता है।

पैर में बिवाई फटती है, पीड़ा होती है। बिवाई फटने का मौसम तो नहीं है, किंतु आप भावनात्मक प्रयोग करें। बिवाई फटे या न फटे, दर्द प्रारंभ हो जाएगा। यदि भावना से दर्द हो सकता है तो भावना से दर्द मिट भी सकता है। दोनों बातें घटित हो सकती हैं।

शरीर विपरिणामधर्मा है। इसमें विविध परिणमन होते हैं। हम देखें कि शरीर में विविध परिणमन किन कारणों से, किस प्रकार से हो रहे हैं।

हमारा चौथा सूत्र है–**इमं शरीरं जरामरणधम्मयं**–यह शरीर जरामरणधर्मा है। इसमें जरा घटित होती है, मृत्यु घटित होती है। हम मृत्यु का अनुभव करें। हम शरीर को इतना ढीला छोड़ दें कि ऐसा लगे, मानो मृत्यु का अनुभव हो रहा है। ऐसा होता है तो मृत्यु का अनुभव होने लगता है। यह प्राकृतिक परिवर्तन नहीं है। मृत्यु घटित नहीं हो रही है। यह भावनात्मक परिवर्तन है। भावनात्मक परिवर्तन के

द्वारा, भावना की अत्यंत तीव्रता और सघनता के द्वारा हम उस स्थिति का अनुभव कर सकते हैं, जो स्थिति बहुत समय के बाद घटित होने वाली है।

यह है अनित्यता की अनुप्रेक्षा। जो घटित हो रहे हैं, जो घटित कर रहे हैं, उसे हम देखते हैं। इसमें ध्वनि का बहुत बड़ा योग है। इसीलिए हमने ध्वनि का आलंबन स्वीकार किया है, कल्पना का आलंबन स्वीकार किया है। हम एक सीमा तक ध्वनि और कल्पना के आलंबन की उपेक्षा नहीं कर सकते। आलंबन हमें लेना ही होता है।

सूक्ष्म की ओर चलें

अर्हं के जप में ध्वनि के साथ अर्हं की भावना करते हैं, फिर सूक्ष्म ध्वनि के साथ अर्हं की भावना करते हैं, फिर अर्हं की मानसिक भावना करते हैं। प्रत्येक स्तर पर अलग-अलग अनुभूति होती है।

मैंने एक दिन कहा कि इस तीव्र ध्वनि को बंद कर दें। एक बार उस प्रयोग को स्थगित कर दें, किंतु कुछेक लोगों ने कहा कि यह प्रयोग तो चलना ही चाहिए, क्योंकि यह प्रिय लगता है, एकाग्रता सधती है, यह स्वाभाविक बात है। हम इस मानव स्वभाव को न भूलें कि दीर्घ या स्थूल आलंबन को छोड़कर, सूक्ष्म आलंबन की ओर हम सहसा हर किसी व्यक्ति को नहीं ले जा सकते। प्रेक्षाध्यान की पद्धति में इस वास्तविकता को ध्यान में रखा गया है कि साधक स्थूल से सूक्ष्म की ओर चले। स्थूल को देखते रहो, सूक्ष्म की बात पकड़ में नहीं आएगी। बहुत सारे लोग यह शिकायत करते हैं कि सहज श्वास पकड़ में नहीं आ रहा है, प्रकंपन पकड़ में नहीं आ रहे हैं। यह ठीक बात है। प्रारंभ में ऐसा नहीं होगा।

हमें यह ध्यान में रखना है कि हम जिस व्यक्ति को साधना के लिए प्रेरित कर रहे हैं, उसे साधनाकाल में ऊब न आए। निराशा न आए। यदि उसमें निराशा आएगी तो वह साधना कर नहीं सकेगा। यदि वह ऊब जाएगा तो संभव है, साधना ही छूट जाए और वह फिर कभी उसमें प्रविष्ट होने का नाम ही न ले। इसलिए बहुत आवश्यक है कि साधना करने वाले व्यक्ति में ऊब न आए, उसमें आकर्षण बना रहे, साधना के प्रति अनुराग क्रमशः पुष्ट होता चला जाए। इसलिए प्रारंभ में मैं स्थूल आलंबन को आवश्यक मानता हूं। यद्यपि यह आवश्यक है कि हम स्थूल पर रुकें नहीं। हमें सूक्ष्म तक पहुंचना है, किंतु

क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि साधारण आदमी सहसा स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म में चला जाए? ऐसे लोग विरल होते हैं, जो सीधे सूक्ष्म तक पहुंच जाएं।

एक साधक गुरु के पास आकर बोला–'मैं साधना करना चाहता हूं। आप मार्गदर्शन करें। आप बताएं कि मैं क्या करूं?' गुरु ने सुना। उसको झिड़कते हुए कहा–'मुझे पूछने आए हो कि क्या करूं? क्या तुम्हें दिखाई नहीं देता? क्या आंखें नहीं हैं तुम्हारे? क्या तुम्हें सुनाई नहीं देता? क्या कान नहीं हैं तुम्हारे?' साधक ने कहा–'आंखें हैं। मुझे दिखाई देता है। कान हैं। मैं सुन सकता हूं।' गुरु बोले–'फिर मुझे क्या पूछते हो? सामने क्या देख रहे हो?' 'पहाड़ी दिखाई दे रही है, साधक बोला।' 'क्या सुनते हो?' उत्तर मिला–निर्झर का शब्द सुनाई दे रहा है।' 'तो चले जाओ, पहाड़ी को देखो और निर्झर की ध्वनि को सुनो। यही साधना है, गुरु बोले।।'

साधक चला गया। वह पहाड़ी को देखता रहा। ध्वनि को सुनता रहा। देखते-सुनते वह अंतिम बिंदु पर पहुंच गया।

केवल देखें और जानें

मूल बात है देखना। अब चाहे हम शरीर को देखें, चाहे हम पहाड़ी को देखें, चाहे किसी फोटो को देखें। मूल मंत्र है देखने का अभ्यास करना। देखो और जानो। कुछ भी मत करो। केवल देखो। देखने के साथ और कुछ भी मत जोड़ो। केवल जानो। जानने के साथ और कुछ भी मत जोड़ो। मूल है जानना और देखना। अब चाहे हम शरीर को देखें, दीवार को देखें, क्या अंतर आएगा? कुछ भी नहीं। देखना देखना है।

गमनयोग

जैन आगम कहते हैं कि मुनि भूमि को देखता हुआ चले। यह पूरी की पूरी ध्यान की प्रक्रिया है। गमनयोग है। हम इस बात को पकड़ें। बहुत बड़ा सत्य इसके पीछे छिपा हुआ है। एक व्यक्ति और कोई साधना नहीं करता, केवल चलते समय यदि देखकर चलता है तो ध्यान की बहुत बड़ी साधना हो जाती है। यह साधना उसे बहुत आगे तक ले जाती है। उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लेख है कि साधक चलते समय गमनमय बन जाए। उसका सारा शरीरतंत्र, 'बस मैं चल रहा हूं,' गति बन जाए। जो आदमी गमनयोग का अभ्यास कर रहा है, देखकर चल रहा है, उस समय उसे आदमी नहीं कहना चाहिए, उसे गति कहना चाहिए। उसे गमन कहना चाहिए। केवल गमन, न कि आदमी। वह

गमन होगा। एवंभूतनय की दृष्टि से, शुद्ध नय की दृष्टि से पूछा जाए कि उस आदमी को तुम क्या कहोगे? क्या आदमी कहोगे? नहीं, बिल्कुल नहीं। वह आदमी कहां है, वह तो गति है। कोरा चल रहा है और कुछ नहीं है। न वहां इन्द्रिय का प्रयोग है और न मन का प्रयोग है। न वहां पांच इन्द्रियों का विषय है और न पांच प्रकार का स्वाध्याय है। न वाचना है, न पृच्छना है, न कोई प्रश्न है, न कोई पुनरावृत्ति है, न कोई अनुप्रेक्षा है और न कोई धर्मकथा है। न आंख का प्रयोग है और न कान का प्रयोग है। न देखना और न सुनना। जिस व्यक्ति में किसी भी इन्द्रिय का प्रयोग नहीं है, मन और मस्तिष्क का प्रयोग नहीं है, भाषा का प्रयोग नहीं है। शेष कुछ भी नहीं बचा। गति ही शेष रहती है। भाषा समाप्त, मन समाप्त, इन्द्रियों के विषय समाप्त। शेष क्या बचा? केवल गति, केवल गति। उसे और कुछ दिखाई नहीं देता। केवल भूमि ही भूमि दीख रही है। यह गमनयोग है।

हमें एक आलंबन लेना है। आप यह न मानें कि केवल श्वास का ही आलंबन है। ऐसा मानेंगे तो अनुप्रेक्षा नहीं होगी। यथार्थ की घटना नहीं होगी। श्वास का भी एक आलंबन है। यदि आप केवल गमन को ही आलंबन बना लें तो यह बहुत बड़ा आलंबन बन सकता है। हरिभद्रसूरी ने कहा है–**मोक्खेण जोयणाओ जोओ सव्वोऽवि धम्मवावारो**–मुक्ति देने वाला, दुःखमुक्त करने वाला सारा धर्म का व्यापार योग है। यह बहुत गहरी बात है। उन्होंने बहुत बड़े सत्य का उद्घाटन किया है। हम किसी को भी आलंबन बना लें, आखिर वह हमारा आलंबन बन जाएगा।

दूसरा आलंबन है–एक आदमी कुछ भी नहीं करता। न ध्यान करता है, न स्वाध्याय करता है, न और कुछ करता है। यदि वह केवल इस बात को पकड़ लेता है कि मैं केवल रोटी ही खाऊंगा और कुछ नहीं करूंगा। मैं समझता हूं कि उसे ध्यान का इतना लाभ मिल जाएगा, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकेंगे, वह सोचता है मैं केवल खाऊंगा और कुछ भी नहीं करूंगा। केवल खाना भी बहुत बड़ी साधना है।

10. रूपांतरण की प्रक्रिया

एक ग्रामीण शहर में आकर एक होटल में ठहरा। रात हुई। बत्ती जल रही थी। सोने का समय आया। उसने सोचा–दीये (बत्ती) को बुझा दूं। वह बल्ब के पास गया। फूंक मारी। दीया बुझा नहीं। दो मिनट बाद और तेज फूंक मारी। दीया नहीं बुझा। दो-चार बार फूंक मारी। दीया जलता ही रहा। हैरान होकर प्रकाश में ही सो गया। प्रभात हुआ। होटल का बैरा आया। ग्रामीण ने बैरे को कहा–'अरे! तुम्हारे यहां ये कैसे दीये? फूंक मारने पर बुझते ही नहीं। ये निकम्मे दीये हैं। मुझे सारी रात प्रकाश में ही काटनी पड़ी।' बैरा बोला–'महाशय! यह दीया नहीं है, बिजली है। यह फूंक से नहीं बुझती।' वह स्विच के पास गया, बटन दबाया और बिजली बंद हो गई।

ग्रामीण को पता नहीं था कि बिजली कैसे बुझती है, कैसे जलती है? वह केवल यही जानता था कि जो प्रकाश देता है, वह दीया है और वह फूंक मारने से बुझ जाता है।

जब तक हम नहीं जानते, तब तक न दीया जलाया जा सकता है और न बुझाया जा सकता है। कुछ भी नहीं हो सकता।

इसी प्रकार जाने बिना हम रूपांतरित भी नहीं हो सकते। हमारे पास कोई दूसरा उपाय नहीं है कि हम बदल जाएं, रूपांतरित हो जाएं। रूपांतरण का पहला सूत्र है जानना।

पहले ज्ञान फिर अभ्यास

दूसरा सूत्र है जानने के बाद अभ्यास करना। हमने यह विधि जान ली कि ऐसे नथुने से श्वास लिया जाता है, साथ में मन का संकल्प चलता है। भीतर तक पहुंचता है। यह भी जान लिया कि फिर दूसरे नथुने से श्वास निकाला जाता है, साथ-साथ मन का संकल्प भी चलता है, मन भी साथ-साथ चलता है। पूरा क्रम हमने जान लिया, समझ लिया, पर करते समय प्रमाद छा गया।

सक्रियता नहीं रही। अप्रमाद नहीं रहा। जागरूकता नहीं रही। कर्मण्यता नहीं रही। जानने मात्र से कुछ नहीं होगा। अभ्यास करना होगा। जैसे हमने जाना है, पूरी जागरूकता के साथ उस अभ्यास को दोहराना होगा। उस अभ्यास को बार-बार दोहराएंगे, तभी हमारा काम संपन्न होगा, अभ्यास सफल होगा। इसीलिए महावीर ने कहा–**विज्जा चरणं पमोक्खो**–ज्ञान और आचरण, दोनों मिलकर ही दुःख से मुक्ति दिला सकते हैं। दुःख की मुक्ति नहीं हो सकती जाने बिना और दुःख की मुक्ति नहीं हो सकती किए बिना। जानना जरूरी है तो करना भी जरूरी है। इसीलिए हम अभ्यास को दोहराएं। पूरी जागरूकता के साथ दोहराएं। इसीलिए अप्रमाद जरूरी है। जानना इसीलिए जरूरी है कि हम बिजली के सामने जाकर फूंक न मारें। जहां फूंक मारनी हो, वहां फूंक मारें और जहां बटन दबाना हो, वहां बटन दबाएं। जो जैसे करना हो, वैसे करें। वे दोनों बातें ठीक होंगी तो प्रकाश हो जाएगा, दरवाजे खुल जाएंगे, खिड़कियां खुल जाएंगी। अन्यथा कुछ भी नहीं होगा। न प्रकाश होगा, न दरवाजे खुलेंगे और न खिड़कियां खुलेंगी।

यह तब हो सकता है, जब हमारे मन में गहरी आकांक्षा उत्पन्न हो जाए। गहरी अभीप्सा उत्पन्न हो जाए कि यह करना मेरे लिए नितांत आवश्यक है। यह करके मैं स्वयं धन्य हो रहा हूं, उपकृत हो रहा हूं, लाभान्वित हो रहा हूं। इतनी गहरी आकांक्षा, अभीप्सा उत्पन्न हो तभी यह हो सकता है। गहरी आकांक्षा के लिए स्व-निरीक्षण बहुत अपेक्षित है। गहरी आकांक्षा के पीछे आत्मा का निरीक्षण होता है।

दृष्टि बदलो : जीवन बदलेगा

'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो'–यह वाक्य हम दोहराते रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि स्वदर्शन की भावना उत्पन्न हो, अपने आपको देखने की भावना उत्पन्न हो। अपने आपको हम देखेंगे तो गहरी आकांक्षा उत्पन्न होगी। आत्मा का दर्शन, अपने अस्तित्व का दर्शन और गहरी आकांक्षा–ये जब होते हैं तो हमारा दृष्टिकोण का परिवर्तन होता है। जीवन बदलता है, उससे पहले दृष्टि बदलती है। दृष्टि बदलती है तो जीवन बदल जाता है। दुनिया में जो है, वह है। अच्छा है तो अच्छा है, बुरा है तो बुरा है। जो है, उसमें हम कोई अदल-बदल नहीं कर सकते। यह सब चलेगा दुनिया में। आज तक उसे कोई नहीं बदल सका, मिटा नहीं सका और कोई नया बना नहीं सका। जो है, वैसे

चलता है, चलता रहेगा। जो आदमी अपनी दृष्टि को बदल लेता है, उसके लिए दुनिया बदल जाती है। जो अपनी दृष्टि को नहीं बदलता, उसके लिए दुनिया कभी नहीं बदलती।

एक गुरु थे। उनके दो शिष्य थे। वे उनकी परीक्षा करना चाहते थे। एक शिष्य को बुलाकर पूछा–'बताओ जगत कैसा है? तुम्हें जगत कैसा लग रहा है?' उसने कहा–'बहुत बुरा है यह जगत। सर्वत्र अंधकार ही अंधकार है। आप देखें, दिन एक होता है और रातें दो। दो रातों के बीच एक दिन । पहले रात थी। अंधेरा ही अंधेरा, फिर दिन आया। उजाला हुआ। प्रकाश हुआ, पर फिर रात आ गई। अंधेरा छा गया। एक बार उजाला, दो बार अंधेरा। अंधेरा अधिक, प्रकाश कम। यह है जगत।'

आचार्य ने दूसरे शिष्य से भी यही प्रश्न पूछा। उसने कहा–'गुरुदेव! जगत अच्छा है। प्रकाश ही प्रकाश है। रात बीती। उजाला हुआ। सर्वत्र प्रकाश फैल गया। प्रकाश आता है तो अंधकार चूर-चूर हो जाता है। वह सबकी मुंदी हुई आंखों को खोल देता है, यथार्थ को प्रकट कर देता है। जो अंधकार से आवृत था, उसे क्षणभर में अभिव्यक्ति दे देता है, अनावृत कर देता है। कितना सुंदर और लुभावना है यह जगत कि जिसमें ऐसा प्रकाश है। मैंने देखा-दिन आया, बीता, रात आई, बीती, फिर दिन आ गया। इस प्रकार दो दिनों के बीच एक रात। प्रकाश अधिक, अंधकार कम। दो बार उजाला, एक बार अंधेरा।'

प्रश्न एक था, उत्तर देने वाले दो थे। उत्तर दो प्रकार से दिए गए। एक ने कहा–दो रातों के बीच एक दिन होता है। दूसरे ने कहा–दो दिनों के बीच एक रात होती है। रात दोनों के लिए समान थी। दिन दोनों के लिए समान थे। न दिन में अंतर और न रात में अंतर। केवल दृष्टिकोण में अंतर था, देखने के तरीके में अंतर था। एक ने प्रकाश की चमक ज्यादा देखी, उसका मूल्यांकन किया। एक ने अंधकार अधिक देखा। वह उसी में उलझ गया। उसे लगा कि जगत में अंधकार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वह प्रकाश की चमक नहीं देख पाया, उसका मूल्यांकन नहीं कर पाया।

यह सारा दृष्टिकोण का ही परिवर्तन है। यदि हमारी दृष्टि विश्व के सौंदर्य को, सचाई को देखने में लग जाती है, तो हमें सर्वत्र यथार्थ ही दिखाई देगा, सौंदर्य-ही-सौंदर्य दिखाई देगा। यदि हमारी दृष्टि सारे विश्व में दुःख-ही-दुःख देखने लगती है तो हमारे आसपास दुःख नाचने लगेगा। सबकुछ दुःखमय लगेगा।

अनुभव करें यथार्थता का

हम पश्चिम रात्रि में अनित्य अनुप्रेक्षा का अभ्यास करते हैं, अनुभव करते हैं। शरीर अनित्य है, इस सचाई में भी आनंद का अनुभव होता है। शरीर चयापचयधर्मा है, कभी उसका चय होता है और कभी अपचय होता है। कभी यह पुष्ट होता है और कभी यह क्षीण होता है। शरीर क्षीण होता है, इसमें भी सचाई का बोध होता है। यह शरीर विपरिणामधर्मा है, विविध परिवर्तनों में से गुजरता है। कभी इस पर सर्दी का प्रभाव होता है, कभी गर्मी का, कभी आंधी-तूफान का। कभी यह बीमारी की यातना झेलता है, कभी परिस्थितियों से पीड़ित होता है। कभी कुछ, कभी कुछ घटित होता है। अनेक-अनेक परिवर्तनों में से यह गुजरता है। बीमारी हमें प्रिय नहीं होती, किंतु बीमारी की सचाई का अनुभव करना हमें सचमुच प्रिय होगा। बीमारी है, यह चर्चा हमें सचमुच सत्य की ओर ले जाती है, यथार्थ की ओर ले जाती है।

यह शरीर है। इसमें मृत्यु घटित होती है। इसमें बुढ़ापा आता है, आदमी मर जाता है। मृत्यु का अनुभव करना भी बहुत बड़ा आनंद है। इस अनित्य अनुप्रेक्षा के द्वारा हम जीते-जी मरना सीख लेते हैं और जो आदमी मरना सीख लेता है, वह सारी कठिनाइयों का पार पा जाता है। दुनिया में सबसे बड़ा भय है मौत का। यह अंतिम बात है।

आज तक दुनिया के शासकों ने दंड का विकास किया है। विविध प्रकार के दंड उपयोग में लाए जाते हैं–बांधना, जेल में डाल देना, हाथों में हथकड़ियां और पैरों में बेड़ियां डालना, मारना, पीटना। उनके पास भी अंतिम दंड है फांसी की सजा। मौत की सजा। यह अंतिम दंड है।

जो आदमी जीते-जी मरना सीख लेता है, मृत्यु का साक्षात्कार कर लेता है, मृत्यु का अनुभव कर लेता है, अपने शरीर को शिथिल बनाकर सारे अवयवों को मृतवत् करना सीख जाता है, सचमुच वह आदमी सारी समस्याओं का, सभी प्रकार के भयों का और सारी कठिनाइयों का पार पा लेता है।

हम अनित्य अनुप्रेक्षा करते हैं। उस अनुप्रेक्षा में से ही सचाइयों को देखते हैं, आनंद को निकालते हैं और अपने भीतर की गहराइयों में जाने का प्रयत्न करते हैं, उसकी साधना करते हैं। यह सारा दृष्टिकोण का ही परिवर्तन है। अन्यथा यदि किसी को कहा जाए कि तुम मृत्यु का अनुभव करो तो वह सोचेगा कि कैसी मूर्खता की बात कह रहा है? जीने की बात करे तो वह अच्छी

भी लग सकती है, किंतु यह तो मौत की बात कह रहा है। बुरी बात है। जीने की बात अच्छी लगती है। मौत की बात बुरी लगती है। लोग इसे अपशकुन मान लेते हैं। बुरा मान लेते हैं, किंतु साधक ऐसा नहीं मान सकते। वे मौत की बात को अच्छा मानते हैं। इसीलिए इसे अपने अभ्यास का अंग बनाकर साधना चलाते हैं। यह दृष्टि का ही तो परिवर्तन है।

रूपांतरण का पहला सूत्र

साधना का पहला सूत्र है दृष्टि का परिवर्तन। रूपांतरण का पहला सूत्र है दृष्टि का परिवर्तन। हम जो कुछ रूपांतरित होते हैं, वह दृष्टि-परिवर्तन के द्वारा ही होते हैं। दृष्टि का परिवर्तन होते ही भीतर के सारे तत्त्वों में रूपांतरण प्रारंभ हो जाता है। रूपांतरण की प्रक्रिया चालू हो जाती है। तब बहुत सारी बातें जो दुनिया को उल्टी लगती हैं, हमें सही लगने लग जाती हैं। दुनिया को जो बातें सही लगती हैं, वे साधक को उल्टी लगने लग जाती हैं।

एक साधक ने कन्फ्यूशियस से पूछा–मैं मन पर संयम कैसे कर सकता हूं? कन्फ्यूशियस बहुत बड़ा साधक था, योगी था, महान दार्शनिक था, महान तत्त्ववेत्ता था। उसने कहा–मैं इसका सीधा-सा उपाय बताता हूं, छोटा-सा सूत्र देता हूं। क्या तुम कानों से सुनते हो? साधक ने कहा–हां। कन्फ्यूशियस बोला–मैं नहीं मान सकता कि तुम कानों से सुनते हो। तुम मन से सुनते हो। एक काम करो, आज से केवल कानों से सुनना प्रारंभ करो। मन से सुनना बंद कर दो। तुम जीभ से चखते हो, यह मैं नहीं मान सकता। तुम मन से चखते हो। आज से केवल जीभ से चखना प्रारंभ करो। मन से चखना बंद कर दो। तुम आंखों से कहां देखते हो, मन से देखते हो। आज से केवल आंख से देखना प्रारंभ करो। मन पर अपने आप संयम हो जाएगा।

यह एक छोटा-सा सूत्र है रूपांतरण का कि केवल कानों से सुनो, केवल जीभ से चखो, केवल आंखों से देखो, पर हम केवल कानों से नहीं सुनते, केवल जीभ से नहीं चखते, केवल आंखों से नहीं देखते। मन से सुनते हैं, मन से चखते हैं, मन से देखते हैं। मुझसे यदि यह प्रश्न पूछा होता तो मैं एक बात और जोड़ देता कि हम संस्कारों से सुनते हैं, चखते हैं, देखते हैं। हम पूर्व-धारणाओं से यह सब करते हैं।

मां ने बेटे से कहा–समझता ही नहीं। निरा मूर्ख है। बेटे ने कान से सुना, मन से सुना, संस्कार और धारणा से सुना। किसी विरोधी या दुश्मन ने उसे

कहा–समझते नहीं, बड़े मूर्ख आदमी हो। इसे भी कान से सुना, मन से सुना, संस्कार और धारणा से सुना। कान में दोनों आवाजें समान हैं। चाहे मां बेटे से कहे कि तुम मूर्ख हो या दुश्मन उसे कहे कि तुम मूर्ख हो। दोनों समान हैं। कान की ध्वनि और शब्दावली में कोई अंतर नहीं है। सुनने का कोई अंतर नहीं है, किंतु मन का और धारणा का इतना अंतर आ जाएगा कि मां की कही हुई बात प्रिय भी लग जाएगी, किंतु उस विरोधी या दुश्मन की बात आग बनकर भभक उठेगी। विरोधी के कथन पर वह इतना कुपित हो जाएगा कि कभी-कभी बड़ी से बड़ी अनर्थकारी घटना भी घटित हो सकती है।

यह अंतर क्यों आया? यदि केवल कानों से ही सुना जाता तो यह अंतर नहीं आता, क्योंकि दोनों की ध्वनि समान थी, शब्दावली समान थी। यह अंतर इसलिए आया कि सुनने वाले ने केवल कानों से ही नहीं सुना, उसने संस्कारों से सुना, मन से सुना और पूर्व-धारणाओं से सुना।

कन्फ्यूशियस ने उचित ही कहा कि केवल कानों से सुनो, मन से सुनना बंद कर दो। केवल जीभ से चखो। मन से चखना बंद कर दो। केवल आंख से देखो, मन से देखना बंद कर दो। संयम अपने आप आ जाएगा।

यह रूपांतरण का बहुत बड़ा सूत्र है। सामान्य व्यक्ति को यह बात अटपटी-सी लग सकती है, किंतु साधक के लिए यह बात बहुत गहरी है। हम इन्द्रियों को अपना काम करने दें, मन को अपना काम करने दें। संस्कारों को अपना काम करने दें, पूर्व-धारणाओं को अपना काम करने दें। इन्हें हम जोड़ें नहीं, मिलाएं नहीं।

संयम का सूत्र

असंयम क्यों होता है? कान, मन, संस्कार और धारणा–ये एक धारा बन जाते हैं। एक धारा के कारण असंयम उत्पन्न होता है। असंयम कानों में नहीं है, आंख में नहीं है, जीभ में नहीं है। जो जैसा है, वैसा ही मुझे दिखाई दे रहा है। इसमें न कोई प्रियता है और न कोई अप्रियता है। न कोई राग है और न कोई द्वेष है। जो जैसा है, वैसा संस्थान, आकृति और वर्ण मेरी आंखों के सामने आ रहा है और आंखें उसे पकड़ रही हैं। अब मन में किसी के प्रति प्रियता का भाव आता है और किसी के प्रति अप्रियता का भाव आता है, तो इसमें बेचारी आंखों का क्या दोष है? उनका कोई दोष नहीं है। ये तो मात्र नालियां हैं। इनसे चाहे गंदा पानी बहा ले जाओ, चाहे निर्मल पानी बहा ले जाओ।

कुछ भी बहाकर ले जाओ। ये तो मात्र माध्यम हैं। इनका कोई दोष नहीं है। प्रियता का भाव या अप्रियता का भाव, राग या द्वेष-यह सारा आ रहा है मन के द्वारा, संस्कार के द्वारा और धारणा के द्वारा। जिस प्रकार की धारणा जिस व्यक्ति के प्रति हमारे मन में जमी हुई है, जैसे आंख से उसे देखा, उसे देखने के पीछे-पीछे सूक्ष्म रूप में धारणा की तरंगें, मन की तरंगें जुड़ जाती हैं, फिर आंख का काम नहीं रहता, फिर हम आंख से नहीं देखते, संस्कार से देखते हैं, धारणा से देखते हैं, मन से देखते हैं। यह बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है प्रतिसंलीनता का, संयम का। इन्द्रियों से केवल इन्द्रियों का काम लो, दूसरा काम मत लो। यह है संयम का सूत्र।

हर आदमी बदलना चाहता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। जिसे क्रोध आता है, वह अपने स्वभाव को बदलना चाहता है। जिसमें दूसरों की निंदा करने की आदत है, वह उस आदत को बदलना चाहता है। जो खाने में लोलुप है, वह भी अपनी आदत बदलना चाहता है। वह यह मन से चाहे या लाचारी से, पर चाहता है बदलना।

व्यक्ति क्यों नहीं बदलता?

बहुत कम आदमी अपने आपको बदल पाते हैं। वे जानते हैं कि अमुक बुराई है। वे मानते हैं कि यह बुराई है। प्रयत्न करते हैं कि उसे छोड़ा जाए, बदला जाए, परंतु वे उसे छोड़ नहीं सकते, उसे बदल नहीं पाते। क्यों? ऐसा क्यों होता है? यह बहुत बड़ा प्रश्न है। इसका उत्तर गहराइयों में उतरकर देना होता है। मैं मानता हूं कि साधना की अन्यान्य सफलताओं में भी यह एक महत्त्वपूर्ण सफलता है कि हम इस प्रश्न का उत्तर पा सकें। आदमी बदलना चाहता है, फिर भी क्यों नहीं बदल पाता। इस प्रश्न का उत्तर साधना की भूमिका के अतिरिक्त कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकता। मात्र एक साधना की भूमिका से ही हम इस प्रश्न का समाधान दे सकते हैं।

हम श्वास का प्रयोग कर रहे हैं। श्वास को भीतर ले जाने के प्रयत्न के साथ-साथ मन को भीतर ले जाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा क्यों कर रहे हैं? हम एकाग्रता का अभ्यास क्यों कर रहे हैं? हम विचार-शून्यता का अभ्यास क्यों कर रहे हैं? यह हमें समझना होगा। हम करते जा रहे हैं, आखिर क्यों?

हमारे दो शरीर हैं–स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर। हमारी चेतना के अनेक स्तर हैं। एक है मन की चेतना अर्थात् चेतना का मानसिक स्तर और एक है

अध्यवसाय का स्तर। मन एक है, अध्यवसाय असंख्य। अध्यवसाय अर्थात् सूक्ष्म चेतना। सूक्ष्म चेतना के असंख्य स्तर हैं। वे बहुत गहरे हैं। हमारे स्थूल मन को लगा कि यह अच्छा नहीं है, हमारे जागृत मन को लगा कि यह अच्छा नहीं है, तत्काल हम प्रभावित हो गए और हमने सोच लिया कि इसे छोड़ देना चाहिए। मन में छोड़ने का संकल्प कर लिया। समझ लीजिए कि चाय को छोड़ने का संकल्प कर लिया। जैसे ही दिन उगा, नाश्ते का समय आया और चाय सिर पर सवार हो गई। वह सिर पर सवार होकर बोलने लगी। अकुलाहट बढ़ी। छोड़ने का मन था, पर सामने चाय आई तो सोचा कि चलो, आज तो ले लें, कल से छोड़ देंगे। एक दिन में क्या फर्क पड़ता है। कल आया तो फिर यही प्रश्न और वही मन का समाधान। यह क्रम चलता रहता है।

राजा घूमने के लिए निकला। बगीचे में पहुंचा। मंत्री ने सावधान करते हुए कहा–महाराज! आप आम के पेड़ के नीचे न बैठें। आपको न आम खाना है और न उसकी छाया में ही बैठना है। वैद्य ने कहा–आप आम खाएंगे तो जी नहीं सकेंगे, मर जाएंगे। आप यदि आम को हाथ में लेंगे तो समझ लीजिए कि आप मृत्यु को हाथ में ले रहे हैं। आपके लिए आम का अर्थ है मृत्यु।

राजा ने मन ही मन सोचा कि कैसे होते हैं वैद्य। इतनी कड़ाई! इतना निषेध। आम की छाया सघन होती है। उसके नीचे बैठने में क्या दोष है? खाने में दोष की संभावना हो सकती है, बैठने मात्र से नहीं। राजा गया। आम के वृक्ष के नीचे बैठा। पके हुए आमों की मीठी सुगंध से मन भर गया। मुंह में पानी आ गया। इतने में ही हवा का एक झोंका आया। पका हुआ आम वृक्ष से टूटा और राजा की गोद में आ गिरा। राजा ने उसे छुआ। हाथ में उठाया। सूंघा। मनमोहक वर्ण, मीठी सुगंध। मंत्री ने कहा–महाराज! यह क्या कर रहे हैं? मौत को बुला रहे हैं? दूर फेंक दीजिए इस आम को। राजा ने हंसते हुए कहा–तुम तो बड़े अविश्वासी हो। देखने और सूंघने में हानि ही क्या है? मैं इसे खाऊंगा नहीं। राजा बार-बार उसे सूंघता रहा। मीठी सुगंध मन को भा गई। सूंघते-सूंघते राजा आम को चूसने लगा। बड़ा मीठा रस। मंत्री ने हाथ पकड़ लिया।

राजा बोला–मंत्री! वैद्य लोग यों ही डराते हैं। भला एक आम चूस लेने मात्र से आदमी कैसे मर जाता है? मैं छककर तो खा नहीं रहा हूं। तुम चिंता मत करो। मंत्री निषेध करता ही रहा। राजा ने पूरा आम चूस डाला। कुछ ही दिनों में राजा बीमारी से ग्रस्त होकर मर गया।

आदमी जानता हुआ भी छोड़ क्यों नहीं पाता? हाथ से गिरे हुए कांच के गिलास की भांति संकल्प टूट जाता है, चूर-चूर हो जाता है। इसका मतलब है कि यह सारा का सारा संकल्प हमारी स्थूल चेतना के स्तर पर, जागृत मन के स्तर पर होता है। संकल्प करता है जागृत मन से और बुराई आ रही है किसी दूसरे बिंदु से। बीमारी है कहीं और हम इलाज कहीं अन्यत्र कर रहे हैं।

एक आदमी की आंख दुःखने लगी। वैद्य के पास गया। वैद्य ने कहा–'यह वर्तिका है। इसे घिसकर आंख में आंज देना।' दो दिन बाद वैद्य रोगी के घर पहुंचा। उसने देखा कि वह रोगी वर्तिका को घिसकर पीठ पर मल रहा है। वैद्य ने पूछा–'क्या कर रहे हो? यह दवा तो आंख के लिए है। तुम इसे पीठ पर कैसे लगा रहे हो?' उसने कहा–'क्या करूं? पहले दिन तो आंख में ही आंजी थी, किंतु आंख जलने लगी। मैंने सोचा–चलो, आंख में न सही, पीठ पर ही मल लें। क्या फर्क पड़ता है।'

आकांक्षा का मूल

वर्तमान युग की समस्या यह है कि बीमारी कहीं है और दवा कहीं लगा रहे हैं। रोग कहीं है और चिकित्सा कहीं कर रहे हैं। बीमारी तो है सूक्ष्म चेतना में, बीमारी है कर्म शरीर में, बीमारी है वासना शरीर में और इलाज करना चाहते हैं स्थूल मन में, जागृत मन में, स्थूल शरीर में। इस मन का यह काम ही नहीं है। जहां ये सारी आकांक्षाएं, सारी अतृप्तियां, सारी वासनाएं आ रही हैं, उनका जो स्रोत है, वह है अध्यवसाय। अध्यवसाय मलिन होता है तथा अध्यवसाय निर्मल होता है। अध्यवसाय की मलिनता और अध्यवसाय की निर्मलता के आधार पर भीतर में सारा चलता है। हम केवल उपचार कर रहे हैं स्थूल मन का, जागृत मन का। जीवनभर उपचार करते चले जाते हैं, पर बीमारी कभी मिटती नहीं।

शक्ति निहित है सूक्ष्म में

हम श्वास के साथ-साथ मन को भी भीतर ले जा रहे हैं, इसलिए कि अवचेतन मन के द्वार को खोल सकें। स्थूल और सूक्ष्म शरीर के बीच में जो दीवार है, उसे तोड़ सकें और इनके बीच में एक ऐसा दरवाजा बना सकें कि हम सीधे स्थूल मन से सूक्ष्म मन में चले जाएं, स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर में चले जाएं। यदि हम बीच के दरवाजे को खोल सकें, बीच की दीवार को तोड़ सकें तो यह साधना की बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।

इस दरवाजे को खोलने का जो साधन है, वह है एकाग्रता। दूरी को समाप्त करने का जो साधन है, वह है एकाग्रता। हम एकाग्रता का जितना अभ्यास कर सकते हैं, उतनी ही मात्रा में हम इस दूरी को समाप्त कर सकते हैं। जैसे-जैसे हमारी एकाग्रता बढ़ेगी, स्थूल मन निष्क्रिय होगा और सूक्ष्म मन को काम करने का मौका मिल जाएगा। वह सक्रिय हो जाएगा। दरवाजा खुल जाएगा। जैसे-जैसे हमारी विचार-शून्यता बढ़ेगी, इतना तेज धक्का लगेगा कि सूक्ष्म मन का दरवाजा खुल जाएगा। जैसे-जैसे हम श्वास की गति को समझ लेंगे, श्वास की गति मंद कर लेंगे तो वह मंद श्वास इतना शक्तिशाली हो जाएगा कि उसके एक ही धक्के से दरवाजा खुल जाएगा। हमारे स्थूल जगत का विश्वास यह है कि जो स्थूल होता है, वह बहुत शक्तिशाली होता है, किंतु सूक्ष्म जगत का विश्वास इससे बिल्कुल उल्टा है। शक्ति उसमें होती है, जो सूक्ष्म है। आज एटम के सिद्धांत ने इसे प्रमाणित कर दिया है। आज यह विश्वास प्रबल हो चुका है कि स्थूल में कोई शक्ति नहीं होती, सूक्ष्म में होती है। एक प्राचीन श्लोक में इसकी सुंदर अभिव्यक्ति हुई है–

हस्ती स्थूलवपुः स चांकुशवशः किं हस्तिमात्रोंऽकुशः?
दीपे प्रज्वलिते विनश्यति तमः किं दीपमात्रं तमः?
वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः किं वज्रमात्रो गिरिः?
तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः?

हाथी बड़ा होता है, किंतु वह भी छोटे-से अंकुश के अधीन रहता है। शक्ति छोटे अंकुश में है। दीप जलते ही अंधकार समाप्त हो जाता है। दीप की अपेक्षा अंधकार कितना विशाल होता है। दीप छोटा, अंधकार बड़ा। तम शक्तिशाली नहीं है, दीप शक्तिशाली है। पर्वत बहुत ऊंचा होता है, बहुत बड़ा होता है। वज्र छोटा होता है, पर वह सारे पर्वतों को चूर-चूर कर डालता है, शक्ति पर्वत में नहीं, वज्र में है। शक्ति स्थूल में नहीं, सूक्ष्म में है। शक्ति बड़ी वस्तु में नहीं, छोटी वस्तु में है। जिसमें तेज होता है, वह बलवान है। छोटा होने मात्र से क्या?

स्थूल होना, बहुत बड़े आयतन को घेर लेना, कोई बहुत महत्त्व की बात नहीं है। सूक्ष्म की शक्ति में विश्वास आज बढ़ता जा रहा है।

इसलिए प्रयत्न करें कि हम स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर की ओर जाएं। स्थूल चेतना से सूक्ष्म चेतना की दिशा में जाएं। सूक्ष्म शरीर को जागृत करें,

सूक्ष्म चेतना को जागृत करें। यही हमारी समूची प्रक्रिया का, समूचे अभ्यास का प्रयोजन है।

हम आज जो प्रयत्न कर रहे हैं, वह अंधेरी कोठरी में पत्थर फेंकने जैसा नहीं है। हम प्रयत्न को समझ-बूझकर कर रहे हैं। हमारा एक निश्चित प्रयोजन है। हमें यह ज्ञात है कि हम यह प्रयत्न क्यों कर रहे हैं? इसके पीछे हमारा गहरा प्रयोजन है और वह यह है कि हम श्वास के आलंबन से चलें, एक स्थूल आलंबन से चलें। स्थूल आलंबन के सहारे, श्वास के सहारे मन में यह आदत डालें कि वह भीतर की ओर जाए, गहराई में उतरे, नीचे जाए। यह गहराई में जाने की आदत मन की छूट गई है। इस श्वास के आलंबन से हम मन में फिर से आदत डाल रहे हैं, मन में संस्कार उत्पन्न कर रहे हैं। इसका परिणाम यह होगा कि यदि मन भीतर जाने लगेगा, मन भीतर देखने लगेगा, मन गहराइयों में उतरने लगेगा तो एक धक्का ऐसा लगेगा कि वह दरवाजा खुल जाएगा। वहां हमें उत्तर मिलेगा कि आदत को बदला जा सकता है, स्वभाव को बदला जा सकता है, क्योंकि बुराई का जो स्रोत है, वह पकड़ में आ जाता है। बुराई की जड़ जब उखड़ जाती है, तब बुराई मिट जाती है। स्थूल मन में संकल्प को बहुत दोहराने की आवश्यकता नहीं होती।

11. स्थूल से सूक्ष्म की ओर

सत्य को खोजें। यह बहुत प्रिय शब्द है। सत्य को खोजना जटिल है। इतना विराट और इतना बड़ा है सत्य, उसे खोजना कोई छोटी बात नहीं है। हमने एक संकल्प लिया कि हम सत्य की खोज करें। सत्य की खोज की भावना हमारे मन में जागी है। सत्य को खोजे बिना, सचाई को समझे बिना कोई भी आदमी सही कार्य नहीं कर सकता।

दुनिया में जितने भी सही कार्य हुए हैं, वे सब सत्य की खोज के बाद हुए हैं। जहां सत्य की खोज नहीं होती, वहां सब गलत काम होते हैं। क्या यह संभव है कि हम थोड़े समय में ही सत्य को खोज लेंगे? सत्य बहुत बड़ा है और उसके लिए बहुत बड़ा प्रयत्न चाहिए, फिर भी यदि हमारा अभ्यास सही है, हम जो कर रहे हैं वह सही है, उसके प्रति हमारी निष्ठा है और हम सत्य के सहारे चल रहे हैं तो निश्चित ही हम सत्य को खोज लेंगे।

हम सबसे पहले विराट सत्य की बात को छोड़ दें, किंतु इतना-सा सत्य तो अवश्य खोज लें, जितना सत्य हमारी साधना में सहयोगी बन सके और जिसकी खोज के आधार पर हम निराश हुए बिना, रुके बिना अपनी साधना को आगे बढ़ा सकें। इतना सत्य तो हमें जान लेना चाहिए, खोज लेना चाहिए। जब इतना सत्य भी नहीं खोजा जाएगा तो साधना आगे नहीं बढ़ेगी। पग-पग पर बाधा आएगी। संदेह की बाधा, अविश्वास की बाधा, मूर्खता की बाधा ये सारी बाधाएं पग-पग पर आएंगी, क्योंकि जिस सत्य की अनुभूति, जिस साधना की सचाई की अनुभूति आपको होनी चाहिए, वह नहीं है, इसलिए आपके मन में वह उत्कट प्रेरणा भी नहीं होनी चाहिए।

पानी सौ डिग्री पर पहुंचकर ही भाप बनता है। कम आंच से पानी भाप नहीं बनता। पानी को भाप बनाना है तो उसे सौ डिग्री के तापमान तक पहुंचना ही होगा। वहां पहुंचे बिना यह परिवर्तन नहीं हो सकता। इसी प्रकार हमारा परिवर्तन भी तभी

संभव है जब सत्य की जितनी आंच चाहिए, सत्य का जितना तापमान चाहिए, उतना तापमान हमें मिल जाए। तभी यह परिवर्तन संभव है, अन्यथा नहीं है।

साधना में बहुत बड़ी बाधाएं आती हैं और वे बाधाएं हैं हमारे शरीर की। स्थूल शरीर की ही नहीं, सूक्ष्म शरीर की भी बाधाएं उपस्थित होती हैं। साधना में कुछ आगे बढ़ने पर, सबसे बड़ी बाधा आती है विद्युत शरीर की, तैजस शरीर की। तैजस शरीर में चमत्कार की शक्ति है। उसमें खेल की शक्ति है। वह विविध खेल दिखा सकता है।

प्राणशक्ति के चमत्कार

हम कलकत्ता गए। वहां विज्ञान-कक्ष के दरवाजे के सामने गए। बंद दरवाजा अपने आप खुल गया। भीतर गए, बिजली की बत्तियां जल उठीं। पंखे चलने लगे। अंदर कोई नहीं था। कोई भी व्यक्ति उनका संचालन नहीं कर रहा था। सब स्वचालित था। यह सारा बिजली का चमत्कार था। हमारे तैजस शरीर में भी ऐसे बहुत सारे चमत्कार हैं। लोग कहते हैं कि यह पहुंचा हुआ साधक है, क्योंकि इसकी चेतना चमक रही है। मानो इसके चेहरे से तेज झलक रहा है। बहुत बड़ा साधक है कि जमीन से ऊपर उठ जाता है। बहुत बड़ा साधक है कि हाथ में भभूत बरसाता है। बहुत बड़ा साधक है कि हाथ उस ओर किया कि मिठाई आ गई, इत्र आ गया, फल आ गया। मिठाई खाओ, इत्र लगाओ, फल खाओ। ये हमारे विद्युत शरीर के चमत्कार हैं। ये हमारे प्राणशक्ति के चमत्कार हैं, तैजस और विद्युत शरीर के खेल हैं। साधक इनमें उलझ जाता है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि सारी बातें आश्चर्यकारी नहीं हैं। मैं तो यह कहना चाहता हूं कि ये आध्यात्मिक हैं, क्योंकि ये स्थूल शरीर के द्वारा घटित नहीं हैं, किंतु ये आश्चर्यजनक नहीं हैं।

हमारी साधना का सूत्र है–**रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं**–राग और द्वेष के क्षीण होने पर मोक्ष मिलता है। हम जिस मोक्ष-प्राप्ति की साधना कर रहे हैं, वीतरागता की साधना कर रहे हैं, उसमें राग-द्वेष के क्षीण होने पर ही मुक्ति संभव है। हमारा राग क्षीण होना चाहिए। हमारा द्वेष क्षीण होना चाहिए। यह है आध्यात्मिकता। यह है चेतना का जागरण। यह है आत्मा का उत्क्रमण, उत्क्रांति। इनमें सारे मल आत्मा से दूर हो जाते हैं। चेतना निर्मल हो जाती है, आत्मा का साक्षात्कार होता है। यह है अध्यात्म की साधना, निर्वाण की साधना, मोक्ष की साधना।

आकर्षण है चमत्कार में

इस साधना के बीच में आने वाली ये बाधाएं बहुत ही जटिल हैं, टेढ़ी-मेढ़ी हैं। ये साधक का मार्ग बदल देती हैं। वह चमत्कार में उतर आता है। इसके प्रति सहसा आकर्षण भी है। लोगों को आकर्षण इस बात का नहीं होता कि साधक के राग-द्वेष क्षीण हुए हैं या नहीं। इससे जनता को क्या मतलब? जनता को इसका क्या लाभ? लोग तो यह देखते हैं कि साधक भूमि से ऊपर उठ सकता है या नहीं? संतान दे सकता है या नहीं? धन दे सकता है या नहीं? अदृश्य हो सकता है या नहीं? आकाश में उड़ सकता है या नहीं? हाथ के इशारे से वांछित चीज मंगा सकता है या नहीं? लोहे को सोना बना सकता है या नहीं? यदि साधक इन कार्यों में निपुण है तो हजारों-हजारों लोग उसके प्रति आकृष्ट होंगे। उसके प्रति आकर्षण बढ़ेगा। सारा आकर्षण चमत्कार में है। राग-द्वेष के क्षीण होने में या कम होने में कोई आकर्षण नहीं है।

बिजली में चमत्कार है। लोगों का उसके प्रति आकर्षण है। उससे प्रकाश मिलता है, गर्म और ठंडी हवा मिलती है और भी बहुत सारे कार्य बिजली से होते हैं। इसके प्रति बहुत आकर्षण है।

ध्यान और अल्फा तरंगें

हमारा शरीर भी एक बिजलीघर है। यह पूरा का पूरा विद्युतयंत्र है। हम सोचते हैं तो हमारे मस्तिष्क में बिजली उत्पन्न होती है। हम शांत रहते हैं तब भी बिजली उत्पन्न होती है। ध्यान के समय में भी बिजली पैदा होती है। हम प्रवृत्ति को कम करते हैं। हमारे मस्तिष्क में बिजली पैदा होती है। अल्फा रे, अल्फा की किरणें उत्पन्न होती हैं। यह जरूरी नहीं है कि ध्यान में ही वे उत्पन्न होती हैं। चिंतन के समय वे उत्पन्न नहीं होतीं, शांत अवस्था में उत्पन्न होती हैं, सहज शांत अवस्था में भी वे तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं। यह सारा विद्युत है। बहुत सारे लोग कहते हैं कि आज बहुत शांति का अनुभव हुआ। मैं समझता हूं कि यह भी कोई आध्यात्मिक अनुभव नहीं। शांति मिली अर्थात् अल्फा की तरंगें आपके मस्तिष्क में चलीं और आपको शांति मिली।

नेगेटिव और पोजिटिव विद्युत

एक वैज्ञानिक ने प्रयोग किया। उसने भूमि पर तांबे की जालियां बिछाईं और उस पर एक आदमी को बिठा दिया। उस आदमी के शरीर में तांबे के तार लगा दिए और शरीर में जो नेगेटिव और पोजिटिव विद्युत थी, उन दोनों का

कनेक्शन कर दिया। आदमी शांत हो गया। उसे अपूर्व शांति का अनुभव हुआ और उसने सोचा कि संभवतः निरंतर ध्यान करने वाला भी उस स्थिति तक कितने लंबे काल के बाद पहुंच पाता है। आप सोच सकते हैं कि जब तांबे के तारों से इतनी शांति मिल सकती है तो फिर ध्यान की आवश्यकता ही क्या है? इतनी शांति तारों के प्रयोग से मिल जाए तो फिर उन्हीं का प्रयोग करें। एकदम शांत हो जाएंगे।

एक अमेरिकन वैज्ञानिक है। उसका नाम है साल्टर। उसने इस विषय में अनेक प्रयोग किए हैं। उसके मन में विकल्प आया कि आदमी ध्यान करता है, शांत होता है। उसके दिमाग में अल्फा तरंगें पैदा होती हैं तो क्या पशु के नहीं होतीं। जानवर के नहीं होतीं? यह विकल्प मन में आया और उसने प्रयोग शुरू किया। यह माना जाता है कि अल्फा तरंगें सहज भाव से पैदा होती हैं, इन्हें पैदा किया नहीं जा सकता, किंतु जब कुछ योगियों ने, ध्यानियों ने अपने ध्यान के द्वारा अल्फा तरंगों को पैदा किया तो वैज्ञानिक और डॉक्टर आश्चर्य में रह गए।

दिल्ली मेडिकल इन्स्टीट्यूट के डॉक्टरों के एक दल ने परीक्षण किया और देखा कि ध्यान करने वाले अपनी इच्छा से अल्फा तरंगें पैदा करते थे, इच्छा से उन्हें रोक देते थे, फिर पैदा कर देते थे और रोक देते थे। यह वैज्ञानिकों के लिए नई खोज थी कि अल्फा तरंगों को यत्न से पैदा किया जा सकता है। पहले यह नहीं माना जाता था। पहले यह माना जाता था कि ये तरंगें मस्तिष्क में सहज भाव से उत्पन्न होती हैं। साल्टर के मन में विचार आया कि क्या जानवर भी ध्यान कर सकते हैं? क्या उनके मस्तिष्क में भी अल्फा तरंगें उत्पन्न हो सकती हैं? उत्पन्न की जा सकती हैं?

बिल्ली पर प्रयोग किए। बिल्ली को भूखा रखा और बिल्ली के शॉक दिए, झटके दिए। विद्युत का प्रयोग किया। जैसे-जैसे बिजली का प्रयोग हुआ, बिल्ली शांत होती गई और उसके मस्तिष्क में अल्फा तरंगें उत्पन्न हो गईं। अल्फा तरंगों के पैदा होते ही उसने बिल्ली को दूध और मिठाई दी। बिल्ली मिठाई खा गई और दूध पी लिया। यह क्रम चलता रहा। प्रतिदिन अल्फा तरंगें पैदा होतीं और बिल्ली को दूध और मिठाई मिल जाती। कुछ दिनों के बाद बिल्ली इस बात को सीख गई कि जब शांत और स्थिर होती हूं तब मिठाई और दूध मिलता है। वह शांत रहने लगी, ध्यान होने लगा। जब खाने की इच्छा होती तब वह बिल्कुल शांत होकर, आंखें बंद कर खड़ी हो जाती। अल्फा

तरंगें पैदा होतीं। उसे मिठाई और दूध मिल जाता। बिल्ली ध्यान करना सीख गई। शांत होना सीख गई।

निष्कर्ष यह निकला कि शांत वृत्ति के द्वारा अपने मस्तिष्क में अल्फा तरंगें पैदा कर सकते हैं। यह बिजली का ही चमत्कार है। यह कोई आध्यात्मिक बात नहीं है। यह एक परिणाम है। जब हम शांत होंगे, शरीर शिथिल होगा, तनाव नहीं होगा, मौन होंगे, उस शांत स्थिति में अल्फा तरंगें उत्पन्न हो जाएंगी। हमारे शरीर की घार्षणिक विद्युत और हमारे मस्तिष्क की धारावाहिक विद्युत ये दोनों विद्युत निरंतर चलती हैं और इतने प्रकार की क्रियाएं करती हैं कि हम आध्यात्मिक साधना में जाते-जाते बीच में ही बिल्लियों के संसार में उलझ जाते हैं। उस स्थिति में हम मान बैठते हैं कि बहुत शांति प्राप्त हुई है। लोग पांच-दस दिन शिविर में रहते हैं। मैंने उनको कहते सुना कि 'ओह, कितना आनंद आ रहा है! कितनी शांति मिल रही है!' शिविर संपन्न कर जब वे घर जाते हैं, अपने व्यक्तियों के साथ रहते हैं, तब उन्हें क्रोध करते भी देखा, लड़ाई करते भी देखा, गालियां देते भी देखा। पता नहीं, उनकी अनुभूत शांति कहां चली गई, कहां गायब हो गई? इस स्थिति में यह स्पष्ट होता है कि आनंद की अनुभूति का भ्रम मात्र था, शांति की अनुभूति का भ्रम मात्र था। यह केवल सतही अनुभव था। हम इससे सावधान रहें। यह ऊपर की बात है।

अनुभव करें शांति का

आप प्रवृत्ति करते हैं। आपको बहुत श्रम करना पड़ता है। शरीर थक जाता है। आप विश्राम करते हैं और उस थकावट की स्थिति में गहरी नींद में चले जाते हैं। घंटा-दो घंटा बाद जब आप उठते हैं तब महसूस होता है कि शरीर ताजा हो गया है, बहुत शांति मिली है। यह स्वाभाविक बात है। जब आदमी प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति के क्षणों में जाता है, विश्राम के क्षणों में जाता है तो उसे शांति का अनुभव होता है। यह कोई मूल बात नहीं है। मूल बात है कि शांति जहां से उठनी चाहिए, वहां से वह उठे। इसके लिए दूसरे प्रयत्न की जरूरत होती है, कुछ करने की जरूरत होती है। शांति की बात, विद्युत की बात बहुत बड़ी बात है । शांति का अनुभव होता है, बदलने का अनुभव होता है और भी विचित्र प्रकार के अनुभव होते हैं। यह सारा व्यर्थ नहीं है। मैं इसकी व्यर्थता नहीं बता रहा हूं। इसका भी उपयोग है, मध्य मार्ग के रूप में, मध्य विश्राम के रूप में, किंतु यह अंतिम लक्ष्य है, अंतिम मंजिल है, साध्य है इस भुलावे में न रहें। हमारी दृष्टि स्पष्ट होनी चाहिए।

लोग शक्तिपात की बात जानते हैं। यह शक्तिपात क्या है? यह बिजली का, विद्युत का ही चमत्कार है। एक समर्थ व्यक्ति होता है, जिसने अपनी ऊर्जा को विकसित कर लिया है, जिसने अपनी विद्युत को विकसित कर लिया है, वह दूसरे में शक्तिपात कर सकता है। वह दूसरे व्यक्ति के सिर पर हाथ रखता है और अपनी ऊर्जा का, अपनी विद्युत का, अपनी शक्ति का उसमें संक्रमण कर देता है।

ऊर्जा के स्रोत

हमारे पास देने के दो बड़े साधन हैं हाथ और पैर। सिर ग्रहण करने का बड़ा साधन है। सिर संग्रह करता है। हाथ की अंगुलियां और पैर देते हैं, मस्तिष्क ग्रहण करता है। पुरानी पद्धति है कि शिष्य जाता है और गुरु के चरणों में माथा टिका देता है। वह विद्युत लेना चाहता है। गुरु के चरण विद्युत दे रहे हैं और यदि गुरु ने शिष्य के सिर पर हाथ रख दिया तो दोनों ओर से देने लग गए हाथ से भी और पैर से भी। हाथ से भी विद्युत प्रवाहित हो रही है शिष्य के मस्तिष्क में और पैर से भी विद्युत प्रवाहित हो रही है शिष्य के मस्तिष्क में, दोनों ओर से विद्युत की प्राप्ति हो रही है। हम आचार्यश्री को वंदना करते हैं और उनके चरणों में अपना सिर रखते हैं। आचार्यश्री अपना हाथ शिष्य के सिर पर रखते हैं। उधर पैर विद्युत दे रहा है। इधर हाथ से विद्युत प्रवाहित हो रही है। सिर दोनों ओर से आने वाली विद्युत को ग्रहण कर रहा है। इस विद्युत में चमत्कार है, सामर्थ्य है। इसका उपयोग है। इसे सर्वथा अनुपयोगी न मानें, किंतु यह शक्तिपात आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं होगी। इस बात को मूल से पकड़ें कि कषाय के क्षीण हुए बिना आध्यात्मिकता का विकास नहीं होगा, चेतना की निर्मलता प्राप्त नहीं होगी, वासनाएं क्षीण नहीं होंगी, विकास नहीं होगा और वृत्तियों में परिवर्तन नहीं होगा। जिसमें परिवर्तन आना चाहिए, वह नहीं होगा। इनसे तो बीच की कुछ बातें हो सकती हैं, होती हैं।

हम साधना से पहले इस सत्य को समझें कि तैजस शरीर या विद्युत शरीर की चकाचौंध में, उसके चमत्कारों में उलझकर उसे आध्यात्मिक न मान बैठें। उसे साधना की उपलब्धि न मान बैठें। यह मानसिक साधना की उपलब्धि मात्र है। इसे राग-द्वेष की क्षीणता से या वीतरागता से आने वाली उपलब्धि न मानें।

हमें क्या बदलना है, इसे भी स्पष्ट रूप से दोहराते जाएं। हमें सत्य को जानना है और अपने आपको बदलना है कि हमारा शत्रुता का भाव सर्वथा

नष्ट हो जाए। हमारे मन में शत्रुता का भाव रहे ही नहीं। हम आदमी को शत्रु मान लेते हैं, अपना प्रमाद, अपना दोष दूसरे के सिर पर आरोपित कर लेते हैं कि उसने मेरा अनिष्ट किया है, उसने मेरा ऐसा कर दिया है। कोई भी आदमी यह देखने को तैयार नहीं है कि उसने भी कुछ किया है। सारा का सारा दोष हम दूसरों के सिर मढ़ देते हैं।

'पत्थर कितने ऊबड़-खाबड़ हैं, मुझे ठोकर लग गई।' अपनी गलती से, अपने प्रमाद से ठोकर लगी इस बात को हम स्वीकार नहीं करेंगे, किंतु कहेंगे कि पत्थर ठीक स्थान पर नहीं थे, इसलिए ठोकर लगी। दरवाजा छोटा है, इसीलिए सिर में चोट लगी, किंतु मैंने दरवाजे को छोटा समझकर भी अपने को छोटा नहीं किया, सिकोड़ा नहीं, इसीलिए सिर में चोट लगी ऐसा कोई नहीं सोचता। उसने मेरे साथ ऐसा किया, वैसा किया। उसने मेरे मित्र को बिगाड़ डाला। उसने उसे भ्रमित कर दिया।

हम सारा दोषारोपण दूसरों पर करते हैं। दूसरों में दोष देखते हैं और दूसरों को दोषी मानकर अपने आपको बचा लेते हैं, परंतु जिसने सत्य को खोजा है, जो सत्य का खोजी है, वह दूसरों पर आरोप नहीं लगाता। वह इस बात का अनुभव करता है कि उसका अपना ही प्रमाद बहुत सारी विकृतियां उत्पन्न करा रहा है। इसलिए वह इस प्रयत्न में रहेगा कि वह अप्रमत्त रह सके, जागृत रह सके, सतत जागरूक रह सके।

मित्रता : अस्तित्व का स्वीकार

मैं समझता हूं कि शत्रुता का इतना ही अर्थ नहीं है कि दूसरे से द्वेष रहे और मित्रता का अर्थ इतना ही नहीं है कि दूसरे से प्रेम रहे। शत्रुता का अर्थ है अपने कर्तव्य को भुलाकर दूसरे के कर्तव्य में बुराइयां देखना। यह एक प्रकार की शत्रुता है। पत्थर के प्रति भी हमारी शत्रुता हो जाती है। हम पत्थर को भी गालियां देने लग जाते हैं। पूरा बर्तन पानी से भरा था। एक हाथ से उसे उठाया। वह फूट गया। अब इस सचाई को नहीं खोजा कि पानी से भरा हुआ पात्र एक हाथ से उठाया जाएगा तो छूटेगा और फूटेगा। इसको हम नहीं सोचेंगे। हम कहेंगे, पात्र इतना कच्चा था कि नहीं फूटता तो और क्या होता? यह परिणाम तो अवश्यंभावी था। इस प्रकार अपने कर्तव्य को बचाने की जो बात है, वह भी एक प्रकार से दूसरों के प्रति शत्रुता है। दूसरी वस्तु चाहे सजीव हो या निर्जीव। मित्रता का अर्थ केवल प्रेम ही नहीं है। प्रेम भी मित्रता है, किंतु वास्तव

में मित्रता है सबके अस्तित्व को स्वीकार करना, जो जैसा है, उसे उसी रूप में स्वीकार करना, किसी को किसी पर आरोपित न करना। यह है मित्रता। यह अनाशातना है। जैन साहित्य का महत्त्वपूर्ण शब्द है आशातना। जीव की आशातना होती है, अजीव की आशातना होती है। मकान की आशातना होती है। कपड़े की आशातना होती है। हर वस्तु की आशातना होती है। हमारा यह व्यापक दृष्टिकोण है कि हम सत्य को खोजें और सबके साथ मैत्री करें। अर्थात् जो जिसका जितना है, उसे स्वीकार करें सहज भाव से और किसी पर भी कुछ आरोपित न करें। यह सचाई है। इसे हम पकड़ें। इस सचाई को पकड़े बिना कोई साधना नहीं कर सकता।

प्रकंपनों का जगत

एक साधक है। वह दो घंटा ध्यान करता है, मौन करता है और सारे दोष दूसरों में देखता है तो मैं समझता हूं कि वह अध्यात्म की साधना नहीं कर रहा है। वह यथार्थ में ध्यान और मौन की साधना नहीं कर रहा है। उसकी दृष्टि दूसरों पर है। इससे उसने क्या पाया? अपने भीतर में उसने क्या खोजा? अपने भीतर में वह क्या बदला? साधना से कुछ बदलाव होना चाहिए, परिवर्तन होना चाहिए। परिवर्तन क्यों नहीं होता? इसका एक कारण तो यह है कि हमारा सारा शरीर प्रकंपित है। हम बहुत बार अनुप्रेक्षा करते हैं, इस बात को दोहराते जाते हैं कि प्रकंपनों को देखो, शरीर में निरंतर होने वाले प्रकंपनों को देखो। हमारा शरीर, सिर से पैर तक, प्रकंपनों का पुलिंदा मात्र है। प्रकंपन ही प्रकंपन। यह अच्छा है कि हम देख नहीं पाते। सारा प्रकंपित है, कुछ भी स्थिर नहीं है। कहीं कुछ ठोसता नहीं है। हड्डियां इतनी पोली हैं कि उनमें से कुछ न कुछ निकल जाता है।

गौतम ने महावीर से पूछा–भंते! बदलता कौन है?

भगवान ने कहा–गौतम! जो अस्थिर है, वह बदलता है। जो स्थिर है, वह नहीं बदलता। बच्चे का सारा शरीर, सारे अवयव बदल जाते हैं, जब वह युवा होता है। हाथ बदल जाते हैं, पैर बदल जाते हैं, सब कुछ बदल जाता है। यह बदलाव क्यों हुआ? यह परिवर्तन क्यों हुआ? उत्तर है कि अस्थिर था, कंपन था। कोरा कंपन था, इसलिए बदल गया। कंपन नहीं होता तो नहीं बदलता। सारा का सारा कंपन था। बीमारी क्यों हुई? कंपन था, इसलिए हुई। कंपन नहीं होता तो बीमारी नहीं होती। स्थिर वस्तु में कभी कोई बीमारी नहीं हो सकती।

अस्थिर में ही बीमारी होती है, कंपनों में ही बीमारी होती है, क्योंकि कंपनों में बदलने की क्षमता होती है। वे बदल जाते हैं, बदल सकते हैं और जो बदलते हैं, वे अच्छे भी हो जाते हैं, बुरे भी हो जाते हैं। सुहावने भी हो जाते हैं और भद्दे भी हो जाते हैं। मीठे भी हो जाते हैं और कड़वे भी हो जाते हैं। जो बदलते हैं, उनमें ये सारी की सारी बातें घटित होती रहती हैं।

हमारा सारा शरीर प्रकंपनों का पुलिंदा है। जो भी हमें दिखाई दे रहा है या दिखाई नहीं दे रहा है, वह सारा प्रकंपन है। मैं बोल रहा हूं। बोलने के साथ-साथ शब्द की तरंगें इतनी तेजी से जा रही हैं कि मानो दसों सांप एक साथ जा रहे हों, किंतु हम उन तरंगों को इन आंखों से बिना माध्यम देख नहीं पा रहे हैं। हम बंगलौर में डॉ. विश्वेश्वरैया साइन्स इन्स्टीट्यूट में गए। एक यंत्र के सामने खड़े होकर हमने कुछ शब्द कहे। उस यंत्र पर शब्द की तरंगें इतनी तेजी से दौड़ती हुई दिखीं कि मानो पचासों सर्प दौड़ रहे हों। सारा प्रकंपन ही प्रकंपन है। हमारा शरीर प्रकंपनमय है, इस सचाई को ठीक से समझें। हमारा जितना परिणमन होता है, परिवर्तन होता है, बदलाव होता है, वह सारा का सारा प्रकंपनों के द्वारा होता है।

हम इस सचाई को भी हृदयंगम कर लें कि प्रकंपनों को बदला जा सकता है यानी प्रतिरोधी प्रकंपन पैदा किए जा सकते हैं। जैसे एक प्रकार का प्रंकपन है विचार की तरंगें। एक प्रकार का विचार चल रहा है, प्रकंपन चल रहा है, उसकी तरंगें चल रही हैं। हम भावना करते हैं। विरोधी तरंगें पैदा करते हैं। पहली तरंगों के साथ उनकी टक्कर होती है, संघर्ष होता है और ये तरंगें इतनी शक्तिशाली होती हैं कि पहली तरंगों को समाप्त कर देती हैं। यह सारा हम प्रकंपनों के लिए करते हैं।

भावना के प्रकंपन

इमं सरीरं अणिच्चं-यह शरीर अनित्य है, इसे मैं दोहराए जा रहा हूं। लोग पूछते हैं कि इससे क्या होगा? हम भी इसे दस-बीस मिनट दोहराएं, पर इससे क्या होगा? इसे आप अभी नहीं समझ सकेंगे। अभी तो आप इसे निष्ठा से करें। यह संकल्प करें कि इसे करना ही है और ऐसा करना अच्छा है, हितकर है, कल्याणकर है। ऐसा करने से क्या होगा, यह बात धीरे-धीरे समझ में आ जाएगी। आप पहले से मान बैठे हैं कि शरीर स्थिर है, नित्य है, यह संस्कार जो बन गया है, उसके अपने प्रकंपन और तरंगें हैं। उसको तोड़ने के लिए विरोधी तरंगें अपेक्षित हैं। आप **इमं सरीरं अणिच्चं**–दोहराते हैं। दस-

बीस मिनट दोहराते जाते हैं। इससे वाचिक प्रकंपन पैदा होते हैं। साथ-साथ आप भावना करते हैं। भावना के प्रकंपन उत्पन्न होते हैं। जैसे-जैसे **इमं सरीरं अणिच्चं** की ध्वनि और भावना शक्तिशाली होती जाएगी। इनकी तरंगें प्रबल होंगी तो वे पूर्वगत संस्कार की तरंगों को समाप्त कर देंगी, विनष्ट कर देंगी। यदि यह बात हमारी समझ में आ जाए तो फिर कोई कारण नहीं है कि **इमं सरीरं अणिच्चं**–दोहराते-दोहराते हम ऊब जाएं, निराश हो जाएं। हम बोलकर प्रकंपन पैदा करते हैं, परंतु ये प्रकंपन इतने कारगर नहीं होते। इसलिए बार-बार कहा जाता है कि मन को एकाग्र करो, मन को साथ-साथ जोड़े रखो। तन्मयता रखो। इसका मतलब है कि कोरा वाणी का प्रकंपन उतना काम नहीं करता। जब भावना के प्रकंपन उसके साथ जुड़ते हैं तो वे अधिक शक्तिशाली हो जाते हैं। वे शक्तिशाली प्रकंपन पहले के प्रकंपनों को नष्ट कर देते हैं।

प्रकंपनों को रोके

प्रकंपनों को रोका जा सकता है। हम निर्विचार ध्यान की बात करते हैं। शरीर को स्थिर करो, कायोत्सर्ग करो, ढीला करो, मौन करो और मन को शांत करो। कुंभक करके मन को निर्विकल्प करो। कोई कल्पना मत करो। इसका मतलब है, प्रकंपनों को रोका जा सकता है। प्रकंपनों को रोकना जरूरी है। रोकने से वे जितने क्षीण होते हैं, उनको जितना धक्का लगता है, उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। चलते-चलते जो गति रुक जाती है, संभलना बड़ा मुश्किल होता है। आदमी बहुत तेजी से चल रहा है। उसे रुकना है तो वह एकदम नहीं रुक सकेगा। पहले उसे अपनी गति को धीमी करना होगा, फिर एक क्षण ऐसा आएगा कि वह रुक जाएगा। इसी प्रकार तेज वाहन को रोकने में भी एकदम ब्रेक लगाने से दुर्घटना हो जाती है। पहले गति को धीमी कर, फिर ब्रेक लगाया जाता है। चलते-चलते हम विचारों पर एकदम ब्रेक लगा देते हैं, श्वास पर ब्रेक लगा देते हैं। उन्हें एकदम रोकते हैं तो इतना तीव्र विस्फोट होता है कि जमे हुए संस्कार टूट जाते हैं। प्रकंपनों को रोकना भी एक सचाई है। प्रकंपन रोके जा सकते हैं।

मैंने छोटी-छोटी बातों का उल्लेख किया है। ये छोटी-छोटी सचाइयां हैं। ये समझ में आ जाएं तो साधना के प्रति हमारी निष्ठा बढ़ेगी और अभ्यास करने में हमारी जागरूकता बढ़ जाएगी। आपको कहा जाता है कि श्वास के मोड़ को देखें। श्वास और प्रश्वास के बीच को देखें। यह बहुत छोटी-सी बात

लग सकती है कि जब हम पूरे श्वास के साथ-साथ मन को ले जा रहे हैं, फिर मोड़ पर ध्यान केन्द्रित क्यों करें? इस बात को भी आप समझ लें कि आपका मन इतना संवेदनशील हो जाए कि वह छोटी-से-छोटी बात को पकड़ सके।

सूक्ष्म बातों की पकड़

सामान्य कैमरा आपका फोटो ले सकता है। आप यहां दो घंटे या दस मिनट तक बैठे रहे, फिर आप उठकर चले गए। अब आपका फोटो लेना है। इस सामान्य कैमरे से काम नहीं चलेगा। उसके लिए संवेदनशील कैमरा चाहिए। वैसा कैमरा आदमी के चले जाने पर भी, जहां वह पहले बैठा था, वहां उसका फोटो ले सकता है, क्योंकि वहां उस आदमी की आकृति के परमाणु अभी भी मौजूद हैं। ऐसे कैमरों द्वारा चोरों को पकड़ा जाता है और भी बहुत सारी चीजें खोजी जाती हैं। बहुत बातों का पता लगाया जाता है। इसके लिए कैमरे में विशेष प्रकार की सूक्ष्म व्यवस्था चाहिए। यही बात हमारे मन की है। हमारे मन की संवदेनशीलता जितनी बढ़ेगी, हम उतनी ही मात्रा में सूक्ष्म बातों को पकड़ने में सक्षम होंगे।

यह सारी प्रक्रिया मन को संवेदनशील बनाने की प्रक्रिया है। छोटे बिंदुओं को पकड़ते चले जाएं। पूरे नासाग्र पर श्वास के प्रकंपनों को देखते हैं। चलते-चलते आपको निर्देश मिलता है कि नथुनों के नीचे एक अंगुली टिके, नासाग्र के इतने-से भाग पर आप मन को केन्द्रित करें और वहां प्रकंपनों को देखें। आप सोचेंगे कि जब हम पूरे नासाग्र पर होने वाले प्रकंपनों को देख रहे हैं, फिर एक बिंदु पर देखने से क्या फर्क पड़ेगा? एक अंगुली टिके उतने ही भाग को क्यों देखें? इसका उत्तर स्पष्ट है। जो मन पूरे नासाग्र पर प्रकंपनों को देख रहा था, उसे तत्काल एक बिंदु पर ला दिया, एक अंगुली टिके उतने भाग पर ले आए यानी उसकी संवेदनशीलता बढ़ गई, क्षमता बढ़ गई।

ये छोटी-छोटी बातें किस प्रकार हमारे मन में परिवर्तन लाती हैं, किस प्रकार हमारी शारीरिक क्रियाओं में परिवर्तन लाती है, किस प्रकार हमारी धारणाओं और संस्कारों में परिवर्तन लाती हैं और किस प्रकार प्रकंपनों की पूरी प्रतिक्रिया को बदलकर हमारे भीतर जमे हुए जो संस्कार हैं, उनका उन्मूलन करती हैं। हम इन सारी बातों को समझ लें तो साधना के द्वारा वह पा सकते हैं, जो पाना है।

स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा

राजा ने एक आदमी पर प्रसन्न होकर कहा–'मांगो। जो मांगोगे, वही दूंगा।' आदमी विचित्र था। उसने धन नहीं मांगा। उसने अधिकार नहीं मांगा। उसने कहा–'राजन्! आप देना ही चाहते हैं, तो मुझे शांति दीजिए। मुझे शांति चाहिए और कुछ नहीं।' राजा ने सोचा–मैं स्वयं अशांत हूं, शांति कहां से दूं? वह तत्काल एक संन्यासी के पास गया और कहा–'महाराज! कृपा करें। मेरी लाज बचाएं। मैंने एक आदमी को मांगने के लिए कह दिया और उसने मांगा कि मुझे शांति दो। मेरे पास शांति नहीं है तो मैं उसे कहां से दूं? आप कृपा करें।'

संन्यासी शांति दे सकता था। उसके पास वह थी। उसने आदमी को बुलाया। शांति का उपाय बताया। उसे शांति दी।

साधना में देने की क्षमता है। जो पुरस्कार हम दूसरों से नहीं पा सकते, स्थूल शरीर से या स्थूल चेतना से नहीं पा सकते, स्थूल कर्म से नहीं पा सकते, वह सूक्ष्म चेतना और सूक्ष्म जगत के स्तर पर पहुंचकर पा सकते हैं। बात यह है कि वहां कोई पहुंचे। यदि हम केवल स्थूल तक ही रह जाएंगे तो वह प्राप्त नहीं होगा। इसलिए हम इस साधना के माध्यम से स्थूल शरीर, स्थूल चेतना का अतिक्रमण कर सूक्ष्म चेतना, सूक्ष्म शरीर तक पहुंचने का प्रयास करें। वहां वह प्राप्त हो जाएगा, जो हम प्राप्त करना चाहते हैं।

12. अध्यात्म के रहस्यों की खोज

हम किसी व्यक्ति के साथ बीस वर्ष जी लेते हैं, पर उसे पहचान नहीं पाते। दूर के व्यक्ति को पहचानना कुछ आसान होता है, किंतु जिस व्यक्ति के पास रहते हैं, उस व्यक्ति का पता लगाना, उसे जान पाना बहुत कठिन होता है।

अध्यात्म का विषय इतना निकट, इतना अभिन्न है, इसीलिए यह रहस्य बना हुआ है, किंतु रहस्य का उद्‌घाटन किए बिना हमारी कोई गति भी नहीं है। आज तक दुनिया में जितना विकास हुआ है, वह रहस्यों के उद्‌घाटन के द्वारा ही हुआ है। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भौतिक वैज्ञानिकों ने रहस्यों का उद्‌घाटन किया और आज वे अणु-विस्फोट की भूमिका तक पहुंच गए।

मानसिक जगत में मनोवैज्ञानिकों ने बहुत सारे रहस्यों का उद्‌घाटन किया और वे अवचेतन मन की भूमिका तक पहुंच गए। अन्य किसी क्षेत्र में जब रहस्यों का उद्‌घाटन हुआ तब शक्ति का स्रोत उनके हाथों में आ गया। बिना रहस्यों का उद्‌घाटन किए शक्ति का स्रोत उपलब्ध नहीं होता और शक्ति का स्रोत उपलब्ध किए बिना संसार का विकास नहीं हो सकता। आज का सारा विकास, भौतिक जगत का सारा विकास बिजली और ईंधन पर निर्भर है। पेट्रोल की एक समस्या उत्पन्न होती है और सारे राष्ट्र डगमगा जाते हैं, चिंतामग्न हो जाते हैं।

उनके सारे शक्ति-स्रोत सूखने लग जाते हैं। आप कल्पना करें कि आज विश्व में पेट्रोल न हो, बिजली न हो, आणविक ईंधन न हो तो क्या यह विकास टिक सकता है? कभी संभव नहीं है। यह सबकुछ बिजली के आधार पर चल रहा है।

हम इस बात को न भूलें कि हमारी शक्ति के विकास का एक स्रोत बिजली है। जैसे वर्तमान का सारा विकास बिजली पर निर्भर है, वैसे ही अध्यात्म-शक्ति का विकास बिजली पर निर्भर है। यह अध्यात्म का रहस्य है।

तैजस शरीर की अभिव्यक्ति

हमारा शरीर विद्युत का शरीर है। मुझे इसकी बहुत चर्चा करने की जरूरत नहीं है। जैन दर्शन को जानने वाला भलीभांति जानता है कि हमारी सारी अभिव्यक्तियां तैजस शरीर के माध्यम से होती हैं। यदि तैजस शरीर न हो तो शरीर का संचालन नहीं हो सकता। कोई बोल नहीं सकता, कोई अंगुली भी नहीं हिला सकता, कोई श्वास नहीं ले सकता, कोई खा नहीं सकता, कोई खाने को पचा नहीं सकता। हमारी सारी ऊर्जा, सारी शक्ति जो प्रकट होती है, वह तैजस शरीर के द्वारा ही होती है। यह सारा विद्युत मंडल, विद्युत का शरीर, तैजस शरीर एक द्वार बनता है शक्ति के अवतरण का और अध्यात्म के निकट तक पहुंचने का।

तैजस शरीर के द्वारा हम ऐसी शक्तियां उपलब्ध करते हैं, जो वर्तमान विश्व के लिए आश्चर्यकारक हो सकती हैं। इन्हीं शक्तियों को प्राचीन साहित्य में 'लब्धि' कहा गया है। इन्हें 'योगजविभूति' भी कहा गया है। ये लब्धियां, ऋद्धियां, योगजविभूतियां तैजस शरीर के माध्यम से प्राप्त होती हैं।

जैन आगम प्रज्ञापना में दो प्रकार के मनुष्यों का वर्णन प्राप्त है–ऋद्धि प्राप्त मनुष्य और अऋद्धि प्राप्त मनुष्य। जिस मनुष्य को ऋद्धियां प्राप्त हैं, विशेष शक्तियां उपलब्ध हैं, वह ऋद्धि-प्राप्त मनुष्य है। उसकी शक्तियां सचमुच विस्मयकारी होती हैं।

बाह्य और अध्यात्म

अध्यात्म की चर्चा करते समय एक भेदरेखा खींचनी होगी कि हम किसे बाह्य मानें और किसे अध्यात्म। प्राचीन आचार्यों ने एक भेदरेखा खींची है। भगवान महावीर ने कहा–'अध्यात्म को जानने वाला बाह्य को जानता है और बाह्य को जानने वाला अध्यात्म को जानता है' इसका तात्पर्य है कि हमारे सामने दो स्थितियां स्पष्ट हैं। एक है बाह्य जगत की और एक है अध्यात्म जगत की।

एक है हमारे बाहर का संसार और एक है हमारे भीतर का संसार। बाहर के संसार का नाम है समाज और भीतर के संसार का नाम है व्यक्ति। व्यक्ति और समाज ये दो हमारे जीवन के पहलू हैं। हम बाह्य जगत से जुड़ते हैं, इसका तात्पर्य है कि हम दूसरे से जुड़ते हैं। जहां दूसरे के साथ हमारा संबंध स्थापित होता है, वहां समाज बनता है। व्यक्ति समाज बन जाता है। जहां हम अकेले रहे, किसी के साथ जुड़े नहीं, अकेलापन सुरक्षित रहा, वहां हम व्यक्ति ही रहे,

समाज नहीं बने। हम समाज का जीवन भी जीते हैं और व्यक्ति का जीवन भी जीते हैं। व्यक्ति के जीवन में घटित होने वाली घटनाएं भिन्न प्रकार की होती हैं।

हम दोनों प्रकार का जीवन जीते हैं–वैयक्तिक और सामाजिक। हमारा जीवन दोनों आयामों वाला जीवन है। हमारा वैयक्तिक जीवन आध्यात्मिक जीवन है, आंतरिक जीवन है और सामाजिक जीवन बाहरी जीवन है। यह बाह्य दुनिया में होने वाला जीवन है। हम दोनों प्रकार के जीवन जीते हैं और दोनों रहस्यों की खोज करते हैं। हम बाह्य जगत (सामाजिक जीवन) की जो घटनाएं हैं, उनकी व्याख्या करते हैं और आंतरिक जगत (व्यक्तिगत जीवन) की जो घटनाएं हैं, उनकी भी व्याख्या करते हैं।

अंतर्जगत चेतना का जगत है, केवल चेतना का जगत है। वहां केवल चेतना होती है और कुछ नहीं होता। इसे हम आनंद कहें, शक्ति कहें, ज्ञान कहें, कुछ भी कहें। केवल चेतना है। उस चेतना में जो कुछ है, वह आनंद भी है, शक्ति भी है, ज्ञान भी है। यह सारी चेतना और कुछ नहीं है।

बाहर का जगत नाना प्रकार का जगत है। यहां अनेक द्रव्य हैं, पदार्थ हैं, अणु-परमाणुओं का संघटन है। भीतर केवल चेतना है। उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

एक है चेतना का जगत और एक है पदार्थ का जगत। जब हम चेतना के जगत की ओर बढ़ते हैं, जो भी निर्णय करते हैं, जहां पहुंचते हैं, वह है हमारा अध्यात्म। चेतना से हटकर, दूसरों के साथ जुड़कर जो कुछ करते हैं, वह है हमारा भौतिक जगत, वस्तु जगत।

रहस्य की खोज के लिए कुछ गहराई में उतरना पड़ता है। कई बार ऐसा होता है कि निमित्त बनता है और रहस्य का उद्घाटन हो जाता है। कई बार ऐसा होता है कि निमित्त नहीं बनता, अनायास ही अतल गहराई में डुबकी लगाने का मौका मिलता है और रहस्य का उद्घाटन हो जाता है।

चिकित्सा जगत में नया प्रवेश

एक व्यक्ति पहाड़ के पास बैठा था। झरना बह रहा था। एक हिरनी आई। उसने लंबे समय तक अपनी एक टांग को पानी में डुबोए रखा। दूसरे दिन भी आई। तीसरे और चौथे दिन भी आई। चार दिन तक वह लंगड़ाते-लंगड़ाते आई और पांचवें दिन वह ठीक ढंग से चलने लगी।

उस व्यक्ति ने सोचा–यह रोज क्यों आती थी? उसने पता लगाया। हिरनी के पैर को देखा। उसका पैर जख्मी था। हड्डी टूट-सी गई थी। दो-चार दिन के पानी के उपचार से वह पैर ठीक हो गया। व्यक्ति ने उस उपचार को पकड़ा। प्राकृतिक चिकित्सा का प्रारंभ हो गया। जल के उपचार, मिट्टी के उपचार का प्रारंभ हो गया।

एक व्यक्ति बैठा था। उसने देखा कि बच्चा सो रहा है। उसका श्वास फूल रहा है। श्वास गहरा आ रहा है, पेट फूल रहा है और सिकुड़ रहा है। वह ला-ला-ला की अव्यक्त ध्वनि भी कर रहा है। व्यक्ति ने ध्यान दिया। सोचा, इस ध्वनि के साथ कुछ हो रहा है। उसने प्रयोग किया। ध्वनि-चिकित्सा का विकास हो गया। व्यक्ति ने शब्दों के उच्चारण के द्वारा, ध्वनि-चिकित्सा का विकास किया। इस पद्धति से बीमारियों को मिटाया जाता है।

एक आदमी के सिर में भयंकर दर्द रहता था। वह वैद्यों के पास गया। डॉक्टरों के पास गया। काफी चिकित्सा कराई, पर सब व्यर्थ। वह जीवन से घबरा गया। उसका जीना दूभर हो गया। एक बार किसी व्यक्ति के साथ उसकी लड़ाई हुई। प्रतिपक्षी ने गुस्से में आकर तीर फेंका। जैसे ही वह तीर पैर में चुभा, सिर का दर्द तत्काल मिट गया। वह आश्चर्य में पड़ गया। उसने सोचा–इतने उपचार भी मेरे सिरदर्द को नहीं मिटा पाए और आज एक तीर लगते ही वह मिट गया, मानो कि वह कभी हुआ ही न हो। वह रहस्य को समझ नहीं सका।

वह वैद्यों के पास गया। अपनी रामकहानी सुनाई। सभी अचंभे में पड़ गए। वैसा ही प्रयोग प्रारंभ किया। दूसरे आदमी के सिर में दर्द आया, उसे तीर चुभोया और वह ठीक हो गया। तीसरे, चौथे, पांचवें व्यक्ति पर भी प्रयोग किया और सिरदर्द गायब हो गया। यह तथ्य स्थापित हो गया कि सिरदर्द होने पर पैर के अमुक स्थान में तीर चुभाने से दर्द मिट जाता है। एक्यूपंक्चर चिकित्सा-पद्धति की यह कहानी है।

हमारा शरीर विद्युत का शरीर है। इसमें बिजली की प्रधानता है। हम मानें या न मानें, यह बहुत ही स्पष्ट है कि बिजली के असंतुलन के कारण हमारे शरीर में अनेक बीमारियां हो जाती हैं। तैजस शरीर के अस्त-व्यस्त होने पर शरीर में विकृतियां उत्पन्न होती हैं। यदि हम तैजस शरीर की समुचित व्यवस्था कर लें, बिजली का उचित संतुलन स्थापित कर लें और समीकरण कर लें तो अनेक चीजों को हम स्वयं समाप्त कर सकते हैं। अनेक स्थितियां स्वयं समाहित हो सकती हैं।

खोज करें रहस्यों की

रहस्यों की खोज किए बिना, रहस्यों का उद्घाटन किए बिना विकास नहीं हो सकता, शक्तियां उपलब्ध नहीं हो सकतीं। प्राचीन आचार्यों ने अनेक रहस्य खोजे। आज हम सिद्धांतों को तो समझते हैं, पर वे रहस्य याद नहीं रख पाए। उनकी विस्मृति हो गई। विस्मृति के कारण उन रहस्यों की हम ठीक से व्याख्या नहीं कर सकते और उन सबका प्रयोग नहीं कर सकते।

इस प्रसंग में मैं एक घटना की चर्चा करूंगा। मैंने एक बात पढ़ी थी कि उत्तर की ओर सिर करके नहीं सोना चाहिए अर्थात् दक्षिण की ओर पैर करके नहीं सोना चाहिए। यह बात हमारे यहां प्रचलित भी है। कुछ इसे अंधविश्वास भी मानते हैं। वे कहते हैं कि सोते समय पैर चाहे दक्षिण में हों, उत्तर में हों, पश्चिम में हों, पूर्व में हों, क्या फर्क पड़ता है? कहीं तो सिर करना ही होगा! कहीं तो पैर करने ही होंगे! आज प्रत्येक चीज की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। विज्ञान रहस्यों के उद्घाटन के पीछे इस प्रकार पड़ा हुआ है कि आज कोई भी व्यक्ति किसी चीज को अंधविश्वास कहता है तो वह उसका दुःसाहस है। पुराने जमाने में कह सकता था, आज नहीं कहा जा सकता। अभी-अभी इसकी वैज्ञानिक व्याख्या पढ़ी तो आश्चर्य हुआ।

हमारे शरीर में दो प्रकार के विद्युत हैं–एक है पोजिटिव और एक है नेगेटिव। एक है धनविद्युत और एक है ऋणविद्युत। शरीर का ऊपर का जो भाग है आंख, कान, नाक, सिर और मुंह–इन सब में धनविद्युत है। नीचे का जो भाग है पैर, जांघ आदि, इन सब में ऋणविद्युत है। व्यक्ति ब्रह्मांड से, जगत से भिन्न नहीं होता। जब इससे संबंध जुड़ता है तब व्यक्ति समान बन जाता है। हम ऐसे जगत में जीते हैं, जहां वातावरण का प्रभाव होता है, परिस्थिति का प्रभाव होता है। हम इन सबसे प्रभावित होते हैं।

विश्व में दो ध्रुव माने जाते हैं। एक है उत्तरी ध्रुव और दूसरा है दक्षिणी ध्रुव। जो उत्तरी ध्रुव है उसमें बिजली का अटूट भंडार है। वहां इतनी बिजली है कि जहां जाने पर ऐसा लगता है कि मानो सैकड़ों सूर्य उग आए हों। बहुत चकाचौंध है। पता ही नहीं लगता कि कहीं अंधकार है। दक्षिणी ध्रुव में भी इतनी ही विद्युत है। उत्तरी ध्रुव में धनविद्युत है और दक्षिणी ध्रुव में ऋणविद्युत। जब आदमी उत्तर की ओर सिर करके सोता है तब उसके पैर दक्षिण की ओर होते हैं। दक्षिण से जो विद्युत का प्रवाह आता है, वह ऋणात्मक होता है और

मनुष्य के पैर की विद्युत भी ऋणात्मक होती है। जहां दो ऋणात्मक विद्युत परस्पर मिलती हैं, वहां प्रतिरोध होता है, टक्कर होती है। इसी प्रकार जब धनविद्युत से धनविद्युत मिलती है तब प्रतिरोध होता है। वे एक-दूसरे को सहारा नहीं देतीं, किंतु एक-दूसरे को हटाने का प्रयास करती हैं। इसलिए जो व्यक्ति दक्षिण की ओर पैर करके सोता है, उसकी ऋणविद्युत दक्षिणी ध्रुव से आने वाली ऋणविद्युत से टकराती है। उस स्थिति में व्यक्ति के मन में चिंता उत्पन्न होती है, बुरे स्वप्न आते हैं, शरीर में बीमारियां तथा विकृतियां उत्पन्न होती हैं, इसलिए वैज्ञानिकों ने यह प्रतिपादन किया कि दक्षिण की ओर पैर करके नहीं सोना चाहिए। इससे शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की बीमारियां होती हैं। रहस्यों का उद्घाटन करने पर जो बात हमारी समझ में सही दृष्टि से आती है और जिस पर हमारा सही विश्वास उत्पन्न होता है, वह मान्यता मात्र से नहीं होता।

पाप से बचने का उपाय

धर्म का मूल सूत्र है पाप मत करो, पाप से बचो, पर कैसे बचा जा सकता है, यह प्रश्न है। कितना चंचल है मन। कितना चंचल है शरीर। कितनी चंचल है वाणी। इनसे कुछ न कुछ हो ही जाता है। हम पापों से बचें। क्या उपाय है उनसे बचने का? अध्यात्म के रहस्य का उद्घाटन किए बिना यह समझ में नहीं आ सकता। यह प्रश्न समाहित नहीं हो सकता। वह यह मान ही नहीं सकता कि पापों से आदमी बच सकता है और इस दुनिया में रहकर आदमी पापों से बच सकता है, जहां पाप करने के लिए हजारों प्रेरणाएं निरंतर प्राप्त होती रहती हैं। ऐसी स्थिति में पापों से कैसे बचा जा सकता है?

भगवान महावीर ने इसका उपाय बताते हुए कहा–एक कछुआ है। जब कोई कठिन स्थिति पैदा होती है, पक्षी उसे नोचने आते हैं, सियार आदि उसे खाने आते हैं, असुरक्षा का वातावरण बन जाता है, भय उत्पन्न हो जाता है, तब वह तत्काल अपनी खाल में चला जाता है। प्रकृति ने उसे ऐसी खाल भी दी है, जो उसके लिए ढाल का काम करती है। प्राचीन काल में जब तलवारों और भालों से युद्ध होता था, तब योद्धा अपने हाथों में ढाल रखते थे। वह भी कछुए की खाल से ही बनती थी। कछुआ अपनी खाल के भीतर जाने के बाद सब प्रकार से सुरक्षित बन जाता था। क्या हमारे पास भी ऐसी कोई ढाल है, जिसमें पहुंचकर हम पापों से बच सकें? हमारे मन में वासना उभरती है। हमारे ऊपर वासना का आक्रमण होता है, क्रोध का आक्रमण होता है, आवेश का

आक्रमण होता है। क्या कोई उपाय है इन आक्रमणों से बचने का? हां, उपाय है। भगवान ने कहा–'जैसे कछुआ बाहरी आक्रमण से बचने के लिए अपनी ढाल में चला जाता है, वैसे ही तुम अध्यात्म में चले जाओ। सभी आक्रमणों से बच जाओगे। चेतना के पास चले जाओ, भीतर चले जाओ, अंदर प्रवेश कर लो, सुरक्षित हो जाओगे। जब तक मन बाहर भटकता है, तब तक वासनाएं उभरती हैं, आवेश उभरते हैं। जो स्थितियां चिंता, भय और दुःख उत्पन्न करने वाली हैं, वे सारी उभरती हैं, उभर सकती हैं। तुम भीतर चले जाओ, चेतना के जगत में चले जाओ, चेतना का नैकट्य प्राप्त कर लो, सुरक्षित हो जाओगे, पाप से बच जाओगे। वहां कोई खतरा नहीं, कोई भय नहीं। यह एक ज्वलंत शक्ति है। इसका अनुभव किया जा सकता है।

प्रवेश करें चेतना में

एक बात वह होती है, जो माननी पड़ती है और एक बात वह होती है, जो माननी नहीं पड़ती, किंतु जिसकी अनुभूति की जा सकती है। अध्यात्म की बात मानने की बात नहीं है। यह अनुभूति में लाने की बात है। आप भी ऐसी स्थिति का निर्माण कर सकते हैं और आज रात को सोने से पहले-पहले उसका अनुभव कर सकते हैं। जैसे ही मन में कोई विचार आया, विकल्प आया, बुरा चिंतन उभरा, आप तत्काल अपने भीतर चले जाएं, मन को भीतर ले जाएं। ऐसा लगेगा कि आप दूसरी दुनिया में पहुंच गए हैं। सारे विचार, सारे विकल्प और सारे चिंतन बाहर आ गए हैं। अब इनका आक्रमण आप पर नहीं हो सकता। यही है प्रेक्षाध्यान। इसका अर्थ है अपने आपको देखने लग जाना। जिस क्षण में आप अपने आपको देखने लग जाते हैं, चेतना के क्षेत्र में चले जाते हैं, फिर आप आक्रमण से मुक्त हो जाते हैं। किसी का आक्रमण हो नहीं सकता।

अध्यात्म के द्वारा हम इनसे बच सकते हैं। अध्यात्म हमें इन सारे बाहरी आक्रमणों से बचा सकता है और इन सारे प्रभावों से अप्रभावित रख सकता है। आज हम उस अध्यात्म से थोड़ा दूर भटक गए हैं। आज बताने वाले नहीं रहे। अध्यात्म के रहस्य भी आज अज्ञात बन गए हैं। इसका कारण क्या बना?

एक आदमी चलता है। पैर से दबकर जीव मर जाता है। हम कहते हैं हिंसा हो गई। उसने जीव को मार डाला, हिंसा हो गई। यह हमारा निर्णय हुआ। यह व्यवहार का निर्णय है, बाहरी दुनिया का निर्णय है। भगवान महावीर ने या किसी मनस्वी आचार्य ने यह नहीं माना। उन्होंने यही कहा–बंध होता है

अध्यवसाय से। एक होता है अध्यवसाय और एक होती है घटना। दोनों दो बातें हैं। अध्यवसाय अंतर्जगत का निर्णय है और घटना बाह्य जगत में घटित होती है। आचार्य भिक्षु ने यह कहा था कि मारने वाला हिंसक होता है। जो मारता है अर्थात् जिसका मारने का अध्यवसाय है, वह हिंसक है। जीव जीता है या मरता है, इससे कोई संबंध नहीं है। जीता है तो कोई दया नहीं होती और मरता है तो कोई हिंसा नहीं होती। जीव मरता है या नहीं मरता, यह गौण बात है, दूसरी बात है–मारने का जो संकल्प है, अध्यवसाय है, परिणाम है, यह मुख्य बात है। हिंसा है मारने का अध्यवसाय, अध्यात्म के जगत में पहुंचकर जब हम रहस्यों को देखते हैं तब हमारी सारी साधना-पद्धति बदल जाती है, फिर हम घटना को मुख्य मानकर व्यवहार नहीं चलाते, किंतु अंतर को मुख्य मानकर व्यवहार चलाते हैं।

अध्यात्म और व्यवहार

एक है सामाजिक जीवन। सामाजिक जीवन के निर्णय व्यवहार के आधार पर होते हैं और व्यवहार के आधार पर ही व्यक्ति जीवन चलाता है।

एक है व्यक्ति का जीवन। इसमें निर्णय का सारा आधार होता है आंतरिक जीवन। इसलिए यह कहा गया कि दिन हो या रात, कोई देख रहा हो या न देख रहो हो, कोई फर्क नहीं पड़ता। जिस स्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ता, वह आंतरिक स्थिति होती है। अंतर आता है व्यवहार के जगत में। व्यवहार को मानकर चलने वाला, आचरण करने से पहले देखेगा कि प्रकाश है या अंधकार, कोई देख रहा है या नहीं देख रहा है। इस आधार पर उसका आचरण होगा, अगला कदम उठेगा।

स्वप्न क्यों आता है? हम नींद में स्वप्न क्यों देखते हैं? मानसशास्त्रियों की व्याख्या है कि हमारे मन की जो दमित वासनाएं होती हैं, उनको प्रकट होने का जब मौका नहीं मिलता तब वे स्वप्न में प्रकट होती हैं, इसलिए हमें स्वप्न आते हैं। किसी सीमा तक यह सचाई है। कभी-कभी ऐसा होता है कि सोते समय जो बात मन में रह जाती है, सपने में वही दृश्य हमें दिखाई देता है। यह बहुत बड़ी सचाई है अध्यात्म की। क्रोध आता है। वहां तक पहुंचकर आप स्थिति को समाप्त करें। उसे दबाएं नहीं। उस पर नियंत्रण न करें। व्यवहार की बात तो ठीक है। मैं आपको व्यवहार से सर्वथा मुक्त होने की बात नहीं कहता। हमारी नियंत्रण की शक्ति है, हमारा विवेक है। हम बाह्य जगत में जीते हैं, इसलिए व्यवहार को भी मानकर चलते हैं। कुछ नियंत्रण भी होता है, दमन

भी होता है, दबाव भी होता है, किंतु अध्यात्म की चर्चा करते समय यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि यह मात्र व्यवहार की बात है, यह कोई अध्यात्म की बात नहीं। अध्यात्म की बात तो यह है कि हम मूल तक पहुंच जाएं।

सारी समस्याओं का मूल है राग और द्वेष। प्रचलित भाषा में कहा जा सकता है हिंसा। चाहे परिग्रह का प्रश्न है, चाहे अब्रह्मचर्य का प्रश्न है, चाहे चोरी का प्रश्न है, चाहे झूठ बोलने का प्रश्न है–इन सबको हमारे आचार्यों ने हिंसा माना है। इसे उलटकर देखें तो अहिंसा से भिन्न कोई महाव्रत नहीं है। दो शब्दों में सबकुछ आ गया–हिंसा और अहिंसा। अहिंसा क्या है? राग आदि को उत्पन्न न करना अहिंसा है। आप अहिंसा की बात को, अहिंसा की घटना को हिंसा के साथ मत देखिए। घटना को मिटाने का प्रयत्न भी मत करिए। उस क्षण को देखें, जिस क्षण में राग उत्पन्न हो रहा है। जिस क्षण में राग उत्पन्न हो रहा है, वही क्षण वास्तव में जागृत रहने का क्षण है।

जागरूक रहें वर्तमान के प्रति

प्रेक्षाध्यान का सूत्र है अप्रमाद। प्रेक्षाध्यान का सूत्र है जागरूकता। किसके प्रति जागरूकता? अतीत के प्रति जागरूक रहने की जरूरत नहीं है। भविष्य के प्रति भी जागरूक रहने की जरूरत नहीं है। जागरूक रहें वर्तमान क्षण के प्रति। वर्तमान क्षण के प्रति जागरूक रहने का तात्पर्य यह है कि कोई बीज होगा, वह बोया जाएगा वर्तमान के क्षण में। बाद में तो फल लगता है, बाद में तो परिणाम आता है, बाद में एक वृक्ष बनता है। आप वृक्ष को नहीं उखाड़ सकते। आप फल को नहीं रोक सकते। आप केवल यही देखें कि बीज बोया जा रहा है या नहीं बोया जा रहा है। हमें जागरूक रहना है वर्तमान के उस क्षण के प्रति जिस क्षण में बीज की बुवाई होती है। यह राग का क्षण, यह द्वेष का क्षण, यह राग का बीज, यह द्वेष का बीज। जिस क्षण में बोया जाता है, उस क्षण के प्रति यदि हम जागरूक नहीं होते हैं तो परिणामों के प्रति जागरूक होने का कोई अर्थ नहीं होता। अध्यात्म का एक बहुत बड़ा रहस्य जो अध्यात्म के सूत्रों से प्रतिपादित हुआ है, वह है राग का क्षण हिंसा है, द्वेष का क्षण हिंसा है। अराग का क्षण अहिंसा है, अद्वेष का क्षण अहिंसा है।

बहुत विचित्र घटनाएं घटित होती हैं। मन में कोई भी विकल्प उठा, विचार आया और हमने उसकी उपेक्षा कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि वह बीज बो दिया और वह बीज जब बड़ा होगा तो निश्चित ही अपना परिणाम

लाएगा। हम दुनिया की घटनाओं को देखें। पचास-साठ वर्ष तक जिस व्यक्ति का जीवन यशस्वी रहा, जिस व्यक्ति का पूर्वार्द्ध पूर्ण तेजस्वी और उदितोदित रहा, वही व्यक्ति अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में पतित हो गया, नष्ट हो गया। हमें आश्चर्य होता है कि यह कैसे हुआ? जो व्यक्ति पचास-साठ वर्ष तक यशस्वी और तेजस्वी जीवन जी लेता है, वह आगे के वर्षों में पतन की ओर कैसे जा सकता है? हम सामान्यतः इसकी व्याख्या नहीं कर सकते, किंतु ऐसा घटित होने के पीछे भी कुछ कारण अवश्य होते हैं। यदि हम सूक्ष्मता से ध्यान दें, गहराई से सोचें तो यह तथ्य स्पष्ट होगा कि जो बीज बोया गया था, उसका प्रायश्चित्त नहीं हुआ, वह वृक्ष बन गया, घटना घटित हो गई।

प्रायश्चित्त यही तो है कि जिस क्षण मन में राग का संस्कार उत्पन्न हुआ, जिस क्षण मन में द्वेष का संस्कार उत्पन्न हुआ, उसे धो डालो, सफाई कर दो, परिवर्तन कर दो, फिर वह सताएगा नहीं। बीज को नष्ट कर दिया, वह वृक्ष नहीं बन पाएगा। प्रायश्चित्त नहीं होता है तो बीज को पनपने का मौका मिल जाता है, अंकुरित होने का मौका मिल जाता है। कालांतर में वह वृक्ष बन जाता है, उसके फल लग जाते हैं, उसकी जड़ें जम जाती हैं। अब हमारे वश की बात नहीं रहती। हमें उसके फल भुगतने पड़ते हैं। फल भुगतने के लिए हमें बाध्य होना पड़ता है।

अध्यात्म का बहुत बड़ा रहस्य है कि हम उस क्षण के प्रति जागरूक रहें, जिस क्षण में राग और द्वेष के बीज की बुवाई होती है।

अध्यात्म और कानून

हम अहिंसक हैं। हमने बहुत स्थूल रूप से मान लिया कि किसी को न मारना अहिंसा है, किंतु राग-द्वेष के बीजों की बुवाई होती जाएगी तो अहिंसा कैसे हो सकेगी? व्यवहार के जगत की बात तो ठीक है। कोई आदमी अगर किसी को नहीं मारता है तो वह कानून की पकड़ में नहीं आएगा। कानून उसे पकड़ेगा नहीं, सताएगा नहीं, क्योंकि वह ऐसा कोई काम नहीं कर रहा है, जो कानून की सीमा में आ सके। कानून का सूत्र है कार्य। ऐसा कार्य जो पकड़ में आ सके। अध्यात्म का सूत्र है अध्यवसाय। कार्य हो या न हो, अध्यवसाय मात्र जिम्मेवार हो जाता है। ऐसा अध्यवसाय, ऐसा संकल्प, ऐसा विचार, ऐसा परिणाम जो हिंसाप्रधान हो, वह आया, आपने कुछ किया नहीं, फिर भी आप उस हिंसा से बंध गए। आप अपने आपको वैसा प्रस्तुत कर सकते हैं कि हमने

कुछ किया तो नहीं, फिर हम उस घटना के प्रति उत्तरदायी कैसे? अध्यात्म इसे स्वीकार नहीं करता कि आपने क्रिया-रूप में कुछ किया या नहीं। वह वहां तक पहुंचता है कि आपने ऐसा सोचा या नहीं, ऐसा चिंतन किया या नहीं।

अध्यात्म का सारा निर्णय होता है चिंतन के आधार पर, परिणाम और अध्यवसाय के आधार पर। कानून का सारा निर्णय होता है कार्य के आधार पर। यदि यह बात हमारी समझ में ठीक से आ जाती है तो जागरूकता का क्षेत्र खुल जाता है, जागरूकता की सीमा बढ़ जाती है, फिर हम परिणाम के प्रति उतने जागरूक नहीं होते, जितने कि मूल के प्रति जागरूक हो जाते हैं। जब मन पर थोड़ा प्रमाद छाता है, हमारी जागरूकता चली जाती है परिस्थिति पर, परिणाम पर। हम सोचने लग जाते हैं कि उसने मेरी शिकायत कर दी, उसने मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया, उसने मेरा अपमान कर डाला। हमारा सारा चिंतन बाह्य जगत पर चला जाता है। यह नहीं सोचा जाता कि राग का क्षण हमने कैसे जिया था, द्वेष का क्षण हमने कैसे जिया था? हम अध्यात्म से हटकर बाहर के निर्णय पर चले जाते हैं।

कर्तृत्व आत्मा का

भगवान महावीर ने महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया कि समूची जिम्मेवारी, समूचा दायित्व आत्मा पर है। उन्होंने कभी नहीं कहा कि आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई शत्रु है या मित्र है। उनका सूत्र यही रहा कि आत्मा ही मित्र है। बाहर मित्र की क्या खोज कर रहे हो। उन्होंने कभी नहीं कहा कि दूसरा कोई तुम्हें बंधन में डालता है, फंसाता है। यह बंध और मोक्ष का दायित्व, यह पुण्य और पाप का दायित्व, यह सुख और दुःख का दायित्व, सारा दायित्व आत्मा का है। आत्मा ही सबकुछ करने वाला है। क्या हम अध्यात्म के इस रहस्य की गहराई तक पहुंचने का प्रयत्न करते हैं कि यह सारा दायित्व हम पर है? हमेशा हम प्रत्येक बात का दायित्व दूसरों पर डाल देते हैं और हम जब तक दूसरों पर दायित्व नहीं डाल देते, तब तक मन बेचैन रहता है। हम बहाना ढूंढ़ लेते हैं कि अमुक ने ऐसे किया, अमुक ने वैसे किया। ऐसा कर हम अपने आपको हल्का अनुभव करते हैं और सोचते हैं कि चलो अपना काम हो गया, किंतु अध्यात्म का रहस्य इससे भिन्न है। अध्यात्म का महत्त्वपूर्ण रहस्य यह है कि किसी के लिए कोई जिम्मेदारी नहीं। सारी घटनाओं के लिए जो अंतिम जिम्मेदार है, वह अपनी आत्मा है, अपना अध्यवसाय है।

अभी मैंने जिनकी चर्चा की है, वे सब खोजे गए रहस्य हैं। हमारे तीर्थंकरों ने, हमारे आचार्यों ने इनकी खोज की थी। जो खोजे गए रहस्य हैं, उनकी मात्र-स्मृति मैंने आपके सामने प्रस्तुत की है। आपको थोड़ी-सी याद दिलाई है। इन रहस्यों के प्रति हमारा ध्यान केन्द्रित हो और नए रहस्यों को खोजने की एक तड़फ, एक भावना, सघन श्रद्धा मन में जागृत हो, पुरुषार्थ उस दिशा में आगे बढ़े तो इस संसार में भोगी जाने वाली बहुत सारी व्याधियों और मानसिक संकटों से बच सकते हैं। हम कछुए की भांति अपने लिए ऐसी ढाल बना सकते हैं, सारे आक्रमणों, अतिक्रमणों से अपने-आपको सुरक्षित अनुभव कर सकते हैं।

13. अध्यात्म और व्यवहार

प्रवृत्ति से पूर्व उद्देश्य को स्पष्ट करना आवश्यक होता है। बिना प्रयोजन मूर्ख भी प्रवृत्त नहीं होता। इसलिए प्रयोजन को स्पष्ट करना पड़ता है। साधना का उद्देश्य और संबंध बताना जरूरी होता है। प्राचीन काल में ग्रंथ-निर्माण के प्रारंभ में मंगलाचरण, उद्देश्य और संबंध बताया जाता था। आज भी वह आवश्यक है। हम जो कर रहे हैं, उसका उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए। आत्म-साधना, ध्यान, समाधि का प्रयत्न होता है, उसका भी उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए। हम वह प्रवृत्ति क्यों कर रहे हैं? हम उस प्रवृत्ति के द्वारा क्या होना चाहते हैं।

दो स्थितियां होती हैं। एक स्थिति 'है' और दूसरी है 'होना।'। 'है' यह प्रकृतिवादी दर्शन का विषय है। प्रकृतिवादी दर्शन वर्णन करता है, निरूपण करता है कि क्या है? आचारशास्त्र या आचार-विज्ञान का प्रतिपादन है कि क्या होना चाहिए? जहां मूल्य का प्रश्न है, वहां होने की बात प्राप्त होती है कि मुझे क्या होना है? व्यक्ति को क्या होना चाहिए? समाज को क्या होना चाहिए? जहां होने की बात आती है, वहीं मूल्यों का विकास होता है, आचारशास्त्र का विकास होता है। होने की बात के साथ 'मुझे क्या होना है' यह भी जुड़ जाता है। 'क्यों होना चाहिए' यह भी स्पष्ट हो जाता है।

चेतना के दो प्रकार

जैन आगमों में दो शब्द व्यवहृत हैं–संज्ञोपयुक्त और नो संज्ञोपयुक्त। चेतना दो प्रकार की होती है–संज्ञोपयुक्त चेतना और नो संज्ञोपयुक्त चेतना। जिसमें संज्ञा होती है, वह संज्ञोपयुक्त चेतना है और जिसकी संज्ञा समाप्त हो जाती है, वह नो संज्ञोपयुक्त चेतना है। वीतराग नो संज्ञोपयुक्त होता है। उसके उपयोग में, चेतना में कोई संज्ञा नहीं होती। वह संज्ञातीत चेतना होती है। संज्ञातीत चेतना का अर्थ है विशुद्ध चेतना, केवल चेतना। जहां चेतना के

साथ संज्ञा का मिश्रण होता है, जो चेतना संज्ञा से प्रभावित होती है, जो चेतना संवेदनात्मक होती है, वह संज्ञोपयुक्त चेतना कहलाती है। संज्ञाएं दस हैं– 1. आहार संज्ञा 2. भय संज्ञा 3. मैथुन संज्ञा 4. परिग्रह संज्ञा 5. क्रोध संज्ञा 6. मान संज्ञा 7. माया संज्ञा 8. लोभ संज्ञा 9. लोक संज्ञा 10. ओघ संज्ञा।

हमारी साधना का एकमात्र उद्देश्य है चेतना में से इन सारी संज्ञाओं को निकाल देना, वीतराग बन जाना। यही उद्देश्य है हमारी अध्यात्म-साधना का। चेतना के साथ जो संवेदन जुड़ा हुआ है, संज्ञा जुड़ी हुई है, उसको समाप्त कर देना, यह हमारा स्पष्ट लक्ष्य है। इसमें न कोई चामत्कारिक शक्ति प्राप्त करने का उद्देश्य है और न कोई और। केवल अपनी चेतना का संशोधन, परिमार्जन या परिष्कार करना है। जब व्यक्ति की चेतना परिमार्जित और परिष्कृत होती है, तब विकास प्रारंभ हो जाता है।

क्या हम आहार नहीं करें। क्या आहार संज्ञा को समाप्त करने का यही अर्थ है? नहीं। शरीर के रहते हुए ऐसा संभव ही नहीं है कि हम आहार न करें। आहार किए बिना साधना भी नहीं हो सकती। साधना के लिए यदि शरीर जरूरी है तो शरीर के लिए आहार जरूरी है। आहार को नहीं छोड़ा जा सकता, किंतु आहार के प्रति होने वाली आसक्ति या वासना को छोड़ा जा सकता है।

ये सारी संज्ञाएं कुछ ऐसी ही हैं, जैसे साफ पानी में कुछ कीचड़ मिल गया हो। पानी साफ है। उसमें धूल मिल गई, कूड़ा-कर्कट मिल गया, वह गंदला हो गया। चेतना शुद्ध है, उसमें संज्ञाएं जुड़ गईं। वह विकृत हो गई।

गंदे पानी को साफ किया जा सकता है। उसकी सफाई की अनेक पद्धतियां विकसित हैं। प्राचीन काल में अनेक पद्धतियां थीं। आज भी हैं। गंदा पानी निर्मल हो सकता है। पानी अपने आपमें स्वच्छ है, निर्मल है। उस निर्मलता को मिटाया नहीं जा सकता, किंतु जो कुछ उसमें मिला था, उसे निकाला जा सकता है। उसके निकलने से पानी वैसा का वैसा निर्मल हो जाता है।

हमारी चेतना निर्मल है। निर्मलता को कभी समाप्त नहीं किया जा सकता। वह कभी नहीं मिटती। केवल उसमें इतना-सा अंतर आता है कि जब उसमें संज्ञाओं का कूड़ा-कर्कट मिल जाता है, संवेदनाओं की गंदगी मिल जाती है, तब चेतना भी गंदी हो जाती है। उसकी स्वच्छता मिट जाती है, आवृत हो जाती है। दर्पण अंधा बन जाता है। जब दर्पण अंधा हो जाता है तब उसमें प्रतिबिंबों को ग्रहण करने का सामर्थ्य कम हो जाता है या समाप्त ही हो जाता

है। उसे साफ करने पर पुनः उसकी क्षमता प्रकट हो जाती है और वह प्रतिबिंब ग्रहण करने में सक्षम हो जाता है।

चेतना भी संज्ञाओं के कारण धुंधली हो जाती है, अस्पष्ट हो जाती है, गंदी हो जाती है। उसे निर्मल बना लेना, उसे यथावत् बनाकर केवल चेतना के रूप में रखना, यह है हमारी साधना का उद्देश्य।

पहला चरण साधना का

साधना का रहस्य है केवल जानना। इसे आज भी प्राप्त किया जा सकता है। केवलज्ञान यानी कोरा ज्ञान, सिर्फ ज्ञान, जिसमें कोई भी संवेदन न हो। आप जब चाहें तब इसका अभ्यास कर सकते हैं, केवलज्ञान की अवस्था में आ सकते हैं, केवलज्ञानी बन सकते हैं। केवलज्ञान अंतिम मंजिल मानी गई है, लक्ष्य माना गया है। केवलज्ञान साधना का पहला चरण भी है। जब तक केवलज्ञान का अभ्यास नहीं होगा, तब तक साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ने की बात प्राप्त नहीं होगी। साधना के क्षेत्र में हमारा प्रवेश तभी संभव है जब हम केवलज्ञान का अभ्यास करते हैं। जो आदि में होता है, वही अंत में होता है। जो आदि में साधन है, वही अंत में साध्य बन जाता है।

उपादान-उपादान है। उपादान में जो आदि होता है, वही अंत में होता है। कोई अंतर नहीं आता। हमारी चेतना यदि केवल चेतना नहीं है तो हम कभी भी केवलज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। केवलज्ञान तभी प्राप्त होता है जब हम पहले क्षण में केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। पहले क्षण का केवलज्ञान ही अंतिम क्षण का केवलज्ञान होता है। साधना के क्षण यदि केवलज्ञान प्राप्त नहीं है तो साधना के किसी भी क्षण में, चाहे लाखों वर्षों तक हम साधना करते रहें, केवलज्ञान प्राप्त नहीं होगा। पहले क्षण में वह प्राप्त होना चाहिए, तभी अंतिम क्षण में वह प्राप्त होगा।

कुम्हार ने एक घड़ा बनाया। पहले ही क्षण में यदि वह घड़ा नहीं फूटता है तो वह कभी नहीं फूट सकता। एक बच्चा जन्मता है और यदि वह पहले क्षण में नहीं मरता है तो कभी मर नहीं सकता। वह अमर हो गया, कभी नहीं मरेगा। पहले क्षण में जिसका विनाश नहीं होता, उसका फिर कभी विनाश नहीं हो सकता। पहले क्षण में जो समाप्त नहीं होता, उसे फिर कभी समाप्त नहीं किया जा सकता। पहले क्षण में यदि केवलज्ञान नहीं होता है तो फिर कभी केवलज्ञान

हो नहीं सकता। वास्तव में केवलज्ञान, कोरा ज्ञान, जिस ज्ञान के साथ संवेदना न हो, ऐसा साधना का स्तर जब प्राप्त होता है तब हम केवलज्ञान की स्थिति में पहुंच सकते हैं।

साधना का उद्देश्य

प्राण को संवेदन-शून्य करना, संज्ञा से मुक्त करना, योग-संयोग से मुक्त करना–यही है हमारी साधना का उद्देश्य। प्रश्न यह है कि यह कैसे संभव हो सकता है? इस पर हम कुछ विचार करें।

योग-संयोग से मुक्त होने के लिए लोकोत्तर चित्त का निर्माण करना होता है। हमारा चित्त दो प्रकार का है–लौकिक चित्त और लोकोत्तर चित्त। जो चित्त संज्ञा में फंसा हुआ है, संवेदना में उलझा हुआ है, वह है लौकिक चित्त। जो चित्त इन दसों संज्ञाओं से दूर चला जाता है, उनकी पकड़ से मुक्त हो जाता है, वह है लोकोत्तर चित्त। जिसे लोकोत्तर चित्त का लाभ होता है, वह नो संज्ञोपयुक्त बन जाता है। एक ही शक्ति दोनों काम करती है। वही ऊर्जा, वही प्राण और वही शक्ति लौकिक चित्त के काम आती है और वही ऊर्जा, वही प्राण और वही शक्ति लोकोत्तर चित्त के काम आती है।

शरीर में दो मुख्य केन्द्र हैं–एक है कामकेन्द्र और दूसरा है ज्ञानकेन्द्र। नाभि के नीचे का स्थान कामकेन्द्र है, वासनाकेन्द्र है। मस्तिष्क है ज्ञानकेन्द्र। हमारे शरीर में ऊर्जा का एक ही प्रवाह है। जहां मन जाएगा, वहां ऊर्जा जाएगी। जहां मन जाएगा, वहां प्राण जाएगा। यदि हमारा मन, हमारा चिंतन कामकेन्द्र की ओर ज्यादा आकर्षित होता है तो उसे बल मिलेगा, शक्ति मिलेगी और वह समृद्ध होगा। प्रकृति का यह अटल नियम है कि जिसे सिंचन मिलता है, वह पुष्ट होता है। जिसे सिंचन नहीं मिलता, वह सूख जाता है, नष्ट हो जाता है। जिसे सिंचन प्राप्त है, वह बढ़ता है, फलता-फूलता है। जिसे सिंचन प्राप्त नहीं है, वह टूट जाता है, ठूंठ मात्र रह जाता है। हमारी ऊर्जा का जिसे सिंचन मिलेगा, वह अवश्य पुष्ट होगा, बढ़ेगा, फलेगा-फूलेगा, फिर चाहे वह कामकेन्द्र को मिले या ज्ञानकेन्द्र को मिले। यदि हमारा सिंचन नीचे की ओर जाता है, कामकेन्द्र की ओर जाता है तो हमारी ऊर्जा का प्रवाह उस ओर मुड़ जाता है।

हमारी सारी प्राणशक्ति उसी ओर प्रवाहित होने लग जाती है। तब कामकेन्द्र बलवान होता है और ज्ञानकेन्द्र कमजोर होता जाता है। यह है लौकिक चित्त की प्रक्रिया। यह है लौकिक चित्त का कार्य। लौकिक चित्त सदा

कामना को पुष्ट करता है, कामकेन्द्र को सिंचन देता है, बलवान बनाता है। मनुष्य के जीवन में कामना का जितना तनाव होता है, उतना तनाव किसी का भी नहीं होता। वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से निरंतर रहने वाला तनाव है। क्रोध का आवेग कभी-कभी होता है, लोभ की चेतना कभी-कभी होती है, किंतु काम की चेतना निरंतर रहती है।

जब हमारी चेतना कामकेन्द्र की ओर अधिक बहने लगती है तब सहज ही ज्ञानकेन्द्र की शक्तियां क्षीण होती जाती हैं। साधना से इसे उलटना होता है। जो साधक अपने ज्ञान का विकास चाहता है, जो अपनी शक्तियों का विकास चाहता है, जो निर्मलता चाहता है, उसे चेतना के प्रवाह को उलटना होगा, मोड़ना होगा अर्थात् मन को ऊपर की ओर ले जाना होगा।

बहुत बार कहा जाता है कि ऊपर की ओर देखो। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि मोक्ष की ओर देखो। मोक्ष बहुत दूर है। इतने दूर क्यों जाएं? निकट में देखें और मन की गति को मस्तिष्क की ओर कर दें। गति को बदल दें। प्राण की धारा के प्रवाह को मोड़ दें। उसे ऊपर की ओर कर दें। उसे ज्ञानकेन्द्र की ओर मोड़ें। उससे ज्ञानकेन्द्र को सिंचन मिलेगा। जब ज्ञानकेन्द्र को सिंचन मिलेगा तब ज्ञान पुष्ट होगा। साधना सहज रूप में सफल होती जाएगी। ज्ञानकेन्द्र पुष्ट तब होता है जब हमारी ऊर्जा ज्ञानकेन्द्र में प्रवाहित होती है। यह ऊर्जा जो ऊपर की ओर जाती है, उसे कुंडलिनी का जागरण कहें या विशिष्ट ज्ञान की उपलब्धि कहें। कुछ भी कहा जा सकता है। ज्ञान के सारे केन्द्र मस्तिष्क में हैं। शक्ति के सारे स्रोत मस्तिष्क में हैं।

शरीरशास्त्रीय दृष्टि से भी देखा जाए तो सारे शरीरतंत्र का संचालन मस्तिष्क के द्वारा होता है। पैर में एक छोटा-सा कांटा चुभा। पैर में पीड़ा हो रही है। कांटे की चुभन का अनुभव हुआ। हाथ, पैर के सहयोग के लिए आगे बढ़ता है, किंतु यह होता कैसे है? कांटा चुभते ही हमारा नाड़ीसंस्थान सक्रिय हो जाता है और मस्तिष्क तक यह सूचना पहुंचा दी जाती है कि पैर में कांटा चुभा है। मस्तिष्क तत्काल आदेश देता है कि कांटा निकालो। आदेश हाथ तक आएगा। अंगुली आगे बढ़ेगी, पैर का कांटा निकल जाएगा। यह सारा संचालन होता है मस्तिष्क से। संचालन का यह मुख्य केन्द्र है। इस पर जितना ध्यान केन्द्रित होगा, उतना ही विकास होता जाएगा। हम बहुत ही कम हिस्से का विकास कर पाते हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। हमारी जितनी शक्ति है,

हमारा जितना क्षयोपशम है, उसको हम काम में नहीं लेते। हमारे क्षयोपशम का कुछ हिस्सा काम में आता है, शेष यों ही रह जाता है।

विज्ञान की भाषा में कहा जा सकता है कि मस्तिष्क की जितनी क्षमता है, हम उसका उपयोग नहीं कर पाते। कुछ प्रतिशत क्षमता का ही उपयोग कर पाते हैं। मस्तिष्क के उन प्रकोष्ठों को खोलने का हमारा कोई प्रयास नहीं होता, जिनके खुलने पर हमारी अतिरिक्त चेतना काम आने लग जाए। वह इसलिए नहीं हो पाता कि हमारी चेतना का सारा प्रवाह नीचे की ओर जा रहा है। साधना का यह बहुत बड़ा उद्देश्य है कि कामकेन्द्र की ओर बहने वाली मन की धारा को, कामकेन्द्र की ओर बहने वाली मन की ऊर्जा को मोड़कर ऊपर की ओर ले जाएं। यह बहुत बड़ी साधना है।

संज्ञा का उद्दीपन

हमारे मन में संज्ञाएं उत्पन्न होती हैं। आहार की संज्ञा उत्पन्न होती है। मैथुन की संज्ञा उत्पन्न होती है। इनकी उत्पत्ति का क्या कारण है? आगमों में प्रत्येक संज्ञा की उत्पत्ति के चार-चार कारण बतलाए हैं। उनमें से एक कारण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और वह है स्मृति। बार-बार आहार की स्मृति करते हैं, बार-बार भय की स्मृति करते हैं, बार-बार मैथुन की स्मृति करते हैं, बार-बार काम की स्मृति करते हैं और ये संज्ञाएं उत्तेजित हो जाती हैं, उभर जाती हैं। बार-बार स्मरण करना, बार-बार चर्चा करना और बार-बार अपनी प्राणशक्ति को उस ओर प्रवाहित करना, यह संज्ञाओं के उद्दीपन का मार्ग है। हम चेतना को उस ओर ले जाते हैं और उनको उभरने का मौका मिल जाता है। यदि चेतना उस ओर नहीं जाती है तो उनको उभरने का अवसर ही नहीं मिलता, इसीलिए महर्षियों ने बहुत गहराई में जाकर यह कहा कि साधक 'विकथा' न करे। यह बहुत गहरी बात है, मर्म की बात है। साधक चर्चा कर सकता है, पर उसे विकथा नहीं करनी चाहिए। यदि विकथा में उसका मन संलग्न हो गया तो फिर प्राण की समूची धारा उधर बहने लग जाएगी। साधना का क्रम टूट जाएगा, इसलिए ऊर्जा को किस ओर बहाना है, इस पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है।

साधना की दृष्टि से जागरण का सूत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जागरण का अर्थ ही है प्रवहमान ऊर्जा के प्रति जागरूकता। उसका प्रवाह किस ओर हो रहा है? यदि प्रवाह नीचे की ओर हो रहा है तो उसे मोड़कर ऊपर की ओर कर दें।

दस संज्ञाएं हैं। उनमें से आठ संज्ञाएं बहुत स्पष्ट हैं–आहार संज्ञा, भय

संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा, क्रोध संज्ञा, मान संज्ञा, माया संज्ञा और लोभ संज्ञा। इनकी प्रतीति होती रहती है। दो संज्ञाएं और हैं लोक संज्ञा और ओघ संज्ञा। 'लोक' शब्द के अनेक अर्थ हैं। उनमें से एक अर्थ है शरीर। लोक संज्ञा का अर्थ है देहासक्ति। आदमी में ही नहीं, हर प्राणी में देहासक्ति होती है। शरीर के प्रति उसका लगाव होता है। वह उसे बचाने का प्रयत्न करता है। साधक के सामने शरीर को बचाने की बात मुख्य नहीं होनी चाहिए। शरीर की सारसंभाल आवश्यक है, पर मुख्य नहीं। उसे प्रथम स्थान नहीं दिया जा सकता। उसे दूसरा स्थान ही दिया जा सकता है।

लोक संज्ञा का एक अर्थ है लौकिक मान्यताओं को दिमाग में भर लेना। बहुत सारी मान्यताओं को हम दिमाग में भर लेते हैं। उनके कारण चेतना की विकृतियां और उभर जाती हैं। एक छोटी-सी बात है कि लोक प्रचलन के अनुसार हमने मान लिया कि स्वभाव को बदला नहीं जा सकता। हमने इस बात को पकड़ लिया। चेतना में एक छिद्र हो गया। चेतना के साथ विष घुल गया। अब हम कुछ कर ही नहीं सकते, क्योंकि मन में एक दृढ़ निश्चय हो गया कि बदला नहीं जा सकता। बहुत गंभीर बात है कि धारणा बनाने से पहले सत्य को ठीक से समझ लें, अन्यथा जो धारणा बन जाती है, वह छूटती नहीं। हम उस धारणा से प्रतिबद्ध हो जाते हैं। चेतना का सारा प्रवाह उल्टा हो जाता है।

संकल्प की स्वतंत्रता

एक बहुत बड़ा प्रश्न है संकल्प की स्वतंत्रता का। क्या हम संकल्प करने में स्वतंत्र हैं? इस प्रश्न पर भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों ने काफी चिंतन-मनन किया है। पश्चिम में तीन वाद प्रचलित हैं–1. नियतिवाद 2. आत्मवाद 3. आत्म-नियतिवाद।

भारत में भी ये वाद चलते हैं।

एक वाद है नियतिवाद। नियतिवादी यह मानते हैं कि मनुष्य यंत्रवत् है। जैसी परिस्थितियां होती हैं, जैसा वातावरण होता है, वैसे ही मनुष्य को करना पड़ता है। सारा यंत्रवत् संचालित होता है। मनुष्य का अपना कोई स्वतंत्र संकल्प नहीं होता। यह है नियतिवादी धारा।

दूसरी है आत्मवादी धारा। उसके अनुसार मनुष्य संकल्प करने में स्वतंत्र है। वह परिस्थिति का दास नहीं है। वह परिस्थिति से प्रभावित नहीं होता।

तीसरी है आत्म-नियतिवादी धारा। आत्म-नियतिवादी यह मानते हैं कि नियति सही हो सकती है, पर वह हमारी परिस्थिति में कोई बाधा नहीं डाल सकती। हम पूर्णतया स्वतंत्र हैं, सर्वथा स्वतंत्र हैं।

क्या हम संकल्प करने में परतंत्र हैं? यंत्रवत् हैं? परिस्थिति के दास हैं? या हम पूर्ण स्वतंत्र हैं? किसी भी परिस्थिति का हम पर कोई प्रभाव नहीं होता?

यदि हम यंत्रवत् हों और सारा का सारा संचालन नियति से होता हो तो साधना करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती है, फिर यह कहना उचित ही होगा कि स्वभाव को बदला नहीं जा सकता। जब हमारा स्वभाव नियत है तो उसे बदलने के लिए किसी संकल्प या किसी पुरुषार्थ की हमें कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। सारे प्रयत्न व्यर्थ होंगे।

हम इस बात को स्वीकार नहीं करते। हम मानते हैं कि स्वभाव को बदला जा सकता है। संज्ञोपयुक्त चेतना को नो संज्ञोपयुक्त किया जा सकता है। सारी संज्ञाओं को समाप्त किया जा सकता है। जब यह सबकुछ हो सकता है तो फिर 'स्वभाव नहीं बदला जा सकता' यह कथन अपने आप अर्थशून्य हो जाता है। स्वभाव बदलता है, उसे बदला जा सकता है।

हम यह मानते हैं कि आत्मा की अपनी कुछ आंतरिक विशेषताएं हैं। बाह्य परिस्थिति या वातावरण कुछ प्रभाव डालता है, किंतु आत्मा की आंतरिक शक्ति इतनी प्रबल है कि जब वह जागृत होती है तब बाह्य प्रभाव शून्य हो जाता है, मिट जाता है, अपना अस्तित्व ही खो देता है।

कषाय चेतना

हम बाह्य से प्रभावित तभी होते हैं जब हमारी कषाय संज्ञा प्रबल होती है। संज्ञा का एक वर्ग है कषाय संज्ञा। इस वर्ग में चार संज्ञाएं आती हैं–क्रोध संज्ञा, मान संज्ञा, माया संज्ञा और लोभ संज्ञा। इन चार संज्ञाओं का संयुक्त नाम है कषाय संज्ञा। जब इसकी प्रबलता होती है तब बाह्य परिस्थिति का प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है और जब वह प्रबल नहीं होती, मंद होती है, तब प्रभाव भी तीव्र नहीं होता, मंद होता है। वह क्षीण होता है। इसी तथ्य को आगम में इस प्रकार समझाया है–भित्ति पर मिट्टी के दो गोले फेंके गए। एक गीला था, एक सूखा था। जो गीला था, वह भित्ति पर चिपक गया और जो सूखा था, वह नीचे भूमि पर गिर गया। गीला चिपक जाता है, सूखा नीचे झड़ जाता है। यदि भित्ति गीली होगी तो उस पर धूल अवश्य चिपकेगी। यदि वह सूखी होगी तो धूल नीचे झड़

जाएगी, चिपकेगी नहीं। कषाय चेतना गीलापन है। वह जब प्रबल होती है तब बाह्य परिस्थितियां प्रबल रूप में प्रभावित करती हैं।

जब वह प्रबल नहीं होती तब बाह्य वातावरण प्रभावित नहीं करता। आकाश-आकाश है। उसे कोई प्रभावित नहीं कर सकता। चाहे वर्षा हो, चाहे ओले गिरें, चाहे आंधी और तूफान चले, चाहे बिजली गिरे और चाहे कुछ भी हो, आकाश आकाश ही रहता है। वह न वर्षा से गीला होता है और न आंधी से धूमिल ही होता है। न वह ओलों से खंड-खंड होता है और न बिजली से जलता है। धूप कितनी ही तेज क्यों न हो, आकाश कभी गर्म नहीं होता। बर्फ चाहे कितनी ही पड़े, आकाश कभी ठंडा नहीं होता।

चेतना यदि विशुद्ध है तो बाहर कुछ भी होता हो, व्यक्ति पर कोई असर नहीं होगा। चेतना में संज्ञा का चेप होता है। वह बाहर की बात को पकड़ लेती है। बाहर की बात पर चिपक जाती है। तब उत्तेजना बढ़ती है। हम इस तथ्य को स्पष्टता से समझें कि लौकिक मान्यताओं के आधार पर अपनी धारणाएं न बनाएं। हमें इस लोक संज्ञा को भी छोड़ देना है।

संज्ञा : मूर्च्छा

संज्ञा को यदि हम एक शब्द में समझना चाहें तो वह है मूर्च्छा। जैसे भय की मूर्च्छा को तोड़ना है, काम की मूर्च्छा को तोड़ना है, कषाय की मूर्च्छा को तोड़ना है, परिग्रह की मूर्च्छा को तोड़ना है, वैसे ही लोक मूर्च्छा, लौकिक धारणाओं की मूर्च्छा को भी तोड़ना है। इसकी मूर्च्छा प्रबल होती है। जब तक यह नहीं टूटेगी, तब तक दूसरी मूर्च्छाओं को तोड़ने का प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। हम अपनी मान्यताओं में उलझ जाते हैं। जिनकी चिंतन-क्षमता कम होती है, वे बहुत जल्दी उलझते हैं। हमें इस खतरनाक घाटी को पार करना है, लोक संज्ञा को समाप्त कर डालना है।

एक संज्ञा है ओघ संज्ञा। सामूहिक चेतना या प्रवाहपाती चेतना। हमने बहुत बार सुना है–लोग कहते हैं डरना क्या है, जो सबको होगा, वही मुझे होगा, हो जाएगा। यह प्रवाहपाती चेतना है। एक प्रवाह के साथ अपने को जोड़ देना और उससे संयुक्त होकर अपने बुरे आचरण को प्रवाहपाती चेतना के द्वारा संरक्षण देना। 'जो सबको होगा, वह मुझे भी होगा, कोई चिंता की बात नहीं'–यह बहुत ही खतरनाक चेतना है। जब हम इस चेतना में फंस जाते हैं तब बाहर निकलना कठिन हो जाता है।

इस मूर्च्छा को तोड़े बिना हम साधना के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकते हैं। बहुत आवश्यकता है कि इस मूर्च्छा को तोड़ें और अपने व्यक्तित्व का निर्माण करें, शुद्ध चेतना का निर्माण करें।

व्यावहारिक मनोविज्ञान के एक वैज्ञानिक ने कहा–'मुझे एक बच्चा दे दो, फिर तुम कहो कि उसे क्या बनाना है। तुम चाहो तो मैं उसे डाकू बना दूं, तुम चाहो तो मैं उसे महात्मा बना दूं। जैसा तुम चाहो, वैसा बना दूं, क्योंकि परिस्थिति पर मेरा नियंत्रण है और परिस्थिति के आधार पर ही व्यक्ति का निर्माण होता है, व्यक्ति बनता-बिगड़ता है।'

लोगों को घोषणा बहुत अजीब लगी। बहुत आश्चर्यजनक और सुखद भी थी यह घोषणा। जब व्यक्ति के हाथ में इतनी शक्ति आ जाए कि परिस्थिति के आधार पर लोगों को जैसा चाहे, वैसा बनाया जा सके तो फिर इस संसार में परमात्मा की कल्पना का कोई आधार ही नहीं रह जाता। उसको मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती, क्योंकि वह वैज्ञानिक ही स्वयं परमात्मा बन बैठा है। उस वैज्ञानिक ने घोषणा की। लोगों ने सुनी, किंतु हो कुछ नहीं सका। मनुष्य को बनाया नहीं जा सकता। केवल बाह्य परिस्थिति के आधार पर जहां व्यक्ति के निर्माण की बात आती है, वहां हम इस सचाई को भुला देते हैं कि मनुष्य का यदि अपना (स्व) कुछ भी नहीं है तो वह मनुष्य मनुष्य भी नहीं है। वह चेतनावान प्राणी नहीं है, फिर तो वह मात्र यंत्र है।

इस बात को हम समझ लें कि यदि कोई साधक भी यह घोषणा करे कि एक बच्चा मेरे पास रखो, आप जैसा चाहोगे, वैसा बना दूंगा, तो यह भी संभव नहीं है। केवल परिस्थितियों के द्वारा व्यक्ति का निर्माण नहीं किया जा सकता तो केवल साधना के द्वारा भी उसका निर्माण नहीं किया जा सकता।

हमें देखना होगा कि किस व्यक्ति में कितनी आंतरिक क्षमता है, किसका कितना क्षयोपशम है। हमें यह भी देखना होगा कि किस व्यक्ति को साधना का कितना अवसर मिलता है, किस प्रकार का वातावरण और परिस्थितियां उसे प्राप्य हैं। हम दोनों दृष्टियों से देखें। आंतरिक क्षमता और बाह्य वातावरण या परिस्थितियां। इन दोनों का उचित योग होता है तब चेतना के निर्मलीकरण की बात आगे बढ़ती है। दोनों में कहीं त्रुटि होती है तो प्रयत्न करने पर भी वह बात आगे नहीं बढ़ती। यदि इस तथ्य को मानकर चलें तो साधना के प्रति,

साधना के उद्देश्य के प्रति हमारी दृष्टि धुंधली नहीं होगी, अस्पष्ट नहीं होगी और हम धीरे-धीरे आगे बढ़ सकेंगे।

उपयोग करें शक्ति का

यदि ध्येय स्पष्ट नहीं रहा, शक्ति कम है और ज्यादा काम करने की बात सोच ली गई, तो संभव है कि बीच में ही भटक जाएं। एक सुंदर कहानी है। एक सेठ था। उसके दो लड़के थे। सेठ ने सोचा कि किसको उत्तराधिकारी बनाऊं? उसने परीक्षा लेनी चाही। वह बहुत संपन्न था। दोनों बेटों को पांच-पांच लाख रुपये दिए। उसने कहा–'जाओ, मैंने तुमको रुपये दिए हैं। अपने राज्य के प्रत्येक शहर में एक-एक कोठी बनाओ और तीन माह के भीतर-भीतर मुझे सूचना दो।' वे गए। राज्य में अनेक शहर थे। तीन माह बीत गए। समय पूरा हुआ।

एक लड़का आया। वह थका-मांदा था, सुस्त था। सेठ ने पूछा–'कोठियां बना दीं?' उसने कहा–'हां, कुछ शहरों में बनाई हैं। सब शहरों में कैसे बना पाता? आपने जो धन दिया, वह तो तीन-चार कोठियों के निर्माण में ही पूरा हो गया।'

दूसरा बेटा भी आ गया। वह प्रसन्न दीख रहा था। सेठ ने पूछा–'कितनी कोठियां बनाईं?' उसने कहा–'पिताजी, सभी शहरों में कोठियां बना दी हैं।' 'कितना व्यय हुआ?' सेठ ने पूछा–बेटे ने कहा–'कुछ नहीं लगा। पांच लाख वैसे के वैसे पड़े हैं।' 'कैसे किया तुमने?' वह बोला–'सभी शहरों में मैंने मित्र बनाए। इतने गहरे मित्र कि उन सबकी कोठियां मेरी अपनी कोठियां हैं। जब चाहें तब वहां जा सकते हैं।' पिता प्रसन्न हुआ।

हम शक्ति का उपयोग कर सकते हैं, किंतु अपनी शक्ति को तोलकर, समझकर कि कितनी शक्ति है? उस शक्ति का उपयोग कैसे हो? यदि स्वयं की शक्ति का ठीक विवेक होता है तो सभी स्थानों पर कोठियां बन जाती हैं और यदि शक्ति का ठीक अंदाजा नहीं होता, निर्णय नहीं होता है शक्ति के व्यय का, विवेक नहीं होता तो थोड़ी कोठियां बनती हैं और धन चुक जाता है।

14. शरीर और उसके विशिष्ट केन्द्र

हमारे शरीर के तीन मुख्य भाग हैं–ऊपर का, मध्य का और नीचे का। इन तीनों में शक्ति के स्रोत छिपे पड़े हैं। शरीरशास्त्रियों ने शरीर को एक विशेष कोण से देखा है। वह कोण सर्वविदित है। योग के मनीषियों ने इसे दूसरे कोण से देखा। उन्होंने बताया कि शरीर में कुछेक मुख्य केन्द्र हैं, चैतन्यकेन्द्र हैं, ज्ञानकेन्द्र हैं। उन्हें जागृत करने पर, सक्रिय करने पर शक्ति का स्रोत फूट पड़ता है और शक्ति का विशेष अनुभव होने लगता है। भगवान महावीर ने आचारांग सूत्र में बताया है–**आयतचक्खू लोगविपस्सी, लोगस्स अहो भागं जाणई, उड्ढं भागं जाणई, तिरयं भागं जाणई**–जो आयतचक्षु होता है, संयतचक्षु होता है, जो लोकदर्शी होता है, जिसकी खुली आंखें एक बिंदु पर स्थित हैं, वह लोकदर्शी ऊर्ध्वलोक को भी देखता है, मध्यलोक को भी देखता है और अधोलोक को भी देखता है।

ध्यान के केन्द्र

लोक हमारा शरीर है। वस्तु को पुरुष के माध्यम से या लोक के माध्यम से समझाने की पुरानी पद्धति है। जैन परंपरा में लोक को समझाने के लिए लोकपुरुष की कल्पना की। पुरुष के साथ लोक की तुलना की। पुरुष के शरीर के तीन भाग होते हैं–ऊर्ध्वभाग, मध्यभाग और अधोभाग। इसी प्रकार लोक के तीन भाग होते हैं–ऊर्ध्वभाग, मध्यभाग और अधोभाग। यहां लोक का अर्थ है शरीर, पुरुष का शरीर। पुरुष शरीर के तीनों भागों पर ध्यान किया जाता है। भगवान महावीर तीनों भागों पर ध्यान किया करते थे। ये तीनों भाग ध्यान के मुख्य केन्द्र हैं। पहला भाग है कपाल। मस्तिष्क के ऊपर का भाग, मुख्य मस्तिष्क, यह ध्यान का मुख्य केन्द्र है, शक्ति का मुख्य केन्द्र है। दूसरा भाग है भृकुटी या आज्ञाचक्र। तीसरा भाग है विशुद्धि चक्र, जो कंठमणि का स्थान है। चौथा भाग है मनःचक्र। हमारे गले की सीध में, नाभि से बारह अंगुल ऊंचा जो स्थान है, वह है मनःचक्र। जैन परंपरा में 'रुचक प्रदेश' की बात आती है।

ये प्रदेश ऐसे हैं, जिन पर कोई आवरण नहीं है। ये निरावरण हैं। इन पर कर्म का कोई आवरण नहीं है। यदि ये अनावृत न रहें तो चैतन्य में अंतर आ जाएगा। जीव जीव नहीं रह सकेगा। योग के आचार्यों ने मनःचक्र की भी आठ पंखुड़ियां मानी हैं। इस दृष्टि से इसकी तुलना रुचक प्रदेश से होती है। यह है मनःचक्र। इससे थोड़ी दूर पर जो हृदय का स्थान है, वह भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये हैं हमारे ऊर्ध्व शरीर में चैतन्य के विशेष केन्द्र।

मध्य शरीर में मुख्य केन्द्र है नाभि। यह बहुत शक्तिशाली केन्द्र है। नाभि और उसके दोनों ओर का भाग बहुत शक्तिशाली है।

हमारे शरीर के अधोभाग में अनेक महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं। पृष्ठरज्जु के नीचे जो एक घुमाव है, कर्व है, पृष्ठरज्जु जहां समाप्त होती है, वहां जो मांस का एक बंध है, जिसे कुंडलिनी का स्थान कहते हैं, जहां से प्राणधारा उत्पन्न होती है, विद्युत पैदा होती है, जो जेनरेटर का काम करता है, जहां से समूचे शरीर को विद्युत मिलती है, वह स्थान है पृष्ठरज्जु का अंतिम छोर। उसके बाद आता है जननेन्द्रिय का स्थान और फिर पैरों की अंगुलियां। ये मुख्य स्थान हैं अधो शरीर के, अधोलोक के।

केन्द्रों को जागृत करने का तरीका

शरीर में चेतना के अनेक केन्द्र हैं। हमें किस केन्द्र को जागृत करना है, सक्रिय बनाना है, यह हमारे लक्ष्य पर निर्भर है। प्रश्न है कि उन्हें जागृत करने की पद्धति क्या है? एक सरल पद्धति यह है कि आप जिस केन्द्र को जागृत करना चाहें, जिसे सक्रिय बनाना चाहें, उस पर मन को एकाग्र करें। मन जितना अधिक एकाग्र होगा, वह केन्द्र सक्रिय हो जाएगा, जागृत हो जाएगा। जो व्यक्ति बार-बार वासना की बात सोचता है उसका वासनाकेन्द्र, जननेन्द्रिय का स्थान सक्रिय हो जाएगा। जो व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त करना चाहता है, वह यदि अपने मन को समग्रता से मस्तिष्क के मध्यभाग में टिकाएगा तो उसका ज्ञानकेन्द्र सक्रिय हो जाएगा। जो व्यक्ति पवित्र होना चाहता है, वह विशुद्धिकेन्द्र पर मन को बार-बार एकाग्र करे। इससे वासना के संस्कार क्षीण होंगे और पवित्रता आती जाएगी। जो व्यक्ति प्रातिभ ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, होने वाली घटनाओं को पहले से ही जान लेना चाहता है, वह अपने मन को आज्ञाचक्र पर केन्द्रित करे। घटनाओं का आभास संभव हो जाएगा। ये हमारे भिन्न-भिन्न पक्ष हैं, प्रयोजन हैं।

यह सचाई है कि जिस पर हम अधिक ध्यान देंगे, वह हमारे अनुकूल बन जाएगा। हम व्यवहार में इसका सदा अनुभव करते हैं कि जिस मनुष्य को हम अधिक पसंद करते हैं, जिसके विषय में हम अच्छी बातें करते हैं, जिसको हम अधिक प्यार और अधिक स्नेह देते हैं, जिससे हम अधिक संबंध रखते हैं, वह आदमी सहज ही हमारा हो जाता है और प्रत्येक इच्छा का पालन भी करने लगता है। इसी प्रकार हमारे प्रशिक्षित ज्ञानतंतु हमारे आदेश का पालन करते हैं, निश्चित रूप से करते हैं। वे ज्ञानतंतु हमारे आदेश का पालन नहीं करते, जिनके साथ हमने संपर्क स्थापित नहीं किया है, जिनको हमने प्रशिक्षित नहीं किया है, जिनके साथ हमारा मन संपृक्त नहीं हुआ है।

प्राकृतिक चिकित्सा या मानसिक चिकित्सा का यह मुख्य सिद्धांत है कि यदि तुम्हारी आंतें ठीक काम नहीं कर रही हैं तो बार-बार आंतों पर मन को केन्द्रित करो और उन्हें आदेश दो कि तुम ठीक काम करो। कुछ समय के बाद आंतों के जो ज्ञानतंतु हैं, वे आपके आदेश को मानने लग जाते हैं और ठीक काम करने लग जाते हैं। जब हम उन ज्ञानतंतुओं की उपेक्षा करते हैं तो वे भी उदासीन हो जाते हैं। वे हमें सहयोग नहीं देते। यदि हम उनसे सापेक्ष हो जाते हैं, उनकी अपेक्षा रखते हैं, वे भी सक्रिय हो जाते हैं और हमारी अपेक्षा को पूरा करने में तत्पर हो जाते हैं। यह सब हमारी उपेक्षा और अपेक्षा पर निर्भर है। उनकी शक्ति या सहयोग में कोई कमी नहीं है। जो व्यक्ति प्राणशक्ति या तैजस को प्रबल करना चाहता है, उसे पृष्ठरज्जु के नीचे के बंध पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। प्राणधारा को प्रबल बनाने के लिए यह स्थान बहुत ही उपयुक्त है।

अब हम नीचे चलें। पैर के अंगूठे का भी बहुत मूल्य है। प्राण यहां आकर समाप्त होते हैं। जो प्राण का प्रवाह नासाग्र से चलता है, वह पैर के अंगूठों पर आकर समाप्त हो जाता है। जिस व्यक्ति के मन में अपनी शक्ति को, अपने वीर्य को सुरक्षित रखने की भावना होती है, वह अंगूठों पर ध्यान केन्द्रित करता है। योग में एक प्रक्रिया निर्दिष्ट है। जो व्यक्ति वीर्य-दोष से ग्रस्त हैं, उनके लिए बताया गया है कि वे सीधे लेट जाएं। लेटकर थोड़ा-सा ऊपर उठें और पैर के अंगूठे पर मन को एकाग्र करें, ध्यान केन्द्रित करें। इस मुद्रा में एक-दो मिनट तक रहें। कुछ दिनों के अभ्यास से वे उस रोग से मुक्त हो जाएंगे। ये कुछेक मुख्य केन्द्र हैं, जहां मन का नियोजन कर हम लाभान्वित हो सकते हैं।

चक्र और ग्रंथियां

आधुनिक शरीरशास्त्र ने कुछेक नई ग्रंथियों का उल्लेख किया है। इनको भी हमें समझना है। इनसे भी हमें लाभ उठाना है। हमारे शरीर में चक्र हैं। हमारे शरीर में ग्रंथियां हैं। हमारे शरीर में कमल हैं। योग की भाषा में हम सुनते हैं कि शरीर में छह चक्र हैं, सात-आठ ग्रंथियां हैं, हृदय-कमल, नाभि-कमल आदि कमल हैं। शरीरशास्त्र की दृष्टि से भी कुछेक ग्रंथियां प्रतिपादित हैं, कुछेक कमल भी निर्दिष्ट हैं। ये शब्द भ्रामक हैं। हमें शब्दों में नहीं उलझना है। ग्रंथि, चक्र, कमल, इनका अर्थ क्या है? इसे हम समझें। ये जो निर्दिष्ट केन्द्र हैं, मुख्य केन्द्र हैं, यहां शरीरतंतु काफी उलझे हुए हैं। ये टेढ़े-मेढ़े हैं। प्राण की धारा वहां सीधी नहीं जा सकती। उसे घूमकर जाना पड़ता है, हटकर जाना पड़ता है, इसलिए उसे ग्रंथि कहा गया है। उलझन-भरा मार्ग है, इसलिए ग्रंथियां हैं, चक्र हैं। इसका मतलब है कि वहां चक्राकार गति है, घुमावदार गति है, सीधी गति नहीं है, इसलिए उन्हें चक्र कहा गया है।

'कमल' एक प्रतीकात्मक शब्द है। कमल वह होता है, जो विकसित होता है और सिकुड़ता है। जिसमें संकोच और विस्तार होता है, जिसमें संकुचन और विकुचन की शक्ति होती है, उसे कमल कहते हैं। यहां 'कमल' एक रूपक के रूप में प्रयुक्त है। कमल का मतलब है यदि आप उन ज्ञानकेन्द्रों पर ध्यान केन्द्रित कर उन्हें सक्रिय बनाते हैं तो वे केन्द्र सीधे सरल हो जाते हैं और तब प्राणधारा को सीधा प्रवाहित होने का अवसर मिल जाता है। यदि आप उनकी उपेक्षा करते हैं, उन पर ध्यान केन्द्रित नहीं करते तो वे सक्रिय नहीं होते, सिकुड़ जाते हैं और तब प्राणधारा को प्रवाहित होने के लिए टेढ़ा-मेढ़ा मार्ग खोजना पड़ता है।

हमारे शरीर में कमल जैसी चीज नहीं मिली तब डॉक्टरों ने कहा–हमने सारे शरीर को चीर-फाड़कर देख डाला, उसके अणु-अणु का विश्लेषण कर दिया, पर कहीं भी कमल नहीं मिला। कहीं आज्ञाचक्र, विशुद्धिचक्र आदि दिखाई नहीं दिए। आज्ञाचक्र हो या न हो, विशुद्धिचक्र हो या न हो, किंतु जो 'पीनियल' आदि ग्रंथियां हैं, उनको यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो योगशास्त्र और शरीरशास्त्र के प्रतिपादन में कोई विशेष भेद प्रतीत नहीं होगा।

ध्यान णमो अरहंताणं का

प्रश्न होता है कि हम मन को कहां लगाएं? ध्यान को कहां केन्द्रित करें? यह आप पर निर्भर है। आपका लक्ष्य क्या है? आप क्या चाहते हैं? आपको

पाना क्या है? यदि आपको ज्ञान की निर्मलता पानी है तो आपको ज्ञानकेन्द्र पर ध्यान करना होगा। आचार्यों ने कुछेक व्यवस्थाएं दी हैं कि हमें 'णमो अरहंताणं' का ध्यान कहां करना है? अर्हत् का ध्यान कहां करना है? उन्होंने कहा–अर्हत् के ध्यान का स्थान ज्ञानकेन्द्र है।

सारे केन्द्र स्थूल रूप में दो भागों में विभक्त हैं–ज्ञानकेन्द्र और वासनाकेन्द्र। ज्ञान-केन्द्र ऊपर है, वासनाकेन्द्र नीचे। जब हमारी प्राणधारा या मन की गति नीचे की ओर होती है तो वासनाकेन्द्र सक्रिय होता है, जागृत होता है, ज्ञानकेन्द्र कमजोर हो जाता है। जब हमारी प्राणधारा या मन की गति ऊपर की ओर होती है तब ज्ञानकेन्द्र सक्रिय होता है, तीव्र होता है, जागृत होता है, वासनाकेन्द्र क्षीण हो जाता है। अर्हत् का स्थान है मस्तिष्क। यदि हम मस्तिष्क में अर्हत् का ध्यान करते हैं तो इसका सहज परिणाम यह होगा कि ज्ञानकेन्द्र जागृत हो जाएगा। यह ज्ञानकेन्द्र सक्रिय करने का उपाय है। आचार्यों ने कहा–अर्हत् के ध्यान के साथ-साथ श्वेत वर्ण का भी ध्यान करो। मस्तिष्क का जो अग्रभाग है, वहां एक द्रव-पदार्थ है। इसका रंग है भूरा, कुछ पीला, कुछ सफेद। वहां श्वेत वर्ण (मटमैला) का ध्यान लाभप्रद होता है। सहज शक्ति प्राप्त होती है, वहां के परमाणुओं को। मस्तिष्क अपने आप शक्तिशाली हो जाता है। हमारे ज्ञानकेन्द्र के तंतु सक्रिय हो जाते हैं, जाग जाते हैं।

ध्यान णमो सिद्धाणं का

'णमो सिद्धाणं' के ध्यान का स्थान है ललाट, आज्ञाचक्र। इसका वर्ण है रक्त। आज्ञाचक्र हमारी समूची सक्रियता को उत्पन्न करता है। शरीर पर नियंत्रण रखना, ज्ञानात्मक नियंत्रण रखना इसका मुख्य कार्य है। लाल वर्ण बहुत उत्तेजना, सक्रियता और गति देने वाला है। जो व्यक्ति लंबे समय तक लाल वर्ण पर ध्यान करता है, उसे खतरा भी उठाना पड़ सकता है। लाल वर्ण से अतिरिक्त ऊष्मा पैदा होती है। वह खतरा पैदा कर देती है। रक्त की सारी सक्रियता लालिमा के कारण ही है। आज्ञाचक्र का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

ध्यान णमो आयरियाणं का

प्रश्न आया कि 'णमो आयरियाणं' का ध्यान कहां करें? आचार्य आचार के प्रतीक हैं। आचार का अर्थ है पवित्रता। पवित्रता का स्थान है गले के पास। वहां यदि हम ध्यान केन्द्रित करेंगे तो हमारे में आचार की भावना सहज ही जागृत होगी। हमारी पवित्रता जागृत होगी। वहां हमें पीले रंग का ध्यान करना होगा। पीत वर्ण भावना में वेग लाता है। 'एनोटॉमी' के अनुसार शरीर के स्राव सर्दी,

गर्मी आदि का नियंत्रण करते हैं। जिसमें स्राव कम होता है, वह आदमी असमय में ही बूढ़ा हो जाता है। क्षीण हो जाता है। शरीर का उपचय रुक जाता है। जिसमें स्राव संतुलित है, उसके शरीर का भी उसी संतुलन से विकास होता रहेगा। यह स्राव हमारे शरीर पर नियंत्रण करने वाला है, हमारी ग्रंथियों का नियामक तत्त्व है। 'णमो आयरियाणं' का ध्यान, पीत वर्ण के साथ इस निर्दिष्ट स्थान पर करें। पीत वर्ण सद्भाव और आचार को पोषण देने वाला होता है। पीत वर्ण का ध्यान करने वाला व्यक्ति जैसे ज्ञान का विकास करता है, वैसे ही पवित्र भावना का भी विकास करता है। आप देखेंगे कि पवित्र भावना के प्रतीक के रूप में जहां रंगों का चुनाव हुआ है, वहां पीले रंग को महत्त्व दिया है, पीत वर्ण को मुख्य स्थान मिला है।

ध्यान णमो उवज्झायाणं का

'णमो उवज्झायाणं' उपाध्याय का ध्यान करने का स्थान है मनःचक्र। कुछ इसे हृदय-स्थान मानते हैं। इस पर बहुत मीमांसा हो चुकी है। यह हृदय का स्थान नहीं है। यह मनःचक्र का स्थान है। मनःचक्र पर उपाध्याय का ध्यान करना होता है। मनःचक्र का स्थान नाभि से बारह अंगुल ऊपर है। प्राचीन काल में इसे हृदयचक्र माना जाता था। उपाध्याय का ध्यान नील वर्ण के साथ किया जाता है। नील वर्ण बहुत महत्त्वपूर्ण है। आपके मन में उत्तेजना है, जटिलता है, चिंता है। आप उन उलझनों और जटिलताओं को सुलझाने में अपने-आपको असमर्थ पा रहे हैं। उस स्थिति में आप नीले आकाश की ओर बीस मिनट तक देखते रहें। आकाश स्वच्छ और निरावरण होना चाहिए। आकाश में बादल न हों। नीला रंग साफ दीखता हो। आप नीले आकाश को देखते रहें। कुछ ही क्षणों में आपके मन की उत्तेजना कम हो जाएगी, चिंता मिट जाएगी, जटिलता कम हो जाएगी। नील वर्ण का मुख्य काम है मन को शांत करना, उत्तेजनाओं को कम करना। रंग चिकित्सा में भी इसका उपयोग होता है। रोगी जब बहुत उत्तेजित हो जाता है, उसे जब नींद नहीं आती, तब उसे नीले रंग का पानी पिलाया जाता है। उससे उसकी उत्तेजना मिट जाती है, नींद आने लगती है। उसकी अस्त-व्यस्तता और क्षोभ मिट जाता है।

ध्यान णमो लोए सव्वसाहूणं का

'णमो लोए सव्वसाहूणं'। मुनि का स्थान है पैर। पैर के अंगूठे का स्थान बहुत महत्त्व का है। यहां का वर्ण है कृष्ण, काला। काले वर्ण का भी अपना एक अर्थ होता है। इसमें अवशोषण की क्षमता होती है। बाहरी प्रभाव भीतर नहीं जाता।

ये पांच स्थान हैं और पांच वर्ण हैं। जिन आचार्यों ने इन स्थानों और वर्णों की योजना की, वे शरीर की रचना से पूर्ण परिचित थे। वे जानते थे कि किस स्थान पर, किस वर्ण का ध्यान करने से कौन-सी शक्ति जागृत होती है। स्थान और वर्ण की योजना इसी आधार पर की गई कि वह केन्द्र सक्रिय हो सके और उसकी शक्ति का विकास हो सके। आप यह मत मानिए कि ये सारी बाद की बातें हैं, विज्ञान की बातें हैं। जैन आचार्यों ने अपने ढंग से इस पद्धति पर बहुत ध्यान दिया था कि शरीर के केन्द्रों को कैसे जागृत किया जा सकता है।

जैन ध्यान परंपरा में **एगपोग्गलनिविट्ठदिट्ठि** और **नासाग्गनिविट्ठदिट्ठि** एक पुद्गल पर दृष्टि को केन्द्रित करने या नासाग्र पर दृष्टि को केन्द्रित करने की बात आती है। प्रश्न होता है कि नासाग्र पर ही दृष्टि को केन्द्रित क्यों करना चाहिए? कहीं भी दृष्टि टिकाई जा सकती है। इसका तात्पर्य क्या है? दृष्टि को भृकुटी पर क्यों टिकाएं? कहीं भी टिका सकते हैं, किंतु इन सबके पीछे एक अर्थ है, एक रहस्य है। अमुक स्थान पर केन्द्रित होने से अमुक-अमुक तंतु सक्रिय होते हैं, जागृत होते हैं। शारीरिक कोण से स्थानों का महत्त्व है। आध्यात्मिक या यौगिक कोण के द्वारा इन स्थानों का महत्त्व और अधिक समझ में आता है। शरीरशास्त्रीय कोण स्वास्थ्य तक सीमित होता है। ज्ञान को विकसित करना, पवित्रता को विकसित करना, यह योग का कोण होता है। शरीर के अमुक-अमुक स्थानों को जागृत करने से ज्ञान बढ़ता है, पवित्रता आती है, यह कोण योगशास्त्रीय है, शरीरशास्त्रीय नहीं। हम शरीर को केवल अस्थि, मांस, मज्जा इन दृष्टियों से ही न देखें। दूसरे कोण से भी देखें। मज्जा एक धातु है, किंतु उसका कार्य क्या है? शरीरशास्त्री इसका उत्तर दे देंगे ज्ञान। ज्ञान का केन्द्र है मस्तिष्क। वह ज्ञान और क्रिया दोनों का नियमन करता है। पृष्ठरज्जु भी उसका सहायक है। इस विषय में शरीरशास्त्रियों ने बहुत विचार किया है। डॉक्टर इन सब बातों को सूक्ष्मता से जानता है, किंतु मस्तिष्क के अतिरिक्त इसके सहयोगी के रूप में दूसरे केन्द्रों को विकसित करने से हमारे भावपक्ष, ज्ञानपक्ष और क्रियापक्ष की कौन-कौन-सी चेष्टाएं उभरती हैं, यह उसका विषय नहीं बनता। आज इस पर भी वे कार्य कर रहे हैं, पहले यह क्षेत्र उनके लिए अवरुद्ध था।

हमारा इस स्थूल शरीर से निकट का संबंध है। उसके मुख्य केन्द्रों को कैसे सक्रिय किया जाए, मैंने इसकी संक्षिप्त चर्चा की है। यदि हम इस पर ध्यान दें तो अपनी भावना के अनुसार हम अमुक-अमुक केन्द्रों को सक्रिय कर लाभ उठा सकते हैं।

15. शरीर-बोध की अपेक्षा

दीपावली का दिन था। एक आदमी जा रहा था। रास्ते में दूसरा आदमी मिला। उसने पूछा–'कहां से आ रहे हो?' उसने कहा–'बाजार से।' 'क्या लाए हो?' 'दीया लाया हूं।' उसके हाथ में दीया था, मिट्टी का एक आकार था। मिट्टी का कोई दीया नहीं होता। दीया वह होता है, जो प्रकाशवान है। जो प्रकाशवान नहीं होता, वह दीया नहीं होता। उस मिट्टी के पात्र के बिना भी कोरी बाती प्रकाश नहीं देती, वह दीया नहीं हो सकती।

जब मिट्टी के पात्र में तेल भरा जाता है, बाती तेल से भीगती है, तभी दीप्ति होती है। प्रकाश होता है तभी दीया होता है। आधार इतना मजबूत हो जाता है कि आधार स्वयं दीप बन जाता है। उसके बिना कोरी बाती या कोरा तेल या बाती और तेल कुछ भी नहीं कर सकते। आधार दीप बन गया। सामान्य आदमी की भाषा में बाती दीप नहीं है, जो पात्र है, वही दीप है।

चैतन्य की अभिव्यक्ति

हमारी चेतना का प्रकाश इस शरीर में प्रकट होता है। शरीर के बिना वह प्रकट नहीं हो सकता, इसलिए शरीर भी आत्मा बन जाता है। प्राचीन साहित्य में चेतना को आत्मा कहा गया है। वहां शरीर को भी आत्मा कहा है। चैतन्य के योग से शरीर आत्मा कहलाता है। आत्मा को पुद्गल भी कहा गया है। शरीर जो पौद्गलिक है, उसे आत्मा कहा गया है। आत्मा और परमात्मा अभिन्न हैं, उन्हें भिन्न माना गया है। आत्मा और शरीर भिन्न हैं, उन्हें अभिन्न माना गया है। यह अभिन्नता आई है एक कारण से। वह कारण यह है कि शरीर की शक्ति और आत्मा की शक्ति दोनों का गाढ़ संबंध है।

शरीर की शक्ति के बिना आत्मा की शक्ति कार्यकर नहीं होती और आत्मा की शक्ति के बिना शरीर का यह यंत्र संचालित नहीं होता। दीप का पात्र नहीं है तो प्रकाश नहीं होगा। बल्ब नहीं है, केवल करेंट है, प्रकाश नहीं होगा।

प्रकाश को एक आधार चाहिए अभिव्यक्त होने के लिए। चैतन्य का प्रकाश भी शरीर के बिना अभिव्यक्त नहीं हो सकता। आंख का गोलक ठीक नहीं है तो आदमी देख नहीं पाता। जो देखता है, वह आंख नहीं है। आंख में देखने की शक्ति नहीं है। वह अभिव्यक्ति का एक माध्यम मात्र है, किंतु गोलक के बिना वह देख नहीं पाती। गोलक और आंख दोनों का गहरा संबंध है।

स्थूल और सूक्ष्म शरीर

हम जब साधना की दृष्टि से सोचते हैं तब शरीर को काफी कोसते हैं, गालियां देते हैं। यह गाली के योग्य है तो प्रशंसा के योग्य भी है। यदि शरीर नहीं होता तो हमारी यह दुनिया कुछ भी नहीं होती। व्यक्त कुछ भी नहीं होता। सारी दुनिया अव्यक्त ही रह जाती। साधना की दृष्टि से भी शरीर का बहुत महत्त्व है। शरीर नश्वर है। जो दीखता है, वही शरीर नहीं है। यह तो स्थूल शरीर है। यह शक्तिशाली है, पर दूसरे शरीरों की तुलना में कम शक्तिशाली है। वे दूसरे शरीर हैं–सूक्ष्म शरीर, नास्तिकों ने भी इस स्थूल शरीर में आत्मा को खोजने का प्रयत्न किया है। राजा प्रदेशी ने चोर के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर आत्मा को खोजा। आत्मा नहीं मिली।

आज के वैज्ञानिक भी इस स्थूल शरीर को मुख्य मानकर आत्मा की खोज में लगे हैं। मरने से पूर्व शरीर को तोलते हैं, मरने के बाद पुनः शरीर को तोलते हैं और यह निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि दोनों शरीर के वजन में कितना अंतर आया। यदि वजन घटा है तो कोई वस्तु शरीर से निकलकर चली गई है। वही आत्मा है। यदि वजन बराबर होता है तो कोई वस्तु बाहर नहीं गई। जैसा पहले था, वैसा ही अब है। इस प्रकार के अनेक प्रयोग हो रहे हैं, किंतु यह बहुत ही स्थूल बात है। आत्मा अभी कहां? अभी तो यह स्थूल शरीर है। यह तो प्रथम द्वार है। इसके आगे हैं सूक्ष्म शरीर। वे दो हैं–वैक्रिय और आहारक। ये स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म हैं। वैक्रिय शरीर की क्रियाएं नानारूपों में प्रकट होती हैं। हमारे स्थूल शरीर की क्रिया एक ही है अर्थात् वह एक रूप में दीखता है। वह रूप नहीं बदल सकता, किंतु वैक्रिय शरीर में वह शक्ति होती है कि वह नानारूपों में बदल सकता है। यदि आवश्यकता हुई तो वह एक कमल पुष्प में समा सकता है और आवश्यकता पड़ने पर वह विष्णुकुमार की भांति एक लाख योजन का रूप बना सकता है। आवश्यकता होने पर पशु-पक्षी के रूप भी धारण कर सकता है। यह सूक्ष्म शरीर नानारूप धारण करने में समर्थ होता है।

आहारक शरीर

आहारक शरीर भी सूक्ष्म शरीर है। यह है विचारों का संवाहक शरीर। मन में विचार आया कि अमुक व्यक्ति से मिलना है, अमुक व्यक्ति से बातचीत करनी है। वह यहां नहीं है, कहीं दूर रहता है। उससे कैसे मिलूं? कैसे बातचीत करूं? उसी समय संकल्पमात्र से एक सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है। उसका संस्थान छोटा होता है। वह शरीर हजारों मील की दूरी क्षणभर में तय कर ईप्सित व्यक्ति के पास पहुंच जाता है। उसके सामने प्रश्न रखता है। उत्तर प्राप्त करता है और पुनः शरीर में प्रविष्ट होकर समाहित हो जाता है।

सारी क्रिया इतने अल्प समय में निष्पन्न होती है कि व्यक्ति को यह पता नहीं लगता कि इस सारी क्रिया में इतना समय लगा है। यह आहारक शरीर का कार्य है। यह है विचारों का संवाहक शरीर। यह है विचारों को ले जाने वाला और लाने वाला शरीर।

उसके आगे दो सूक्ष्मतम शरीर और हैं–तैजस शरीर और कार्मण शरीर।

शरीर के तीन विभाग

स्थूल शरीर–औदारिक शरीर–हाड़-मांस का शरीर।

सूक्ष्म शरीर–वैक्रिय शरीर–नाना रूप बनाने में समर्थ शरीर।

आहारक शरीर–विचार संवाहक शरीर।

सूक्ष्मतम शरीर–तैजस शरीर-तापमय शरीर।

कार्मण शरीर–कर्ममय शरीर।

तैजस शरीर

यह तापमय शरीर है। यह हमारी ऊष्मा, सक्रियता और शक्ति का संचालक है। यह न हो तो ऊष्मा पैदा नहीं हो सकती, पाचन नहीं हो सकता, रक्त संचालन नहीं हो सकता। यह तैजस शरीर ही हमारे स्थूल शरीर की सारी क्रियाओं का संचालन करता है। स्थूल शरीर में शक्ति का सबसे बड़ा भंडार है तैजस शरीर। जिसका तैजस शरीर मंद है, अग्नि मंद है, उसकी सारी क्रियाएं मंद हो जाती हैं। अग्नि तीव्र है तो सारी क्रियाएं तीव्र हो जाती हैं।

आज के विज्ञान ने इस तथ्य को भलीभांति पकड़ लिया है। डॉ. स्टीहॉक ने यह प्रतिपादन किया था कि सूर्य का प्रकाश हमारे भोजन की पूर्ति करता है।

सूर्य का ताप हमारे खाद्य का पूरक है। यदि सूर्य का ताप न मिले तो हम केवल खाद्य पर जीवित नहीं रह सकते। माइकेल और उसके कुछ सहयोगियों ने चूहों पर प्रयोग किया। उन्होंने अठारह चूहे चुने। बारह चूहों को भोजन दिया, जिसमें सारे तत्त्व मौजूद थे, किंतु उसमें केल्शियम, फासफोरस आदि नहीं थे। खाद्य में पूरे तत्त्व न होने के कारण चूहे बीमार हो गए। उनको अंधेरे कमरे में रखा गया। वे बीमार ही रहे, फिर उन्हें सूर्य की धूप में रखा। वे एक-दो दिन में स्वस्थ हो गए। भोजन वही कमी वाला चलता रहा।

दूसरे चूहों को कम तत्त्वों वाला भोजन दिया गया। वे बीमार हो गए। इस बार उन्हें धूप में नहीं रखकर बंद कमरे में ही रखा गया, किंतु उन्हें जो भोजन दिया जा रहा था, उसे बहुत समय तक सूर्य की धूप में रखा जाता था। दो-चार दिनों में वे चूहे स्वस्थ हो गए। तब डॉक्टर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सूर्य का ताप भोजन को केवल पचाता ही नहीं है, वह स्वयं खाद्य है और भोजन का पूरक है। सूर्य के प्रकाश के बिना वनस्पति का विकास नहीं होता। मनुष्य के शरीर का भी विकास नहीं होता और भोजन का भी पाचन नहीं हो सकता। इन वैज्ञानिक प्रयोगों के आधार पर एक विचार मन में आया। जैन परंपरा में मुनियों के आतापना लेने की बात सर्वसामान्य है। अनेक मुनि आतापना लेते थे। वे सूर्य का ताप घंटों तक लेते। वे दो-दो, तीन-तीन दिन तक नहीं खाते। उनकी भूख कम हो जाती। भोजन की पूर्ति सूर्य के आतप से हो जाती। वे इस रहस्य को जानते थे, इसलिए इस क्रिया में संलग्न हो जाते थे।

आतापना के तीन प्रकार हैं–जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। मुनि अपनी शारीरिक शक्ति के अनुसार इनमें संलग्न होते थे। भोजन की पूर्ति जो स्थूल साधनों से होती है, वह सूर्य के ताप से सहज ही हो जाती है। सूर्य के ताप से पूरा भोजन ही प्राप्त हो जाता है। आतप का सेवन करते समय मुनि केवल एक लंगोटी जितना कपड़ा रखते हैं। अधिक से अधिक अपने शरीर को धूप में अनावृत रखते हैं। सूर्य की रश्मियां सारे रोमकूपों से शरीर में प्रविष्ट होती हैं और अनेक केन्द्रों को सक्रिय करती हैं। आज लोग ज्यादा से ज्यादा वस्त्रों में लदे रहते हैं। उनमें से न हवा जाती है और न प्रकाश। शरीर को ताप और प्रकाश प्राप्त नहीं होता।

सूर्य का ताप हमारे भोजन के खाद्य की पूर्ति तब कर सकता है जब शरीर के भीतर तैजस सक्रिय हो। जहां वह निष्क्रिय होता है, तब सूर्य का आतप

कार्यकर नहीं होता। हमारे तैजस शरीर की शक्ति जागृत होनी चाहिए। तैजस शरीर के दो कार्य हैं–

1. शरीर तंत्र का संचालन।

2. अनुग्रह और निग्रह या उपघात।

कोई विशिष्टता-संपन्न व्यक्ति प्रसन्नताभरी दृष्टि से परिषद की ओर देखता है तो सारी परिषद अपूर्व आनंद का अनुभव करती है और अपने आपको धन्य समझती है। प्रसन्नताभरी दृष्टि से मिला कुछ भी नहीं, व्यक्ति ने दिया कुछ भी नहीं, फिर भी लोग समझते हैं कि हम निहाल हो गए। बहुत कृपा हुई। अमृत बरसा। भरत बाहुबली महाकाव्य में आचार्य पुण्यकुशलजी ने लिखा है कि राजा आंखों से प्रसन्नता बरसाते हैं, वाणी से नहीं। वे इस प्रकार की दृष्टि फेंकते हैं कि सामने वाला अपने आपको अनुगृहीत समझता है। क्या यह अनुग्रह उसकी दृष्टि से निकलता है? हां, वह दृष्टि से निकलता है, पर वह दृष्टि में नहीं है। वह तो तैजस शरीर में है। उस व्यक्ति का तैजस शरीर इतना अनुग्राहक, प्रभावशाली या तीव्र हो जाता है कि वह जिस व्यक्ति की ओर देखता है, वह व्यक्ति अपने को सुधास्नात जैसा अनुभव करने लगता है।

दूसरा कार्य है निग्रह करना, उपघात करना। तैजस शरीर में निग्रह करने की भी प्रबल शक्ति होती है। उसमें इतनी क्षमता होती है उपघात की कि वह एक बार किसी ओर क्रूर दृष्टि से देखता है तो हजारों-हजारों व्यक्ति कांप उठते हैं। यह उसकी उपघातक शक्ति है। इस प्रकार तैजस शरीर अनुग्रह और निग्रह करने में सक्षम होता है।

कार्मण शरीर

यह सूक्ष्मतम शरीर है। यह कर्मशरीर सभी शरीरों का मूल आधार है। यह है, तभी तैजस शरीर है, वैक्रिय और आहारक शरीर है, औदारिक शरीर है। अगर यह नहीं है तो कोई भी शरीर नहीं है। यह स्थूल शरीर मृत्यु के बाद छूट जाता है, कार्मण शरीर नहीं छूटता। यह जब छूटता है तब हम कहते हैं कि उसका मोक्ष हो गया। वह मुक्त हो गया। कार्मण शरीर का विच्छेद एक बार होता है। स्थूल शरीर का विच्छेद अनेक बार होता है।

छोटी-सी घटना है। मक्खी और चींटी में विवाद हुआ। मक्खी ने चींटी से कहा–'तुम कहां-कहां पहुंच पाती हो। तुम्हारी गति की सीमा है। मैं तो

हर स्थान पर पहुंच जाती हूं। जहां भगवान को भोग लगता है, वहां भी पहुंच जाती हूं, मेरी गति निर्बाध है।' चींटी ने कहा–'पहुंच जाना एक बात है और निमंत्रणपूर्वक पहुंचना एक बात है। तुम जहां भी जाती हो उड़ा दी जाती हो, ठुकराई जाती हो, तिरस्कृत होती हो।'

मक्खी की भांति है हमारा शरीर। जितनी बार हम छोड़ते हैं, पुनः आगे तैयार मिलता है। कार्मण शरीर वैसा नहीं है। वह सहजतया छूटता ही नहीं। जब एक बार छूट जाता है तो फिर उससे सदा के लिए छुटकारा मिल जाता है। यह भावना का शरीर है, वासना का शरीर है, संस्कार का शरीर है, इससे मुक्ति पाना कठिन होता है।

हमारा काम इस स्थूल शरीर से है। साधना का मतलब है कि हम इस स्थूल शरीर की शक्तियों को जागृत करें और साथ-साथ सूक्ष्म शरीरों की शक्तियों को भी सक्रिय करें। स्थूल शरीर से लाभ उठाएं और सूक्ष्म शरीर से भी लाभ उठाएं।

साधना और शरीर

मनोविज्ञान चेतन मन और अवचेतन मन का प्रतिपादन करता है। चेतन मन में जितनी शक्ति है, उससे अनंतगुनी शक्ति है अवचेतन मन में। चेतन मन चालाक है, अवचेतन मन भोला है, पर है अनंतशक्ति का भंडार। यह काम करना है, यह नहीं करना है, चेतन मन आपकी बात सुन लेगा, परंतु करेगा वही, जो पहले जंचा हुआ है। अवचेतन मन ऐसा नहीं है। अवचेतन मन को आप जो कहेंगे और यदि उसने उस बात को पकड़ लिया तो वह वही करेगा, जो आपने कहा है।

जैसे चेतन मन और अवचेतन मन का अंतर है वैसे ही स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का अंतर है। स्थूल शरीर की शक्ति एक पैसा है तो सूक्ष्म शरीर की शक्ति निन्यानवे पैसे हैं। कितना बड़ा अंतर है? सूक्ष्म शरीर को जागृत करने का अर्थ है विद्युत भंडार का निर्माण करना, किंतु हमें चलना होगा इसी स्थूल शरीर से। हमारी शक्तियों को प्रकट करने का यह पहला साधन है।

साधना की दृष्टि से इस शरीर का मूल्य है। बहुत सारी दृष्टियों से हमने इसका बहिष्कार किया, क्योंकि यह हमें वासना की ओर प्रेरित करता है। हमारे साहित्यकारों ने जीभ को, आंख को हजारों गालियां दी हैं, बुरा-भला कहा है। कुछ साधकों ने कहा कि आंख को फोड़ देना बहुत बड़ी साधना है, क्योंकि यह

विकृति का सशक्त माध्यम है। आंखों को फोड़े बिना साधना नहीं हो सकती। वे सचमुच आंखों को फोड़ देते हैं, सदा-सदा के लिए अंधे हो जाते हैं।

साधना के लिए शरीर का उपयोग क्या है? शरीर के दो मुख्य भाग हैं–मस्तिष्क और सुषुम्ना। मस्तिष्क सारे शरीरतंत्र का नियामक और संचालक है। आंख देखती है। देखने का तंत्र मस्तिष्क में है। कान सुनता है। सुनने का तंत्र मस्तिष्क में है। सारे ज्ञान का ग्राहक और संचालक संस्थान है मस्तिष्क। सारी स्मृतियां यहां संगृहीत हैं। मस्तिष्क को जागृत करना स्मृतिकोषों को जागृत करना है। हमारा मस्तिष्क बहुत शक्तिशाली है। अरबों कोष हैं, अरबों संस्कार संगृहीत हैं, स्मृतियां संगृहीत हैं। अवधान विद्या उन्हीं स्मृतिकोषों का चमत्कार है।

बोध करें शक्ति का

नंदीसूत्र में मतिज्ञान का विस्तार से वर्णन है। वहां उसके बारह प्रकार निर्दिष्ट हैं–बहुग्राही, क्षिप्रग्राही आदि-आदि। ये सारे मस्तिष्क की शक्ति के द्योतक हैं। उनका विवेचन समय-सापेक्ष है। आज यह बात स्पष्ट हो गई है कि हमें हमारे स्थूल शरीर की शक्तियों के विषय में पूरी जानकारी होनी चाहिए। हमारे शरीर में मस्तिष्क, पृष्ठरज्जु, कंठ, भृकुटि, तालु, नासाग्र, नाभि, मूलबंध का स्थान तथा पैर के अंगूठे–ये मुख्य केन्द्र हैं। इनको जानना आवश्यक है। इनके द्वारा हम स्थूल शरीर को जागृत करें और इसकी जो शक्तियां हैं, उनसे लाभान्वित हों।

यह कहा जा सकता है कि यदि हम स्थूल शरीर की शक्तियों के लाख विभाग करें तो हम वर्तमान में केवल दो-चार विभागों की शक्तियों का ही उपयोग कर पाते हैं। शेष शक्तियां सुषुप्त रहती हैं, जागृत नहीं होतीं। हमें इस शक्ति का बोध होना चाहिए।

धर्म और अध्यात्म ने यही तो बताया है, साधना यही तो सिखाती है कि तुम अनंतशक्ति के स्रोत हो। तुम अपनी शक्ति-संपदा को देखो, समझो और उसका अनुभव करो। तुम व्यर्थ ही भिखारी बनकर दर-दर क्यों भटकते हो? क्यों भीख मांगते हो? यह भान तभी हो सकता है जब हमें शरीर का पूरा बोध हो। हम शरीर की उपेक्षा न करें, उसकी अपेक्षा के अनुरूप उसे सम्मान दें, आदर दें।

16. प्राण और उसका कार्यक्षेत्र

एक छोटा-सा जैन विद्यार्थी यह जानता है कि हमारे शरीर में दस प्राण हैं। वह उनकी परिभाषा भी जानता है और उनके कार्यों को भी जानता है। हमारी सारी व्यवस्था अहिंसा पर आधारित है। हिंसा के लिए एक शब्द है प्राणातिपात। प्राण का विनियोजन करना हिंसा है। प्राणी, प्राण और प्राण का विनियोजन–ये तीनों जुड़े हुए हैं। प्राणी इसीलिए है कि वह प्राणों को धारण किए हुए है। आत्मा की जो प्राणी की अवस्था है, वह प्राणधारा के कारण बनती है। प्राण जीवन के मुख्य केन्द्र हैं। हमें यह समझना है कि साधना की दृष्टि से प्राणों का क्या मूल्य है? प्राण एक धारा है, प्रवाह है शक्ति का। वह प्रवाह हमारे समूचे शरीर में प्रवाहित हो रहा है। उसके द्वारा ही जीवन का संचालन हो रहा है। यथार्थ में प्राण दस नहीं हैं, प्राणधारा एक ही है। वे विभिन्न कार्यों को संपादित करते हैं, इसलिए अनेक हो जाते हैं। प्राण के मुख्य केन्द्र दस बने हुए हैं, इसलिए प्राण दस हैं। जो जीव एक इन्द्रिय वाला है, उसमें भी प्राण होते हैं। जो जीव पांच इन्द्रिय वाला है, उसमें भी प्राण होते हैं। प्राणों की संख्या में अंतर आ जाता है, प्राणशक्ति में अंतर नहीं आता।

प्राण और चेतना

प्राण के दस केन्द्र हैं। शरीर में दस प्राण हैं। इसका तात्पर्य है कि प्राणशक्ति से संचालित होने वाले दस केन्द्र हैं। पांच इन्द्रिय, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य–ये दस प्राण हैं। इन दस प्राणों का स्थान कौन-कौन-सा है? प्राण की धारा जो अपने केन्द्रों को शक्ति देती है, उसका स्थान कहां है? सेंटर कहां है? दसों प्राणों को शक्ति देने का केन्द्र हमारे मस्तिष्क में है। मस्तिष्क में ही सारी शक्तियां केन्द्रित हैं। आप देखेंगे–श्रवण का एक केन्द्र है, गंध का एक केन्द्र है, श्वास का एक केन्द्र है, चिंतन, संवेदना आदि का एक केन्द्र है, ये सारे केन्द्र मस्तिष्क में हैं। इसका अर्थ है हमारी

छहों पर्याप्तियों के केन्द्र भी हमारे मस्तिष्क में है। पर्याप्तियां पौद्गलिक रचना हैं। पर्याप्ति एक संस्थान है। उसमें क्षमता है। उस केन्द्र में जब प्राण की धारा संचारित होती है तब वह सक्रिय हो जाता है। पर्याप्ति प्राण का रूप ले लेती है। इसीलिए हम मानते हैं कि पर्याप्ति कारण है और प्राण कार्य है। दोनों में संबंध हैं। मूल प्राण क्या है? यह जटिल प्रश्न है। एक है प्राणवायु और एक है प्राण। दोनों एक नहीं हैं। बहुत बार हम प्राणवायु को ही प्राण मान लेते हैं, पर दोनों दो हैं, एक नहीं हैं। जो वायु हम लेते हैं, उसमें सारा प्राण नहीं होता। हम श्वास ले रहे हैं, प्राण नहीं ले रहे हैं। श्वास छोड़ रहे हैं, प्राण नहीं छोड़ रहे हैं। प्राणायाम कर रहे हैं, प्राण का आयाम नहीं कर रहे हैं, प्राणवायु का आयाम कर रहे हैं। यह जितना लेना-छोड़ना है, वह वायु का है, प्राण का नहीं। प्राण तो हमारी सूक्ष्म धारा है, जो हमारे शरीर के भीतर ही सारा कार्य संचालित करती है। प्राण आत्मशक्ति से आता है तैजस शरीर के रूप में। प्राणवायु का चेतना के साथ सीधा संबंध नहीं जुड़ता, पर प्राण का चेतना के साथ सीधा संबंध जुड़ा हुआ है। हमारा तैजस शरीर सारी ऊष्मा पैदा करता है। उसका जीवन के साथ निकट संबंध है, स्थूल शरीर का नहीं है। एक ओर जीव की तैजसशक्ति और दूसरी ओर चैतन्य शक्ति–इन दोनों का योग होते ही प्राण की उत्पत्ति हो जाती है। प्राण में चैतन्य का प्रवाह है। प्राणवायु में चैतन्य का प्रवाह नहीं है। प्राण एक यौगिक शक्ति है।

हमारे शरीर में एक केन्द्र है, जहां सुषुम्ना का निचला सिरा समाप्त होता है, उसके नीचे एक केन्द्र है। वह केन्द्र प्राणशक्ति का उत्पादक है। प्राणशक्ति को प्रकट करने और उसको संचरित करने का मुख्य स्थान है वह केन्द्र। प्राणशक्ति सुषुम्ना से होकर विभिन्न मार्गों से संचरित होती है और मस्तिष्क तक जाती है। प्राणशक्ति ऊपर से नीचे की ओर नहीं जाती, नीचे से ऊपर की ओर जाती है। यह शक्ति जितनी अधिक नीचे से ऊपर की ओर जाती है, मनुष्य उतना ही स्वस्थ होता है शरीर से भी और मन से भी। प्राणशक्ति का प्रवाह कम होता है तो मनुष्य रुग्ण हो जाता है, शरीर से भी और मन से भी।

प्राण और प्राणवायु

प्राणशक्ति को ज्ञानकेन्द्र में ले जाना यही हमारे प्राण की साधना का अर्थ होता है। लुहार धौंकनी धौंकता है। उससे हवा निकलती है। अग्नि प्रज्वलित होती है। एक धौंकनी से हवा निकलती है और एक अग्नि जलती है। हवा और

आग एक नहीं हैं, किंतु जितनी तेज हवा होगी, उतनी ही तेज अग्नि भी हो जाएगी। इसी प्रकार प्राणवायु प्राण को उत्तेजित करती है, सहायता देती है। हम जितनी मात्रा में प्राणवायु (ऑक्सीजन) लेंगे, उतना ही प्राण विशुद्ध होगा, सक्रिय होगा। यदि प्राणवायु नहीं मिलेगी तो प्राण में उत्तेजना नहीं आएगी, सक्रियता नहीं आएगी। इसका शरीरशास्त्रीय कारण यह है कि हमारे शरीर में रक्त का संचार हृदय के द्वारा होता है, फिर फेफड़ों में आकर सारे शरीर में जाता है। हृदय और फेफड़ा–ये हृदय में रक्त-संचार के दो मुख्य साधन हैं। शोधन जो फेफड़े में होता है रक्त का, उसके लिए ईंधन चाहिए। वह ईंधन है प्राणवायु, ऑक्सीजन। अगर प्राणवायु ठीक मिलेगा तो अशुद्ध रक्त को शुद्ध कर कार्बन आदि को शरीर से बाहर कर दिया जाएगा और शुद्ध रक्त अंदर प्रवाहित होगा। अगर प्राणवायु नहीं मिला तो रक्त विकृत रहेगा और वह सारे शरीर को विकृत कर देगा। प्राणवायु रक्तशुद्धि का साधन है और शुद्ध रक्त सारे शरीर को गति देने वाला है। प्राण के साथ उसका संबंध गहरा है। प्राणवायु रक्त के माध्यम से प्राण को भी उत्तेजित करता है, सक्रिय करता है। पौधा है। उसे यदि पानी का पर्याप्त सिंचन मिलेगा तो वह लहलहा उठेगा। इसी प्रकार प्राणवायु का पर्याप्त सिंचन मिलने पर प्राण का पौधा भी लहलहा उठता है। पूरा सिंचन न मिलने पर यह पौधा कुम्हला जाता है। आदमी निष्प्राण और निष्क्रिय हो जाता है।

प्राणायाम की महत्ता

जहां प्राणवायु नहीं पहुंच पाएगी, रक्त का शोधन नहीं होगा और शोधन के अभाव में गंदगी जमती जाएगी। जो प्राणायाम को जानता है, वह सबसे पहले यह प्रयत्न करता है कि फेफड़े में अधिकाधिक वायु कैसे पहुंचाया जाए? लंबा श्वास कैसे लिया जाए?

प्राणवायु को ठीक से लेने का साधन है प्राणायाम। जो प्राणायाम को नहीं जानता, वह प्राणवायु को पूरी मात्रा में ग्रहण नहीं कर सकता। तीनों बातें जुड़ी हुई हैं–प्राण, प्राणवायु और प्राणायाम। प्राणायाम के बिना प्राणवायु का सम्यक् ग्रहण नहीं होता और प्राणवायु के बिना प्राण का सम्यक् उद्दीपन नहीं होता। आखिर हम प्राणायाम पर आ जाते हैं। प्राणायाम एक साधन है। यह इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसको सम्यक् जाने बिना प्राणवायु को नहीं जान सकते। योग के आचार्यों ने जो कुछ इस विषय में लिखा था, आज का विज्ञान उससे सहमत होता जा रहा है।

हम प्राण से चले, प्राणवायु पर आए और प्राणायाम तक पहुंचे। अब हमारी यात्रा उल्टी शुरू होती है। हम प्राणायाम से चलते हैं। हमारा प्राणायाम का अभ्यास अच्छा होना चाहिए। प्राणवायु स्वयं सध जाएगा। प्राणवायु को कितनी मात्रा में लेना चाहिए, प्राणवायु कहां तक पहुंच रहा है, इसका भी ज्ञान होना चाहिए। प्राणवायु को ठीक से लेते हैं तो प्राण को सक्रिय करने की क्षमता जागृत हो जाती है। प्राणशक्ति के आधार पर योगीजन विचित्र प्रकार के काम कर दिखाते हैं। तैजस शरीर में अनुग्रह और निग्रह करने की शक्ति होती है। तैजस लब्धिसंपन्न व्यक्ति जला सकता है, नष्ट कर सकता है, मार सकता है तो वह अनुग्रह भी कर सकता है, दे भी सकता है। उसमें देने की भी क्षमता होती है। ये सारी प्राणशक्ति की क्रियाएं हैं। प्राण का संबंध है तैजस से। यह होता है तब प्राणायाम से ली गई प्राणवायु की अग्नि के द्वारा प्राण को इतना उद्दीप्त कर दिया जाता है, प्राण इतना ज्वलित हो जाता है कि उसमें अद्‌भुत क्षमताएं प्रकट हो जाती हैं। इस दृष्टि से प्राणायाम का बहुत महत्त्व है।

प्राण के सारे केन्द्र मस्तिष्क में हैं, किंतु प्राण की धारा के दो मार्ग हो सकते हैं। उसका एक बाहरी रास्ता है और एक भीतरी रास्ता है। बाहरी रास्ता है आगे का। आगे के रास्ते में प्राणशक्ति जाती है तो वह हमारे शरीर के तंत्रों को सक्रिय बनाती है। हमारी जो नॉर्मल शक्ति है, वह उसी से उत्पन्न होती है। वह अतिरिक्तता नहीं लाती। वह हमारे दस प्राणकेन्द्रों को सक्रिय करती है और जीवन-यात्रा को सही ढंग से चलाती है। जब हम प्राणशक्ति के प्रवाहित होने वाले इस मार्ग को बदल देते हैं तो वहां भिन्न प्रकार की शक्ति पैदा होती है।

प्राणधारा के प्रवाहित होने का भीतरी रास्ता है–**महावीथी**। यह शब्द आचारांग में आया है–**पणया वीरा महावीहिं।** न जाने सूत्रकार का आशय क्या था? व्याख्याकारों का आशय क्या था, किंतु ऐसा लगता है कि यह सूत्र प्राणधारा को पृष्ठरज्जु से ऊर्ध्वगामी बनाने का सूत्र है। इसका अर्थ है जो वीर हैं, वे महापथ पर चल पड़े हैं। 'हठयोग प्रदीपिका' में सुषुम्ना का एक पर्यायवाची नाम है 'महापथ'। लगता है महावीथी और महापथ एक हैं। वीर वे होते हैं, जो महावीथी पर चल पड़ते हैं। सुषुम्ना के मार्ग से जाना किसी वीर का ही कार्य है। सामान्य मनुष्य उस मार्ग से नहीं जा सकता। सुषुम्ना के मार्ग से जाती हुई प्राणधारा, सुषुम्ना के कोणों में रही हुई शक्ति को समेटती हुई

ले जाती है और अधिक शक्तिशाली बन जाती है। ये प्राणधारा के दो मार्ग हैं–अग्रगामी या बाहरी और पृष्ठरज्जुगामी या भीतरी।

प्राणायाम करने वाला, प्राणवायु के मर्म को समझने वाला साधक प्राणवायु से प्राण को उत्तेजित करता है, फिर कुंभक कर सुषुम्ना के मार्ग पर धक्के लगाता है, फिर प्राण को ऊपर ले जाता है। जितनी मात्रा में प्राण ज्ञानकेन्द्र सहस्रार तक पहुंचता है, उतना ही हमारा बौद्धिक और आंतरिक विकास होता है। प्राणधारा नीचे की ओर बहती है, मन के साथ उसकी गति होती है तो आवेश और वासनाएं उभरती हैं। प्राण और मन का गहरा संबंध है। प्राणधारा नीचे जाती है तो मन भी नीचे जाता है। प्राणधारा ऊपर जाती है तो मन भी ऊपर जाता है। मन नीचे जाता है तो प्राणधारा भी नीचे जाती है। मन ऊपर जाता है तो प्राणधारा भी ऊपर जाती है, इसलिए जरूरी है कि हम मन को ऊर्ध्वगामी बनाएं, प्राणधारा को ऊर्ध्वगामी बनाएं।

17. आहार : अनाहार

हमारे जीवन की सारी प्रवृत्तियों का आधार है शरीर और शरीर का आधार है आहार, भोजन। आहार के बिना शरीर नहीं चलता और शरीर के बिना प्रवृत्ति नहीं होती। मैं अंगुली हिला रहा हूं। वह भी आहार के बिना नहीं हिलती। आहार लिए बिना सोचा नहीं जा सकता। आहार लिए बिना बोला नहीं जा सकता। श्वास भी नहीं लिया जा सकता। आप यह न मानें कि मैंने पांच घंटा पहले जो आहार कर लिया था, उसके आधार पर अंगुली हिला रहा हूं। अभी अंगुली हिला रहा हूं तो अभी आहार लेकर अंगुली हिला रहा हूं। अभी मैं बोल रहा हूं तो साथ-साथ आहार भी लेता जा रहा हूं। अभी मैं सोच रहा हूं तो आहार लेकर ही सोचता जा रहा हूं।

शरीर की प्रवृत्ति जिस क्षण में होती है, उसके पहले क्षण में हमें आहार लेना होता है। आहार लेने के बाद ही हमारी प्रवृत्ति होती है। आहार का अर्थ है बाहर से लेना। बाहर से लिए बिना कोई भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

गौतम ने महावीर से पूछा–'भंते! एक समर्थ मुनि है। वह वैक्रिय रूपों का निर्माण कर रहा है। वैक्रिय शक्ति का प्रयोग कर रहा है। अपने ही जैसे रूपों का निर्माण कर रहा है, किंतु क्या वह आहार लिए बिना, बाह्य पुद्गलों को ग्रहण किए बिना ऐसा कर सकता है?'महावीर ने कहा–'गौतम! मुनि कितना ही शक्तिशाली हो, किंतु बाहर के पुद्गलों को लिए बिना वह ऐसा नहीं कर सकता। वह बाहर से आहार लेकर ही ऐसा कर सकता है।'

मैं मानता हूं कि आप आहार की बात को पूरी नहीं समझ पा रहे हैं। इसका भी कारण है। हमने मुंह से खाने वाले खाद्य को ही आहार मान रखा है, शेष कोई आहार जैसा लगता ही नहीं, किंतु सचाई कुछ और है। मुंह से खाया जाने वाला पदार्थ हमें जितनी शक्ति देता है, उससे अधिक शक्ति दूसरे-दूसरे तत्त्व देते हैं, जो आहार के रूप में ग्रहण किए जाते हैं। आहार का अर्थ है लेना, खींचना,

आहरण करना। हम मुंह से लेते हैं। कितनी बार? सामान्यतः दो बार। अधिक से अधिक दस-बीस बार, किंतु यह बहुत स्थूल बात है। सूक्ष्म बात यह है कि हम क्षण-क्षण में आहार लेते हैं। उस आहार के बिना हमारा जीवन चल भी नहीं सकता। जैन परिभाषा में उसकी संज्ञा है–'रोम आहार।' जो मुंह से लिया जाता है, वह है 'कवल आहार' और जो शरीर के रोम-रोम से लिया जाता है, वह है 'रोम आहार।' वास्तव में यही हमारे जीवन का आधारभूत आहार है। इसके बिना जीवन चल नहीं सकता। मुंह से खाए बिना तीस, चालीस, पचास दिन जी भी सकते हैं, किंतु रोम आहार के बिना जी नहीं सकते।

तीन प्रकार का आहार

पहला आहार है कवल आहार, दूसरा है रोम आहार और तीसरे प्रकार का आहार है मनो आहार, मानसिक आहार। इसमें न शरीर की जरूरत है, न कवल की जरूरत है और न रोम की जरूरत है। मन में संकल्प किया और आहार की पूर्ति हो गई। वह है मनोभक्षी आहार, मानसिक आहार। ये तीन प्रकार के आहार हैं–कवल आहार, रोम आहार और मनो आहार। ये हमारे शरीर को नया स्वरूप प्रदान करते हैं और हमारी स्थूल धारणाओं को मिटाते हैं।

आहार के विषय में आज अनेक भ्रांतियां पैदा हो गई हैं। उनके कारण मनुष्य अनेक कठिनाइयां भुगत रहा है। उसने यह अंतिम सत्य मान लिया कि जो मुंह से खाया जाता है, वही पर्याप्त है जीवन के लिए। यह पर्याप्तता का भ्रम हो गया। आज 'संतुलित आहार' यह शब्द बहुत प्रचलित है। संतुलित आहार का अर्थ है वैसा भोजन, जिसमें सभी तत्त्व संतुलित मात्रा में विद्यमान हों। यह आहारशास्त्रियों का अभिमत है। योगशास्त्रियों का अभिमत इससे भिन्न है। उनके अनुसार संतुलित आहार वह होता है, जिसमें ये चार तत्त्व पाए जाते हैं–खाद्य, तेल, वायु और प्रकाश। शरीरशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत संतुलित आहार की परिधि में खाद्य और तेल ये दो ही आते हैं, शेष दो छूट जाते हैं।

मैं मानता हूं कि यथार्थ में वह आहार संतुलित नहीं हो सकता, जिसमें वायु और प्रकाश (धूप) को स्थान न हो। आपका प्रश्न हो सकता है कि खाद्य और तेल से भूख शांत होती है, जठराग्नि शांत होती है, फिर वायु और धूप से प्रयोजन ही क्या है? क्या उनसे भूख शांत होगी? क्या उनसे भूखा पेट भर जाएगा? और यदि उनसे पेट भर जाता हो तो विश्व की बहुत बड़ी समस्या समाहित हो सकती है। आज का अभाव मिट सकता है। मैं आपको पूर्ण विश्वास दिलाना नहीं

चाहता कि उनसे पेट भर जाता है, किंतु मुझे विश्वास है कि मेरी बात पूरी सुनने के बाद आप इससे सहमत हो जाएंगे कि उनसे पेट भरता है।

विटामिन डी सूर्य रश्मियां

धूप या प्रकाश सूर्य से प्राप्त होता है। आपके शरीर को विटामिन 'डी' की बहुत आवश्यकता होती है। विटामिन 'डी' जितना अच्छा सूर्य की रश्मियों से प्राप्त होता है, उतना किसी से भी प्राप्त नहीं होता। हमारी चमड़ी के आसपास एक ऐसा द्रव्य है, जिस पर सूर्य की रश्मियां पड़ती हैं और वहां विटामिन 'डी' स्वतः उत्पन्न हो जाता है। सूर्य की रश्मियां विटामिन 'डी' की पूर्ति करती हैं। शरीर पर पड़ने वाली सूर्य की किरणें केल्शियम और फासफोरस की भी पूर्ति करती हैं। शरीर को इन दोनों की आवश्यकता होती है। प्राकृतिक चिकित्सा का यह अभिमत है कि मनुष्य को जंगल में जाकर दिन में कुछ समय तक निर्वस्त्र रहना चाहिए, नग्न होकर घूमना चाहिए, धूप का पूरा सेवन करना चाहिए। इससे शरीर की अनेक कमियां पूरी होंगी।

साधना के क्रम में जो नग्नता का क्रम था, वह अनावश्यक नहीं था, मूर्खतापूर्ण नहीं था। वह बहुत आवश्यक था और बहुत सोच-विचारपूर्वक निर्धारित किया गया था। शारीरिक और मानसिक साधना की दृष्टि से नग्न रहने के जितने लाभ हैं, उतने लाभ सवस्त्र में नहीं हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में बहुत स्पष्ट शब्दों में उल्लिखित है कि नग्नता (प्रतिरूपता) से हल्कापन आता है। हल्केपन से अप्रमाद, जितेन्द्रियता, विपुल तप आदि-आदि प्राप्त होते हैं।

प्रयोग आतापना का

शारीरिक और वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो निर्वस्त्र रहने से धूप हमारे समूचे शरीर पर पड़ती है। वह धूप हमारे आहार की पूर्ति करती है। विज्ञान का भी यही अभिमत है। धूप खाद्य का पूरक तत्त्व है। आतापना लेने वाले, धूप का सेवन करने वाले व्यक्ति के आहार की मात्रा कम हो जाती है। आतापना के विषय में जितने तथ्य जैन साहित्य में उपलब्ध हैं, वे अन्यत्र नहीं मिलते। वहां बहुत विस्तार से इसका उल्लेख मिलता है। जो आतापना लेता है, उसके आहार की मात्रा कम हो जाती है, आवश्यकता कम हो जाती है। वह अधिक भोजन नहीं कर सकता, क्योंकि बहुत सारी आवश्यकता धूप से पूरी हो जाती है। आतापना का कितना मूल्य था, कितना बड़ा अर्थ था, उसे हमने भुला दिया।

आज के आहारशास्त्री भी यह मानने लगे हैं कि जो मनुष्य धूप और वायु से वंचित रहता है, वह जान-बूझकर कठिनाइयां उत्पन्न करता है। वे कहते हैं कि जंगल में चले जाओ। सारे कपड़े उतार दो। लंगोटी भी न रहने पाए। भूमि पर लेट जाओ। शरीर धूप से जले तो जलने दो। कोई हानि नहीं होगी। यदि जलन से बचना चाहो तो शरीर पर पतला कपड़ा रख लो या मिट्टी रख लो। सीधा संपर्क बना रहे जमीन के साथ, सूर्य के साथ। यह है आतापना की क्रिया। इसे हठयोग की क्रिया समझना मूर्खतापूर्ण है। यह जीवन-धारण के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण क्रिया है।

अब हम वायु पर विचार करें। हम जो खाते हैं, प्राणवायु के बिना उसका अर्थ कम हो जाता है। जो पूरी मात्रा में प्राणवायु नहीं लेता, उसको अधिक मात्रा में आहार लेने की आवश्यकता होती है। जो पूरी मात्रा में प्राणवायु ग्रहण करता है, उसकी खाने की मात्रा कम हो जाएगी। इस विषय पर यदि हम गहराई में जाकर सोचते हैं तो ऐसा लगता है कि हमारे शरीर में मुख्यतः चार तत्त्व हैं–पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु। शरीर में इन चारों की अपेक्षा होती है। इनको पूरा करना पड़ता है।

खनिज के रूप में पृथ्वी तत्त्व की आवश्यकता है। हमारे शरीर के लिए लोहा आवश्यक है, शीशा आवश्यक है, चांदी आवश्यक है, सोना आवश्यक है। ये सारी धातुएं आवश्यक हैं। हम दूध पीते हैं। दूध में अभ्रक होता है। हम जीरा खाते हैं। जीरे में लोहा होता है। मां के दूध में बहुत अच्छी चांदी होती है। हम साग खाते हैं। उनमें बहुत सारे खनिज होते हैं। मनुष्य स्वर्ण भस्म, रजत भस्म, लौह भस्म, औषधि के रूप में लेता है। वह पूरी उपयोगी नहीं होती। अधिकांश भाग व्यर्थ चला जाता है, इसीलिए कहा गया है कि खनिजों को भस्म के रूप में नहीं, किंतु प्राकृतिक भोजन से प्राप्त करने का प्रयास करो। इस आधार पर एक बात सूझती है कि जैसे खदानों से लिया जाने वाला खनिज हमारे शरीर में एकरस नहीं होता, वैसे ही वनस्पति से प्राप्त खनिज भी पूरा एकरस नहीं होता। इनकी अपेक्षा यदि हम मानसिक आहार के रूप में, मानसिक संकल्प के द्वारा कोई चीज विकसित कर सकें तो वे हमारे साथ सुगमता से एकरस हो सकेंगी। इस पर प्रयोग करना चाहिए। प्रयोग लंबा हो सकता है।

मनोभक्षी आहार की बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह सूक्ष्म है, पर संकल्प के द्वारा उसे विकसित किया जाए तो बहुत सारे तत्त्वों की पूर्ति हम मन से कर

सकेंगे। मन के द्वारा पूर्ति करने में कठिनाई हो तो उससे सरल मार्ग है वायु के द्वारा पूर्ति करने का।

आहार और दिशाएं

भगवती सूत्र में बतलाया गया है कि प्राणी छहों दिशाओं से आहार लेता है। वह पूर्व से, पश्चिम से, उत्तर से, दक्षिण से, ऊर्ध्व दिशा से और अधो दिशा से आहरण करता है। आज ये बातें केवल ग्रंथों में रह गई हैं, पढ़ने मात्र को रह गई हैं। अनुसंधान और खोज के अभाव में इनका हार्द समझा नहीं जा सकता। हम सब ओर से आहार लेते हैं। क्या हम पैरों से आहार नहीं लेते? अवश्य लेते हैं। बताया गया है, जब घूमना हो तो नंगे पैर घूमो। वह भी सड़क पर नहीं, भूमि पर। जब बीच में जूते और पक्की सड़क आ जाती है तब पृथ्वी से साक्षात् मिलने वाला आहार प्राप्त नहीं होगा। नंगे पैरों घूमने से पृथ्वी के सारे तत्त्व खींच लिए जाते हैं। हम अपने सिर को भी काम में लें।

प्राणशक्ति को उत्तेजित करने वाले या सारे सौरमंडल से विकीर्ण होने वाले तत्त्वों को हम मस्तिष्क के द्वारा ही अपने शरीर में ले जाते हैं। किन-किन दिशाओं में सिर रखकर सोने से क्या-क्या लाभ होते हैं, यह इसी तथ्य को पुष्ट करते हैं। पहले तो यह तथ्य रूढ़ि और अंधानुकरण समझा जाता था, किंतु आज के वैज्ञानिक परीक्षणों के बाद यह तथ्य सत्य सिद्ध हो चुका है। अनेक फ्रांसीसी डॉक्टर सिरहाने की दिशाओं को बदलकर अनेक रोगों की चिकित्सा कर रहे हैं और उन्हें इस पद्धति से बीमारी मिटाने में आशातीत सफलताएं मिली हैं। इसका भी वैज्ञानिक कारण है।

सौरमंडल से आने वाले जो प्रवाह हैं, वे हमारे मस्तिष्क को आकर्षित करते हैं, अपनी ओर खींचते हैं। जिस प्रवाह की दिशा में मस्तिष्क होता है, उसके तत्त्व उसमें प्रवेश पा जाते हैं। इसलिए इस पद्धति का बहुत बड़ा महत्त्व है।

आहार का अर्थ खाना ही नहीं है। उसका अर्थ है लेना, खींचना, ग्रहण करना। चाहे हम मुंह से, पैर से, नाक से, सिर से लें, चाहे समूचे शरीर से लें, हम जो भी बाहर से लेते हैं, वह सारा का सारा आहार है। इस प्रकार हम ऊपर से भी आहार लेते हैं। नीचे से भी आहार लेते हैं, आस-पास से भी आहार लेते हैं, दाएं-बाएं से भी आहार लेते हैं। हम सभी दिशाओं और विदिशाओं से आहार लेते हैं। वायु का आहार वायु के माध्यम से लेते हैं। वायु के आहार का अनुसंधान किया जाए तो जो तत्त्व वनस्पति के आहार द्वारा हम ग्रहण करते

हैं, वे सब वायु के द्वारा भी ले सकते हैं, क्योंकि वायुमंडल में सब तत्त्वों के परमाणु भरे पड़े हैं।

संतुलित आहार

हमारे आहार के चार मुख्य अंग हैं–खाद्य, तेल, वायु और धूप। साधना की दृष्टि से संतुलित आहार वह होता है, जिसमें ये चारों तत्त्व हों। जिसमें केवल खाद्य और तेल हो, वायु और धूप का योग न हो, वह संतुलित आहार नहीं हो सकता। दो बातें और हैं, जो संतुलित आहार की श्रेणी में तो नहीं हैं, पर उनका पूरक के रूप में उल्लेख करना जरूरी है। वे दो बातें हैं–उपवास और मानसिक प्रसन्नता। इन दोनों के बिना आहार अर्थशून्य हो जाता है। आप आहार करते हैं, परंतु उपवास करना नहीं जानते, अनाहार रहना नहीं जानते तो आपका आहार आपके लिए कठिनाई बन जाएगा। हम आहार करते हैं भूख की समस्या को समाहित करने के लिए और वही आहार अनेक समस्याएं हमारे सामने प्रस्तुत कर देता है। जो लोग केवल आहार करते हैं, उपवास नहीं करते, वे उपवास का मर्म नहीं जानते। वे समस्याओं को कम नहीं कर सकते। आहार के साथ अनाहार को जोड़ना, उपवास को जोड़ना भी बहुत जरूरी है। उपवास का अर्थ नहीं खाना भी है, कम खाना भी है, आहार की मात्रा को कम करना भी है।

मन खाते समय चिंता से मुक्त होता है तो भोजन का पाचन अच्छा होता है। प्रसन्नता का अर्थ हर्ष नहीं है। शोक जैसे एक आवेश है, वैसे ही हर्ष भी एक आवेश है। प्रसन्नता आवेश नहीं है। वह चित्त की निर्मलता है। जैसे प्रसन्न आकाश का अर्थ होता है निर्मल आकाश, वह आकाश जो बादलों से घिरा हुआ न हो। जो चित्त हर्ष, भय, शोक आदि आवेशों से आक्रांत न हो, वह प्रसन्न होता है। उसमें वृत्तियां शांत होती हैं। खाने वाला केवल खाने में ही लीन होता है, इसलिए चित्त की प्रसन्नता भी भोजन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

18. भावना

नदी का दूसरा किनारा सामने है। कोई व्यक्ति उस तट पर जाना चाहता है। पानी गहरा है। वह तैरना नहीं जानता। वह नौका पर बैठकर उस तट की ओर चल पड़ता है। उस पार पहुंचने का साधन है नौका। नौका के बिना वहां पहुंचा नहीं जा सकता। हम जिस तट पर खड़े हैं, उससे संतुष्ट नहीं हैं। जो सामने तट दिखाई दे रहा है, वहां जाना चाहते हैं। जाना सरल नहीं है। काफी कठिनाइयां हैं। जितनी गहराई है, उसे हम पैरों से चलकर पार नहीं कर सकते। हमें नौका की जरूरत है। नौका है भावना। भावना का सहारा लेकर, भावना की नौका में बैठकर, दूर दिखाई देने वाले तट पर पहुंच जाते हैं। ऐसा कोई भी तट नहीं है, जहां भावना की नौका में चढ़कर हम न पहुंचें। यह भावना का प्रयोजन है, महत्त्व है।

सविषय ध्यान

प्रश्न होगा, भावना क्या है? किसी विचार को बार-बार मन में लाना भावना है। ध्यान के तीन अंग हैं–धारणा, ध्यान और समाधि। यह महर्षि पतंजलि का विभाग है। हम मानते हैं भावना, ध्यान और समाधि। धारणा और भावना में कोई अंतर नहीं है। एक ही ध्यान त्रिमूर्ति बन गया। धारणा का विषय है मन के साथ विषय को जोड़ना। वह ध्येय बन जाता है। धारणा पुष्ट होती है, ध्यान बन जाता है। ध्यान पुष्ट होता है, समाधि बन जाती है। एक ही ध्यान के तीन रूप बन गए। एक पहला, एक मध्य का और एक अंत का। यह है धारणा या भावना का स्वरूप। भावना का अर्थ है सविषय ध्यान। यही इसकी परिभाषा है। जब आपके मन में कोई विषय है, आपने कोई ध्येय चुना है, इसका अर्थ है कि आप सविषय ध्यान कर रहे है, यही है भावना। भावना, सविषय ध्यान और जप में कोई अंतर नहीं है। तीनों एक हैं। अपनी उपयोगिता के आधार पर भिन्न-भिन्न नामों का चुनाव हुआ है। जप का अर्थ यह है कि जो जप्य है, जिसका जप करना है, उस जप्य वस्तु के प्रति व्यक्ति का तन्मय और एकाग्र हो जाना। भावना का अर्थ है भाव्य व्यक्ति या वस्तु के प्रति तन्मय

और एकाग्र हो जाना। धारणा का अर्थ भी यही है कि जिसकी धारणा करनी है, उसके प्रति तन्मय और एकाग्र हो जाना। सविषय ध्यान भी यही है। विषय के प्रति या ध्येय के प्रति तन्मय और एकाग्र हो जाना सविषय ध्यान है। जप, भावना, धारणा और सविषय ध्यान-चारों एक कोटि के हैं। इनमें तात्पर्य-भेद नहीं है, केवल नाम-भेद है।

जो चाहे वह बने

भावना नौका है। भगवान महावीर ने कहा कि जिसकी आत्मा भावना-योग से विशुद्ध होती है, वह जल में नौका की तरह है। वह जब चाहे पार पहुंच सकता है। अब इस नौका का उपयोग कैसे हो? यह प्रश्न शेष रहता है। भावना से भावित होना आवश्यक होता है। आगमों में 'भावितात्मा' शब्द आता है। भावितात्मा हुए बिना लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। भावितात्मा होने के बाद जो होना होता है, वह हो जाता है। यह सारा एकाग्रता का चमत्कार है। हम जो भी होना चाहते हैं, हो जाते हैं। जो घटित करना चाहते हैं, वह घटित हो जाता है। जिस रूप में मन को बदलना चाहते हैं, बदल लेते हैं। मन के असंख्य पर्याय हैं। वह भिन्न-भिन्न आकारों में बदलता है। हम जैसा चाहते हैं, उसी प्रकार का आकार वह लेना शुरू कर देता है। यह मन की अपनी विशेषता है। तन्मयता और एकाग्रता के साथ हमने जो भावना की वैसा ही होना होता है। उसमें कोई अंतर नहीं आता है। प्रश्न है एकाग्रता का, स्थिरता का। मन बदलता है तो साथ-साथ शरीर भी बदलता है।

परिवर्तन भावना के द्वारा

फ्रांस की एक घटना है। एक अमेरिकी युवक वहां आया। एक परिवार के साथ ठहरा। उस परिवार के साथ उसका गाढ़ संपर्क हो गया। उस परिवार में एक वयस्क कन्या थी। युवक का उसके साथ संपर्क बढ़ा। दोनों प्रेमसूत्र में बंध गए। विवाह का प्रश्न सामने आया। युवक ने कहा–'अभी मैं विवाह नहीं कर सकता। जब तक मैं अपने पैरों पर खड़ा न हो जाऊं, तब तक मैं यह भार वहन नहीं कर सकता। मैं आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होकर ही विवाह करूंगा, पहले नहीं।' लड़की ने स्वीकार कर लिया। युवक अमेरिका चला गया। लड़की फ्रांस में ही रही। लड़की के मन में एक विचार आया कि पांच-सात वर्ष बाद जब वह युवक मेरे साथ शादी करने आएगा, तब यह न हो जाए कि मेरा रूप-रंग फीका पड़ जाए, मेरे यौवन का उभार शिथिल हो जाए। उसने प्रतिदिन भावना प्रारंभ की। वह एक कांच के सामने खड़ी हो जाती और भावना करती–'आज जैसी

हूं, वैसी ही रहूं।' इस भावना में तन्मय, एकाग्र हो जाती। पंद्रह वर्ष बीत गए। युवक अपने पैरों पर खड़ा हुआ। उसकी आर्थिक स्थिति सुधरी, वह आत्मनिर्भर हो गया। युवती की स्मृति उसे पल-पल रहती थी। वह फ्रांस आया। उसके मन में अनेक विकल्प उठ रहे थे। उसने सोचा–लड़की की स्थिति क्या हुई होगी? वह कैसे होगी? क्या होगा उसका रूप-रंग? वह लड़की से मिला। उसने पाया कि लड़की के शरीर का लावण्य, उसकी सुंदरता और कमनीयता वैसी ही है, जैसी पंद्रह वर्ष पहले थी। उसमें रत्तीभर भी अंतर नहीं था। वह विवाह-सूत्र में बंध गया। दोनों प्रसन्न हुए। यह भावना का चमत्कार था।

यह भावना-योग है। जो व्यक्ति जिस प्रकार की भावना से अपने-आपको भावित करता है, वह उसी रूप में बदल जाता है। न जाने दुनिया में कितने प्रयोग ऐसे होते हैं, जो भावना से संबंधित होते हैं। जैन परंपरा में भावना योग का विशेष महत्त्व है। इसे आप आध्यात्मिक मूल्य दें, या न दें, यह आप जानें, किंतु यह तथ्य स्पष्ट है कि भावना के आधार पर व्यक्ति बनता-बिगड़ता है। एक मठ था। वहां अनेक छोटे-बड़े साधक साधना का अभ्यास करते थे। वहां एक दंगल (कुश्ती) का आयोजन रखा। दो पहलवान आमंत्रित किए गए। एक तगड़ा और बलिष्ठ था, दूसरा पतला और कम शक्तिशाली था। दंगल प्रारंभ हुआ। बलिष्ठ पहलवान ने पतले-दुबले पहलवान को चित्त कर दिया। साधकों के मन में एक विकल्प उठा। उन्होंने पतले पहलवान को सहयोग देना चाहा। कुछेक साधक आंख मूंदकर इस भावना में तन्मय हो गए कि इसकी विजय होनी ही चाहिए। यह पतला पहलवान जीतना ही चाहिए। कुछ समय बीता। सबके देखते-देखते दुबले-पतले पहलवान ने उस तगड़े पहलवान को पछाड़ दिया। वह उसके सीने पर जा बैठा।

ओटोसजेशन से रोगमुक्ति

भावना दूसरों तक पहुंचाई जा सकती है। दूसरों पर भी उसका प्रभाव डाला जा सकता है। दूसरों की कठिनाइयों को शांत करना, रोग मिटाना, दूसरों का हृदय-परिवर्तन करना, दूसरों के विचारों को बदलना, ये सारे भावना के ही प्रयोग हैं। भावना के द्वारा ये किए जा सकते हैं। भावना के माध्यम से स्वयं को बदला जा सकता है, दूसरों को बदला जा सकता है, आसपास के व्यक्ति को बदला जा सकता है, वातावरण को बदला जा सकता है। एक व्यक्ति का शरीर दुर्बल है, शरीर को स्वस्थ करने के लिए भावना की जा सकती है। एक व्यक्ति का मस्तिष्क दुर्बल है, उसे स्वस्थ करने के लिए भावना की जा सकती

है। एक व्यक्ति की आंखें कमजोर हैं, हृदय दुर्बल है, भावना अपवित्र है, इन सबको स्वस्थ करने के लिए भावना की जा सकती है। अनगिनत भावनाएं की जा सकती हैं। अनगिनत संकल्प किए जा सकते हैं। आज के चिकित्सक, विशेषकर जर्मनी के चिकित्सक, रोगी को दवा की अपेक्षा ऑटो सजेशन (Auto-suggestion) के द्वारा रोगमुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं–'जंगल में चले जाओ। वहां किसी वृक्ष के नीचे बैठकर समाधिस्थ हो जाओ और अपने आपको यह सुझाव दो कि 'मैं स्वस्थ हूं', 'मैं स्वस्थ हो रहा हूं।' उनका मानना है कि इस पद्धति से व्यक्ति रोगमुक्त होकर स्वस्थ हो जाता है।

यह तो सामान्य बात है। जब हम साधना की दृष्टि से विचार करें तो हमें किस प्रकार की भावना करनी चाहिए, इसका भी महत्त्व हमारे समक्ष आ जाता है।

जैन परंपरा में भावना पर बहुत विचार किया गया है। वैसे तो सभी धर्मों ने भावना पर विचार किया होगा, परंतु जैन साहित्य में इस विषय में बहुत अधिक उल्लेख प्राप्त हैं। मुख्य भावनाएं चार हैं–1. ज्ञान भावना 2. चारित्र भावना 3. तप भावना 4. वैराग्य भावना।

भावना का हृदय

जो व्यक्ति साधना के क्षेत्र में प्रवेश करता है, उसे सबसे पहले अपने आपको ज्ञान-भावना से भावित करना होगा। भावना का अर्थ विचारों की आवृत्ति नहीं है। भावना का अर्थ है विचारों की स्थापना, विचारों का दृढ़ीकरण। अभ्यासकाल में विचारों की आवृत्ति भी जरूरी होती है। दोनों बातें आवश्यक हैं–विचारों की आवृत्ति और विचारों का स्थिरीकरण। एक ही बात को आप बार-बार दोहराते रहें, वह भावना बन जाएगी। आप उससे भावित हो जाएंगे। आप ठीक वैसे ही करने लग जाएंगे। एक आदमी दिन में दस-पंद्रह बार दरवाजा खोलता है, बंद करता है। वह उस क्रिया से भावित होता है, प्रभावित होता जाता है। जैसे ही वह घर में प्रवेश करता है, काम हो या न हो, उसका ध्यान उसी क्रिया की ओर जाता है। वह दरवाजा खोले या न खोले, किंतु उसकी स्मृति उसी क्रिया में संलग्न हो जाती है, क्योंकि वह उससे भावित हो गया है। व्यक्ति दोनों से प्रभावित होता है–विचार से भी प्रभावित होता है और कार्य से भी प्रभावित होता है। विचार और कार्य को दोहराना भावना का मूल है।

बदलने की प्रक्रिया

प्रश्न है कि भावना के द्वारा हम अपने-आपको कैसे बदल सकते हैं? इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है–सबसे पहले आप ध्येय का चुनाव करें। आप

यह निर्णय करें कि मुझे अब यह बनना है, यह करना है। मुझे कवि बनना है, दार्शनिक बनना है, लेखक बनना है, साहित्यकार बनना है या अन्य कुछ भी बनना है। जो बनना है, वह ध्येय हो गया। जो ध्येय बना है, उसकी क्रियान्विति के लिए आप भावना का अभ्यास करें। अभ्यास कब और कैसे करें? यह प्रश्न होता है। आप एकांत में चले जाएं। शरीर को शिथिल कर बैठ जाएं। मन भी शिथिल हो। तनाव न हो। आकुल-व्याकुल न हो। यह प्रारंभिक स्थिति है। यह आवश्यक है। जो ध्येय हमने चुना है, वह स्थूल मन से हटकर अवचेतन मन में नहीं पहुंचेगा, तब तक 'होने की' भावना सफल नहीं होगी। आप कह सकते हैं कि 'हमने ऐसी भावनाएं कीं, भावनाओं का अभ्यास किया, पर हम सफल नहीं हुए।' कहीं समझने की भूल हो रही है।

भावना का तात्पर्य है चेतन मन को भुला देना और अवचेतन मन को जागृत कर देना। चेतन मन के विकल्प को अवचेतन मन की धरोहर बना देना, अवचेतन मन में उसे स्थापित कर देना, यह है भावना। यह है भावना का अभ्यास। जब तक बात अवचेतन मन तक नहीं पहुंचेगी, आप हजार बार, दस हजार बार प्रयत्न करें, शब्द दोहराते जाएं, सफलता नहीं मिलेगी। आप सफल नहीं होंगे। इसमें सफल होने के लिए आपको शरीर का विसर्जन करना होगा, शरीर को बिल्कुल शिथिल कर देना होगा। चेतन मन को भी शांत करना होगा। उसके बाद अपने ध्येय को दोहराते रहें, पहले मध्यम आवाज में, फिर तेज आवाज में।

यह क्रम दस मिनट तक चलता रहे। इससे कम समय में सफलता असंभव है। प्रतिदिन इस क्रम से दोहराते रहें। यह ध्यान में रखें कि क्रम कहीं टूटे नहीं। अपने ध्येय के अनुसार ही आचरण करें। निश्चित ही आप लक्ष्य तक पहुंच जाएंगे। काल की अवधि में कुछ अंतर हो सकता है, पर सफलता निश्चित है। कोई भी आदमी भावना के बिना सच्चा धार्मिक नहीं बन सकता और ध्यान की उच्च स्थिति में भी नहीं जा सकता। शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक तथा सभी प्रकार के विकास के लिए भावना का सर्वोपरि महत्त्व है।

एक लक्ष्य की पूर्ति के लिए हमें अनेक उपक्रम करने होते हैं। मान लीजिए कि हमें निर्मोह बनना है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए हमें मोह की समस्त वस्तुओं को मिटाना होगा। जो भी वस्तु मोह उत्पन्न करती है, मन को मूढ़ बनाती है, उसका निराकरण करना होगा। ध्येय का अर्थ ही है भावना।

19. अध्यात्म की साधना

एक व्यक्ति विचारक के पास जाकर बोला–भ्रांति क्या है? सत्य क्या है? विचारक ने उत्तर दिया–मैं कहता हूं, वह भ्रांति है। तुम उसे नहीं मानते, यह सत्य है।

हम इस दुनिया में सत्य और भ्रांति के चक्र में पड़े हुए हैं। धर्म का सारा मार्ग सत्य की खोज के लिए है। आदिकाल से मानव सत्य की खोज करता चला आ रहा है। साथ-साथ भ्रांति भी चल रही है। यह चलती रहेगी। यदि भ्रांति साथ-साथ नहीं चलती तो धर्म की आज कोई अपेक्षा ही नहीं रह जाती, किंतु जैसे-जैसे धर्म का विस्तार हुआ है, वैसे-वैसे भ्रांति का भी विस्तार हुआ है।

हम धर्म और अध्यात्म की बात करते हैं सत्य की उपलब्धि के लिए। आदमी सोने का मूल्य कर सकता है, पर मिट्टी का नहीं, क्योंकि वह इतनी सहज और सुलभ है कि हर आदमी उसे प्राप्त कर सकता है। यह सच है कि सोने की तुलना में मिट्टी का मूल्य हजार गुना अधिक है। सोना आदमी को मार सकता है, पर मिट्टी ने न जाने कितने मरने वालों को उबारा है, फिर भी मिट्टी का मूल्य नहीं आंका जा सकता, क्योंकि वह सहज है, सुलभ है। हम रोटी का मूल्यांकन करते हैं, क्योंकि रोटी हमारा जीवन है, परंतु जो सचमुच जीवन है, उसका हम कभी भी मूल्यांकन नहीं करते। वह है प्राण। वह है हमारा स्वास्थ्य।

साधना की पद्धति मूल्यांकन का मार्ग है। जहां मतभेद का प्रश्न है, वहां हजार संप्रदाय हो जाते हैं। लोग कहते हैं संप्रदाय न हों। मैं इस भाषा में सोचता हूं कि हजारों संप्रदाय हों। हर व्यक्ति का एक संप्रदाय हो। अध्यात्म ही एक ऐसा विकल्प है, जहां कोई संप्रदाय-भेद नहीं है। साधना और अध्यात्म में कोई संप्रदाय-भेद नहीं होता। साधना का सबसे बड़ा योग है ध्यान। ध्यान का अर्थ है निर्विकल्पता, जहां कोई विकल्प नहीं, विवाद नहीं। इसमें मतवाद का प्रश्न ही नहीं उठता।

साधना में मुंह बंद होता है, कान बंद होते हैं, आंखें बंद होती हैं, फिर वहां विवाद का प्रश्न ही कैसे उठेगा? हमारी जो नैतिकता की पूंजी है, उसकी मूल पृष्ठभूमि है अध्यात्म। अध्यात्म के आधार पर ही नैतिकता विकसित हो सकती है। आज हमारा सारा ध्यान शरीर-केन्द्रित हो गया है। मूल है मन। उसकी हम उपेक्षा करते चले जा रहे हैं। हमें सबसे अधिक प्रभावित करने वाला तत्त्व है मन।

ध्यान की शक्ति

महात्मा बुद्ध विहार कर रहे थे। साथ में एक शिष्य था। शिष्य ने पूछा–'भंते! ध्यान की शक्ति क्या है? मैं जानना चाहता हूं।' बुद्ध ने सुना–उत्तर नहीं दिया। मार्ग में एक कुआं आया। एक यात्री आ रहा था। वह प्यासा था। उसने देखा–कुएं के पास एक बाल्टी पड़ी है, वह डोरी से बंधी हुई है। उसने उस बाल्टी को कुएं में डाला। डोर खींची। बाल्टी ऊपर आई, पर उसमें पानी नहीं था। वह खाली थी, फिर उसे कुएं में डाला। ऊपर खींचा, पर वह खाली ही ऊपर आई। वह पानी नहीं पी सका। उसकी प्यास वैसी ही बनी रही। बाल्टी के पेंदे में छेद थे। जितना पानी भरता, वह ऊपर आते-आते खाली हो जाता।

बुद्ध आगे चले। कुछ ही दूरी पर दूसरा कुआं दिखा। वहां भी डोर से बंधी बाल्टी पड़ी थी। एक प्यासा पथिक आया। बाल्टी से पानी खींचा। पानी पिया। प्यास बुझ गई।

बुद्ध ने शिष्य से कहा–'वत्स! तुम जानना चाहते थे कि ध्यान की शक्ति क्या है? ध्यान की शक्ति यह है, जो ध्यान नहीं करता, वह खाली रहता है, कभी नहीं भरता। वह फूटा रहता है, कभी नहीं भर सकता। जो कुछ अंदर आता है, सारा का सारा निकल जाता है। जो ध्यान करता है, जितना अंदर जाता है, उससे हजार गुना बढ़ता है–यह है ध्यान की शक्ति। यह है ध्यान का महत्त्व। हमारी कितनी ही शक्तियां हैं शरीर में, मस्तिष्क में। उनके विकास का मार्ग है साधना। साधना के बिना उनको विकसित नहीं किया जा सकता। यह समूचा साधना का मार्ग शक्तियों के विकास का मार्ग है।

20. इन्द्रिय-संयम

एक कवि था। वह तत्त्वज्ञानी था, अमेरिका में रहता था। उसका नाम था 'युनको'। एक दिन वह जा रहा था। अचानक ही आकाश में बादल मंडराने लगे और देखते-देखते मूसलाधार वर्षा होने लगी। बरसात बहुत तेज थी। उसे रुकना पड़ा। उसके पास स्वलिखित डायरी थी। उसमें अनेक कविताएं लिखी हुई थीं। उसको आगे जाना जरूरी था। बरसात में डायरी के भीग जाने का भय लगा। पास में एक दुकान थी। बूढ़ा दुकानदार वहां बैठा हुआ था। उसे डायरी सौंपते हुए कहा–'देखो, मैं तुम्हें यह डायरी सौंप रहा हूं। इसे सुरक्षित रखना। कल लौटते वक्त ले जाऊंगा। बरसात आ रही है। मेरे पास छाता भी नहीं है। यह भीग जाएगी। तुम्हारे पास रखकर जाता हूं। सावधानी से रखना।' दुकानदार ने डायरी लेकर रख ली।

दूसरे दिन कवि दुकान पर आया डायरी लेने। उसने देखा कि दुकानदार डायरी के पन्ने फाड़े जा रहा है और ग्राहकों को पुड़िया बांधकर दे रहा है। वह सन्न रह गया। उसने कहा–'अरे! यह क्या कर रहे हो? डायरी को क्यों नष्ट कर रहे हो?' बूढ़े ने कहा–'क्षमा करें, मेरे से भूल हो गई। मैं भी भुलक्कड़ हूं। मुझे ध्यान ही नहीं रहा कि यह आपकी डायरी है, पर आप घबराइए नहीं। मैंने इसमें से फालतू पन्ने ही फाड़े हैं। जो लिखे जा चुके थे, उन्हें ही फाड़ा है। जो पन्ने सादे थे, जिन पर कुछ भी नहीं लिखा गया था, वे ज्यों के त्यों सुरक्षित हैं। आप घबराएं नहीं।'

यह दुकानदार का दृष्टिकोण था। उसने यह संतोष मान लिया कि उसने एक भी सादा पन्ना नहीं फाड़ा। कवि पर क्या बीती होगी, कौन कल्पना कर सकता है। कवि के लिए लिखे हुए पन्ने सादे पन्नों से मूल्यवान थे। उन पर उसने अपनी सद्यस्क कविताएं लिख रखी थीं। ये वे कविताएं थीं, जो उसे यश के शिखर पर चढ़ाने के लिए पर्याप्त थीं। वह खाली पन्नों का क्या करे?

हमारी इन्द्रियों पर भी ठीक ऐसा ही घटित होता है। एक इन्द्रियां खाली पन्ने जैसी हैं और एक इन्द्रियां लिखे हुए पन्ने जैसी हैं। हम किसे अधिक मूल्य दें? हमारी इन्द्रियों के साथ जो राग-द्वेष की धारा चल रही है, उसके द्वारा इन्द्रियों पर राग के अंकन हो रहे हैं, द्वेष के अंकन हो रहे हैं। उन पर इनके अनंत अंकन हो चुके हैं।

जो लोग इन्द्रियों के बारे में सोचते हैं, जानते हैं, परंपरागत संस्कारों को देखते हैं, इन्द्रियों को बहुमान देते हैं, वे सोचते हैं, जो कुछ अंकन था, वह बहुमूल्य था। वह मिट गया तो सबकुछ मिट गया। वह चला गया तो कुछ चला गया। इन्द्रियों के साथ जो सुख आ रहा था, वह नहीं रहा, मिट गया तो फिर शेष क्या बचेगा? वे उस धारा को जो लिपिबद्ध है, अंकित है, बराबर जोड़े हुए रखना चाहते हैं। यह एक दृष्टिकोण है।

दूसरा दृष्टिकोण है दुकानदार का। उसके लिए खाली पन्ने काम के हैं, अंकित पन्ने काम के नहीं हैं। मूल्य खाली पन्नों का है, क्योंकि उन पर लिखा जा सकता है। अंकित पन्नों का कोई मूल्य नहीं, क्योंकि वे पहले से ही भरे पड़े हैं। उन पर नया कुछ भी नहीं लिखा जा सकता।

यह एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण है। कवि के लिए यह दृष्टिकोण प्रिय नहीं था। इन्द्रियवादी के लिए भी यह दृष्टिकोण प्रिय नहीं हो सकता, किंतु साधक के लिए यह बहुत प्रिय और मनोज्ञ दृष्टिकोण है। खाली पन्ने बहुत काम के हैं, यानी हम पन्नों को खाली रखें, खाली कर दें। उन पर कुछ भी न लिखें, कभी न लिखें। उन्हें खाली ही रहने दें। इन्द्रिय-ज्ञान की धारा के साथ-साथ जो राग-द्वेष की धारा बह रही है, उसे तोड़ दें, नष्ट कर दें। इन्द्रिय-ज्ञान को खाली रखें। राग-द्वेष को न जोड़ें, उनका अंकन न होने दें। यही इन्द्रिय-संयम है।

इन्द्रिय : अवधारणाएं

इन्द्रिय के विषय में दो बातें हैं, जिन पर हजारों वर्षों में भारतीय योगियों और साधकों द्वारा बहुत चर्चाएं हुई हैं।

पहली बात कुछ साधक कहते हैं इन्द्रियों को काम में मत लो। आंख से मत देखो। आंख मूंद लो। कान से मत सुनो। कान में रुई डाल दो। नाक से मत सूंघो। नाक को बंद कर दो। जीभ से मत चखो। सरस खाओ ही मत। नीरस, रसहीन या स्वादहीन भोजन करो। रस नहीं आएगा। क्या ये सारी बातें संभव हैं? क्या रात-दिन आंख मूंदकर रहा जा सकता है? जो देखने की शक्ति प्राप्त

है, दृष्टि प्राप्त है, उसको काम में लिए बिना क्या अच्छा परिणाम आएगा? कान हैं सुनने के लिए। कान को बंद कर दिया, कुछ भी नहीं सुना तो कौन-सी बड़ी उपलब्धि हो गई? निरंतर नहीं सुनना संभव भी नहीं।

दूसरी बात कुछ साधक कहते हैं इन्द्रियों का अपना-अपना काम है। उन्हें करने दो। आंख से, कान से, नाक से, जीभ से काम लो। देखो, सुनो, सूंघो, चखो, छुओ, सबकुछ करो, किंतु उनके साथ जो राग-द्वेष की धारा आ रही है, उसका संयोग मत होने दो, जोड़ो मत। उस धारा को अलग प्रवाहित होने दो। कोई कठिनाई नहीं होगी।

ये दो बातें हैं। एक है विषय का निरोध करना और एक है राग-द्वेष का निरोध करना। एक है इन्द्रियों से काम लेना और एक है इन्द्रियों से काम लेते हुए उसके साथ राग-द्वेष को न जुड़ने देना। दोनों बातें भिन्न-भिन्न हैं। अब हमें सोचना है कि साधना की दृष्टि से कौन-सी बात उचित है। काम न लेना अच्छा है या राग-द्वेष को न जोड़ना अच्छा है। कुछ कहेंगे पहली बात अच्छी है और कुछ कहेंगे दूसरी। मैं यह नहीं कह सकता कि पहली अच्छी है या दूसरी अच्छी है। दोनों का अपना स्थान है, अपना काम है, अपना महत्त्व है।

एक व्यक्ति साधु के पास आया और बोला–क्या मोक्ष-प्राप्ति के लिए घर को छोड़ना जरूरी है? साधु ने कहा–कोई जरूरी नहीं। यदि जरूरी होता तो जनक घर में रहते हुए भी विदेह कैसे हो जाते? भरत को आदर्श-गृह में कैवल्य की प्राप्ति कैसे हो जाती? यदि जरूरी होता तो भगवान ऋषभ की माता मरुदेवा को मोक्ष कैसे मिलता? मरुदेवा साध्वी नहीं बनी। भरत ने गृहत्याग नहीं किया। जनक राज्य छोड़कर संन्यासी नहीं बने। फिर भी मरुदेवा मुक्त हो गई, भरत केवली हो गए और जनक विदेह हो गए।

कुछ दिनों बाद एक दूसरा व्यक्ति उसी साधु के पास आकर बोला–'महाराज! क्या मोक्ष के लिए घर-बार को छोड़ना आवश्यक नहीं है?' साधु ने कहा–'बहुत आवश्यक है, बहुत जरूरी है। यदि घर का परित्याग किए बिना ही मोक्ष मिल जाता तो 'शुकदेव' जैसे संन्यासी यहां पैदा कैसे होते? हमारी भारतीय परंपराओं में, जैनों में, बौद्धों में, वैदिकों में हजारों-हजारों संन्यासी बने हैं, मुनि बने हैं, भिक्षु बने हैं, वे फिर संन्यासी क्यों बनते? वे क्यों जंगलों में भटकते? वे क्यों अनगिनत कष्टों को सहते ? क्यों वे अरण्यवासी बनते ? क्यों वे घर को छोड़ साधना करते? इसलिए मोक्ष-प्राप्ति के लिए गृहत्याग बहुत जरूरी है।'

एक बार दोनों व्यक्ति कहीं मिल गए। संयोग ही ऐसा था। एक ने कहा–'महाराज ने कहा कि मोक्ष को पाने के लिए घर छोड़ना जरूरी नहीं है।' दूसरे ने कहा–'तुम झूठ बोल रहे हो। मैंने भी पूछा था उसी साधु से। उसने कहा था कि मोक्ष पाने के लिए घर छोड़ना बहुत जरूरी है।' दोनों में विवाद हो गया। दोनों लड़ पड़े। दोनों अपने-अपने विचारों की सीमा तक सच थे। विवाद बढ़ा। समाधान नहीं मिला। दोनों साधु के पास आए। बोले–'महाराज! आपने हमें लड़ा दिया, भिड़ा दिया। प्रश्न एक था, पर आपने उसके दो उत्तर कैसे दिए? वे उत्तर भी एक-दूसरे से उल्टे। हमें समाधान दो।'

साधु ने कहा–दोनों भोले हो। तुमने मेरा आशय नहीं समझा। साधु ने पहले व्यक्ति को संबोधित कर कहा–'देखो, तुम्हारी मनोवृत्ति घर को छोड़ने की नहीं थी। तुम घर छोड़कर साधना करना नहीं चाहते थे, इसलिए मैंने कहा–मोक्ष प्राप्ति के लिए घर छोड़ना जरूरी नहीं है। तुम घर में रहकर भी साधना कर सकते हो। दूसरे व्यक्ति की मनोवृत्ति घर छोड़ने के लिए तैयार हो गई थी, इसलिए मैंने कहा था–मोक्ष प्राप्ति के लिए घर छोड़ना आवश्यक है। उसे मैं कैसे कहता कि तुम घर में ही रहो। जैसी तुम्हारी मनोभावना थी, मैंने तुम्हें उसी ओर प्रेरित किया। उसकी जैसी मनोभावना थी मैंने उसे उसी ओर प्रेरित किया। उसी दिशा में जाने के लिए कहा। इसमें कठिनाई ही क्या है?'

यह एक घटना है। हम एकांततः यह भी नहीं कह सकते कि घर छोड़ना अच्छा ही है या यह भी नहीं कह सकते कि घर नहीं छोड़ना चाहिए। जिसकी जैसी योग्यता हो, क्षमता हो, तैयारी हो, मनोवृत्ति हो, उसी दिशा में उसे चलने देना चाहिए।

कैसे करें नेत्रों का प्रयोग?

कुछ लोग कहते हैं कि आंख मूंदकर बैठे बिना रूप के प्रति जो आकर्षण है वह मिट नहीं सकता। रूप के प्रति जो आसक्ति होती है, वह मिट नहीं सकती। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को दो-चार घंटे आंख मूंदकर बैठना चाहिए। ऐसा करने पर ही चक्षु-संयम हो सकता है।

कुछ लोग कहते हैं–नहीं, यह कमजोरी है, क्लीवता है। रूप को देखते हुए भी हमारे मन में आकर्षण पैदा न हो, विकार न आए, यह प्रयत्न करना है। आंख का काम है देखना। देखने के साथ हम राग-द्वेष की चेतना को न

जोड़ें, यह साधना है। हमारे मन में प्रियता और अप्रियता का भाव न आए, अच्छे-बुरे का भाव न आए।

मैं कहता हूं कि यह भी एक मार्ग है और वह भी एक मार्ग है। न वह श्रेष्ठ है और यह अश्रेष्ठ और न यह श्रेष्ठ है और वह अश्रेष्ठ। दोनों मार्ग हैं। जिसकी जैसी रुचि हो, वह उसी मार्ग पर बढ़े। मार्ग के श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ की बात नहीं है। बात है व्यक्ति की रुचि की, व्यक्ति की योग्यता की, व्यक्ति की क्षमता की। मार्ग दोनों हैं। किसी ओर से भी पहुंचा जा सकता है।

जिस व्यक्ति में इतनी क्षमता जागृत हो गई कि आंखें खुली रहने पर भी उसे मन में प्रिय-अप्रिय या राग-द्वेष का भाव उदित नहीं होता तो उसे आंख मूंदने की कोई जरूरत नहीं है। आंखें बंद करना उसके लिए जरूरी है, जिसमें इस प्रकार की क्षमता का उदय नहीं हुआ है, जो मन में उठने वाले प्रियता-अप्रियता या राग-द्वेष के भाव को रोक नहीं पाता।

मुंह पर पर्दा रखने की प्रथा पहले भी चालू थी, आज भी है। प्रश्न है कि पर्दा कौन रखे, स्त्री या पुरुष? यह आवश्यक नहीं कि स्त्रियां ही पर्दा रखें और पुरुष नहीं। पर्दा वह रखे, जिसकी दृष्टि निर्विकार नहीं है। पर्दा उसके लिए है, जो दृष्टि का संयम न कर सके, फिर चाहे पुरुष हो या स्त्री। आंखें बंद करना भी आंख पर पर्दा डालना ही है। चाहे आंख बंद करें या आंख पर कपड़ा डालें, एक ही बात है। पर्दा-पर्दा है। जिसमें यह क्षमता पैदा हो गई है कि दृष्टि में विकार नहीं आता, रूप-अरूप के प्रति राग-द्वेष नहीं आता, उसके लिए पर्दे की आवश्यकता ही नहीं है। उसे आंख मूंदकर साधना करने की आवश्यकता नहीं है।

इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता

एक मार्ग है इन्द्रिय-विषय के निरोध का और एक मार्ग है राग-द्वेष की धारा के अवरोध का। इन दोनों का संयुक्त नाम है 'इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता।' प्रतिसंलीनता का अर्थ है अपने आप में लीन हो जाना। इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता अर्थात् इन्द्रियों का चेतना में लीन हो जाना। इन्द्रियों के विषय में हमारी जानकारी बहुत अल्प है। हम जानते हैं कि आंख का काम है देखना। कान का काम है सुनना आदि-आदि, किंतु बात ऐसी नहीं है। वास्तव में यह विभाजन नहीं है। ज्ञान की एक ही धारा है। यह विभक्त नहीं है, किंतु हमने अपनी उपयोगिता के लिए वैसा कर लिया है।

जैन परंपरा में चौबीस लब्धियों का उल्लेख है। उनमें एक लब्धि है 'संभिन्न-स्रोतोलब्धि'। जिस साधक को यह उपलब्ध हो जाती है, जो साधक अपनी साधना के द्वारा चेतना के इस विकास तक पहुंच जाता है, वह किसी भी इन्द्रिय से कोई भी काम ले सकता है। वह आंख से सुन सकता है, कान से देख सकता है, अंगुली से देख सकता है, सुन सकता है, फिर कोई विभाजन नहीं होता। सभी इन्द्रियां सभी विषयों का ग्रहण करने में सक्षम हो जाती हैं। यह इस बात का द्योतक है कि यथार्थ में ज्ञानधारा एक ही है। उसमें विभाजन नहीं है।

'संभिन्नस्रोतोलब्धि' का शब्दार्थ है कि जो स्रोत हैं, वे सारे भिन्न हो जाते हैं, खुल जाते हैं, फिर यह नहीं रहता कि कान से ही सुनना है, आंख से ही देखना है। किसी इन्द्रिय से सुना जा सकता है, देखा जा सकता है।

आज यह तथ्य विज्ञान के द्वारा भी संभव हो गया है कि कान के द्वारा ही सुना जा सकता है, यह कोई बात नहीं है। यह तो हमने अभ्यास के द्वारा ऐसा बना लिया है कि हम कान के माध्यम के बिना सुन ही नहीं सकते, अन्यथा दांतों में सुनने की क्षमता अधिक है। आप आंख से नहीं, अंगुलियों से भी देख सकते हैं। रूस में एक लड़की है। उसका नाम है रोजा कुलेशोवा। उसकी अंगुलियों में अद्‌भुत क्षमता विकसित हो गई है। आंख पर पट्टी बांधकर वह अंगुलियों के सहारे पुस्तक पढ़ लेती है। अंगुली पन्नों पर चलती जाएगी और वह पढ़ती जाएगी। कोई भी चीज हो, वह उस पर दायें हाथ की अंगुली फेरती है और बता देती है कि उस पर क्या लिखा है, क्या छपा है। उसकी अंगुलियां शीशे के पार भी देख लेती हैं। वस्तु को छुए बिना पहचान लेती हैं। अंधे भी पुस्तक पढ़ते हैं, अपनी अंगुलियों से पढ़ते हैं, पर वे उभरे हुए अक्षरों को ही पढ़ पाते हैं। उनको पहले इस विद्या में शिक्षित किया जाता है। वे सामान्य पुस्तकें नहीं पढ़ पाते, किंतु वह रूसी लड़की सामान्य पुस्तकें अंगुली के माध्यम से पढ़ लेती है।

हमारी इन्द्रियों का यह जो विभाजन है कि अमुक इन्द्रिय से सुना जाता है, अमुक इन्द्रिय से देखा जाता है, अमुक इन्द्रिय से चखा जाता है आदि-आदि, यह हमारे निरंतर अभ्यास के कारण हुआ है। यह यथार्थ नहीं है। जिनकी चेतना विकसित हो जाती है, उनमें ये विभाग समाप्त हो जाते हैं।

चेतना का प्रवाह

हम देखते हैं कि कुछेक व्यक्तियों में मिठाई के प्रति राग है, कुछेक में द्वेष या घृणा। कुछ व्यक्ति किसी वस्तु को पसंद करते हैं और कुछ किसी वस्तु को।

एक व्यक्ति का एक वस्तु के प्रति राग है तो दूसरे व्यक्ति का उसके प्रति द्वेष है। इन इन्द्रियों ने राग-द्वेष को बांट दिया। क्या राग-द्वेष बंटता है? क्या वह खंड-खंड होता है? मैं समझता हूं, यह नहीं होता। राग-द्वेष की धारा एक है। हमारी चेतना की धारा एक है। सारा अंतर आता है हमारे अभ्यास के कारण, वातावरण के कारण या संस्कारों के कारण। एक परिस्थिति में जिस प्रकार के संस्कार, वातावरण या अभ्यास का निर्माण होता है, वैसे ही सारे विभाग बनते जाते हैं। किसी में रस की प्रबलता होती है, किसी में श्रवण की प्रबलता होती है और किसी में दर्शन (देखने) की प्रबलता होती है। राग-द्वेष की धारा एक होते हुए भी जो विभिन्न रुचियों का निर्माण होता है, उसका मूल कारण है विभिन्न संस्कारों का विकास। हम उनमें विशेषज्ञता प्राप्त कर लेते हैं, अत्यंत अभ्यस्त हो जाते हैं। यह स्पेशलाइजेशन की बात है। जिस इन्द्रिय का जिस विषय के प्रति अति झुकाव होता है, उधर ही राग-द्वेष की धारा बहने लग जाती है।

आपने अनुभव किया होगा। खेतों में पानी दिया जा रहा है। बड़ी नहर चल रही है। छोटी-छोटी क्यारियों में पानी बह रहा है। उनसे सारा खेत पानी पी रहा है। कभी-कभी किसान ऐसा करता है कि जिन क्यारियों में पानी की आवश्यकता नहीं होती, वह उन क्यारियों के मुंह पर मिट्टी की पाल बांध देता है। अब पानी उन विभिन्न क्यारियों में नहीं बहता। वह एक दिशागामी हो जाता है। जो पानी अलग-अलग क्यारियों में बंटकर बहता था, वह एक धारा में बहना शुरू हो जाता है। ठीक वैसे ही है हमारी इन्द्रियों की स्थिति। जो राग-द्वेष की धारा सभी इन्द्रियों के साथ बह रही थी, हमने कुछेक इन्द्रियों के द्वारों को बंद कर उसे एक ही इन्द्रिय की ओर प्रवाहित कर दिया। अब सारा प्रवाह पूर्ण वेग से एक ही दिशा की ओर प्रवाहित होगा। अब हमारा संस्कार बलवान होता जाएगा।

हमारे समूचे शरीर के सभी अवयवों में रक्त का संचार होता है, किंतु जब हम किसी एक बिंदु पर ध्यान केन्द्रित कर देते हैं और यह संकल्प करते हैं कि इस बिंदु पर रक्त का प्रवाह अधिक होना चाहिए तो वहां रक्तधारा अधिक मात्रा में प्रवाहित होने लग जाती है। प्राणधारा प्रवाहित होने लग जाती है। प्राणधारा के साथ-साथ रक्त की धारा भी आ जाती है। इस प्रकार जहां हमारा मन जाता है, संकल्प जाता है, प्राणधारा भी उसी ओर जाती है। राग-द्वेष की धारा भी उसी ओर बहने लगती है। संस्कार बलवान और पुष्ट होता जाता है।

राग-द्वेष की धारा में कोई अंतर नहीं है। चेतना की धारा में भी कोई अंतर नहीं है। हम अंतर पैदा करते हैं, उसे गति देकर, संकल्प कर या उसे पुष्ट कर।

हमें इन्द्रिय-संयम का अभ्यास करना है तो दोनों विषयों इन्द्रिय-विषय के निरोध और राग-द्वेष की धारा के निरोध में समझौता करना होगा।

इन्द्रिय-संयम

इन्द्रियों का अभ्यास सबमें एक-सा नहीं होता। किसी में चक्षु-इन्द्रिय प्रबल है, किसी में श्रोत्र-इन्द्रिय और किसी में रसनेन्द्रिय। किसी में घ्राण-इन्द्रिय प्रबल है तो किसी में स्पर्शन-इन्द्रिय प्रबल है। इन्द्रिय-संयम का अभ्यास करने से पूर्व व्यक्ति सबसे पहले यह निर्णय करे कि उसमें किस इन्द्रिय की आसक्ति प्रबल है, किस विषय की आसक्ति प्रबल है। यह निर्णय करने के पश्चात् उसे संयम की दिशा में बढ़ना चाहिए। अभ्यास इस प्रकार करें, जिस इन्द्रिय की आसक्ति प्रबल है, उस ओर राग-द्वेष की धारा न जाए, ऐसा अभ्यास करें। सदा जागृत रहें। अभ्यास निरंतर चले। प्रातः और सायं निरीक्षण करते रहें। यह पर्याप्त है और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। इतनी जागरूकता यदि आ जाती है तो इन्द्रिय-संयम का मार्ग खुल जाता है, फिर वह अपने आप विकसित होता जाता है। इन्द्रिय-संयम साधना की दृष्टि से नहीं, जीवन की दृष्टि से भी जरूरी है। स्वास्थ्य की दृष्टि से, व्यवहार की दृष्टि से, अन्यान्य दृष्टियों से भी यह जरूरी है।

योग, अयोग और अतियोग

प्राचीन साहित्य में यह उल्लेख मिलता है कि राजाओं के लिए इन्द्रिय-संयम अत्यंत आवश्यक है। जो राजा इन्द्रिय-संयम नहीं कर सकता, वह वास्तव में राज्य का सही पालन नहीं कर सकता। इन्द्रिय-लोलुप राजा इतने बड़े साम्राज्य का पालन कैसे कर सकता है? बाहर से आक्रमण हो रहा है और राजा अपने अंतःपुर में विलास में डूबा हुआ है। राज्य की रक्षा कैसे होगी? राजा के लिए संयत-इन्द्रिय होना बहुत ही जरूरी है। समाज का जो मुखिया है, उसके लिए भी इन्द्रिय-संयम जरूरी है। हर व्यक्ति के लिए यह जरूरी है। इन्द्रियों का अतियोग करने वाला अपने जीवन को ही नष्ट कर देता है। तीन स्थितियां हैं—योग, अयोग और अतियोग।

महर्षि चरक का अभिमत है कि जो व्यक्ति इन्द्रियों का योग नहीं करता, इन्द्रियों से काम नहीं लेता, उसकी इन्द्रियां नष्ट हो जाती हैं। वे काम करना

बंद कर देती हैं। आप आंख से काम लेना बंद कर दें तो आंख की ज्योति नष्ट हो जाएगी। सब इन्द्रियों के प्रति यही नियम लागू होता है। आप हाथ को मोड़कर रखिए। कुछ दिनों के बाद उसे आप सीधा नहीं कर पाएंगे। उसकी लचक नष्ट हो जाएगी।

अयोग से शक्ति नष्ट होती है तो अतियोग से भी वह नष्ट हो जाती है। इसलिए 'योग' ही उत्तम मार्ग है। इन्द्रिय का समुचित योग होना चाहिए। पहले इन्द्रिय से काम लिया, फिर विश्राम किया। जितना काम, उतना विश्राम। जितना लेना है, उतना लिया, न अधिक और न कम। यह है योग। यह आयुर्वेद का अभिमत है साधना की दृष्टि से इन्द्रिय-संयम का बहुत महत्त्व है। इसका तात्पर्य है कि आंख से देखने का काम लेना, आंख का असयंम नहीं है। कान से सुनने का काम लेना, कान का असंयम नहीं है। असंयम है उनके साथ राग-द्वेष जोड़ना। इन्द्रिय-संयम का अर्थ है आप इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान करें। कोरा ज्ञान। उसके साथ कुछ भी न जोड़ें। केवल पानी बहे। उसके साथ कूड़ा-कर्कट और गंदगी न बहे। यह है इन्द्रिय-संयम। पानी बहे या एक ही जगह पड़ा रहे, इसकी चिंता नहीं है। पानी बह भी सकता है और एक जगह भी पड़ा रह सकता है। हमें तो केवल यह चिंता करनी है कि पानी के साथ कूड़ा-कर्कट न मिले, न बहे, न घुले-मिले। बस, इतना करना पर्याप्त है। इसके लिए हमें किसी नाली को रोकना है तो उसे रोकना होगा। उसे ऊपर से ढकना है तो उसे ढकना होगा, जिससे उसमें गंदगी न आए, कूड़ा-कर्कट न आए। मूल बात है पानी साफ बहे, उसकी स्वच्छता नष्ट न हो। यह है इन्द्रिय-संयम। यदि हम इस बात के लिए जागरूक हो जाते हैं कि हमारे इन्द्रिय-व्यापार के साथ राग-द्वेष की धारा का संयम न हो तो हमारे इन्द्रिय-संयम का मार्ग स्वतः प्रशस्त हो जाता है।

परिणाम असंयम का

इन्द्रियों के असंयम का परिणाम तत्काल ही मिल जाता है। एक व्यक्ति ने इतना भोजन कर लिया कि अब न शाम को खाने की आवश्यकता है और न एक-दो दिन खाने की आवश्यकता है। एक साथ खूब खा लिया। डटकर भोजन कर लिया। इसका परिणाम तत्काल ही मिल जाता है। परिणाम के लिए अगले जन्म तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। आए दिन हम पढ़ते हैं कि अमुक नगर में मदिरापान से सौ आदमी मर गए। यह विषाक्त मदिरा थी। परिणाम भुगतना पड़ा। परिणाम तत्काल मिल गया। हमारा सारा लेखा-जोखा वर्तमान में ही है।

हमारे भीतर एक ऐसा कंप्यूटर है, जो राई-राई का लेखा-जोखा कर लेता है, गणित कर लेता है। सारा हिसाब भीतर हो रहा है।

एक आदमी बहुत धनी है। उसके धनी होने का कारण है कूट-कपटपूर्ण व्यापार। वह दूसरों को ठगता है, धोखा देता है, मिलावट करता है, चोरी करता है। धन उसके पास एकत्रित होता रहता है। हम उसको बड़ा मान लेते हैं, क्योंकि वह धनी है। वह बाहर से प्रसन्न भी दिखता है। उसके अंदर झांककर देखिए। वह बड़ा दुःखी प्रतीत होगा। उसकी आत्मा रो रही है। घर में फूट है। बेटे आज्ञा नहीं मानते। पत्नी उससे संतुष्ट नहीं है। उसका स्वास्थ्य भी बिगड़ा हुआ है। वह पल-पल दुश्चिंता से बिता रहा है। कूट-कपट का परिणाम उसे यहीं भोगना पड़ रहा है। धन है, पर सुख नहीं। धन है, पर आत्मतोष नहीं। धन है, पर शांति नहीं।

परिणामों का यह सूक्ष्म लेखा-जोखा अंदर-ही-अंदर चल रहा है। हम प्रत्यक्षतः उसे देख नहीं पाते। वह स्वतःचालित व्यवस्था है।

वाद, प्रतिवाद और समवाद

वाद, प्रतिवाद और समवाद–ये तीनों साथ-साथ चलते हैं। वाद के साथ प्रतिवाद भी जन्म लेता है। वह चाहे फिर किसी भी पद्धति में हो, चाहे वह धार्मिक पद्धति में हो, राजनीतिक पद्धति में हो, सामाजिक पद्धति में हो, प्रतिवाद अवश्य होगा। संघर्ष अवश्य जन्मेगा। हम सोचते हैं कि वह प्रतिवाद या संघर्ष आज उत्पन्न हुआ है। यह भ्रांति है। प्रतिवाद का जन्म उसी दिन हो गया था, जिस दिन वाद जन्मा था। बच्चा जिस दिन जन्म लेता है, जिस क्षण जन्म लेता है, उसी क्षण से मरना भी प्रारंभ कर देता है। उसकी मृत्यु प्रारंभ हो जाती है। हम कह देते हैं कि अमुक व्यक्ति साठ वर्ष का होकर मरा। अमुक व्यक्ति अस्सी वर्ष का होकर मरा। यह गलत है। जो व्यक्ति साठ वर्ष तक जी लेता है, जो व्यक्ति अस्सी वर्ष तक जी लेता है, वह कभी नहीं मर सकता। वह मृत्यु से अतीत हो जाता है। जो दो दिन भी बिना मरे कोरा जी लेता है, वह फिर कभी नहीं मरता। वह अमर हो जाता है, किंतु ऐसा होता नहीं। केवल जीने की व्यवस्था नहीं है इस जगत में। प्राणी जिस दिन जन्मा, जिस क्षण में जन्मा, उसी दिन, उसी क्षण मरना प्रारंभ कर देता है। वह प्रतिक्षण मरता है, तभी तो एक दिन हम कह देते हैं, वह मर गया। घड़ा पड़ा है। हमने एक कंकड़ मारा। घड़ा फूट गया। हमने उस पर डंडे का प्रहार किया। वह चूर-चूर हो गया। हम कहते

हैं, अरे, अभी घड़ा अखंड था, अब फूट गया, टूट गया। क्या घड़ा अभी फूटा है? नहीं। घड़ा क्षण-क्षण में फूट रहा था, तभी अब फूटा। जिस क्षण में वह अस्तित्व में आया, बना, उसी क्षण में वह यदि नहीं फूटता तो वह कंकड़ के या लकड़ी के लगने से कभी नहीं फूटता। घड़ा शाश्वत ही बना रहता। कभी नहीं फूटता। विश्व के प्रत्येक वाद के साथ प्रतिवाद, जन्म के साथ मौत, अस्तित्व के साथ नास्तित्व जुड़ा होता है।

वाद के बाद प्रतिवाद आता है और फिर आता है समवाद। समवादी का अर्थ है पुष्टि देने वाला। वह पुरानी को बदलने वाला और नई को बनाने वाला होता है। यह तथ्य है कि हमारे भीतर जो क्रिया हो रही है, उसकी प्रतिक्रिया भी हो रही है। आदमी अच्छा भोजन करता है। वह मानता है कि आज अमृत खाया है, परंतु क्या उस अमृत के साथ विष की मात्रा नहीं है? अवश्य है। कोई दूध को अमृत मानता है, कोई घी को और साग-सब्जी को। इस अमृत के साथ विष की मात्रा भी है। दूध में भी विष है, घी में भी विष है, साग-सब्जी में भी विष है। ऐसा कोई भी खाद्य नहीं है, जो केवल अमृत ही हो, विष न हो या कोरा विष हो, अमृत न हो। ये दोनों साथ-साथ चलते हैं।

जहां जीने की क्रिया है, वहां मरने की प्रतिक्रिया भी है। जन्म एक क्रिया है तो मृत्यु उसकी प्रतिक्रिया है। स्वास्थ्य क्रिया है तो रोग प्रतिक्रिया है। दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। इन्हें मात्राभेद से हम अलग-अलग कर लेते हैं। धनी व्यक्ति के धन की मात्रा को देखकर कह देते हैं कि इसने इतने पाप किए, फिर भी इतना आगे बढ़ गया, किंतु साथ ही साथ जब हम उसकी आंतरिकता को देखते हैं, शांति और सुख को देखते हैं तो कह देते हैं यह तो घाटे में रहा। धन हुआ तो क्या? यह न शांत है, न सुखी है और न प्रसन्न है। यह सारा गणित एक साथ चलता है। परलोक की बात जाने दीजिए। क्रिया की प्रतिक्रिया वर्तमान में ही हो जाती है। प्रतिक्रिया करने वाला और उसका परिणाम देने वाला, सारा लेखा-जोखा करने वाला कंप्यूटर हमारे भीतर है। इसके लिए किसी बाह्य सत्ता को आमंत्रित करने की आवश्यकता नहीं है।

21. अप्रमाद

एक आदमी था। दिन में जो करना होता, वह एक कागज पर लिख लेता। एक दिन उसने अपना आवश्यक कार्य कागज पर लिख लिया। कार्य करने का समय आया। वह इधर-उधर ढूंढने लगा। कागज नहीं मिल रहा था। उसका मित्र वहां आ पहुंचा। उसने पूछा–'क्या कर रहे हो?' उसने कहा–'मुझे याद नहीं आ रहा है, मुझे अब क्या करना है?' मित्र ने कहा–'तुमने कागज पर लिख लिया था। कागज उठाकर देख लो।' उसने कहा–'कागज मैंने कहां रख दिया, मैं भूल गया। याद नहीं रहा। उसे ढूंढ़ रहा हूं।'

कार्य की स्मृति के लिए कागज चाहिए। कागज को याद रखने के लिए कोई तीसरा माध्यम और चाहिए। यह भुलक्कड़ स्वभाव ऐसा होता है कि केवल कागज से काम नहीं चलता। कागज को संभालने वाला भी चाहिए। यह बड़ी समस्या है। ऐसा क्यों होता है? यह होता है प्रमाद के कारण। प्रमाद का अर्थ है विस्मृति। हम भूल जाते हैं, विस्मृति कर जाते हैं। हमें न 'क्या' का बोध रहता है न 'कैसे' का बोध रहता है और न 'क्यों' का बोध रहता है। हम सब भूल जाते हैं। जीवन में जरूरी है अप्रमाद, किंतु बिना भूले भी काम नहीं चलता। आदमी को भूलना होता है। यह बहुत आवश्यक है। मनुष्य नशा करता है, शराब पीता है, भांग पीता है। आखिर क्यों? शराब कोई स्वादिष्ट पदार्थ नहीं है। भांग भी कोई स्वादिष्ट पदार्थ नहीं है, फिर भी लोग चाव से पीते हैं। इसका कारण क्या है? शराब पीने वाले भी कहते हैं कि शराब पीते समय मुंह सिकोड़ना पड़ता है। उसकी गंध अच्छी नहीं लगती। वह स्वादिष्ट नहीं होती, फिर भी हमें पीनी पड़ती है। हम पीते हैं, इसका भी हेतु है कि आदमी अकेले में रहना चाहता है। वह तनाव को, दुःख को भुला देना चाहता है।

संपर्क और दुःख

हमारे सामने दो कोण हैं। एक कोण है संपर्क का और एक है अकेलेपन

का। व्यक्ति का संपर्क होता है परिवार के साथ, पड़ोसी के साथ, समान व्यवसायियों के साथ, सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक संगठनों के साथ, उनके सदस्यों के साथ। गांव के साथ संपर्क होता है, राष्ट्र के साथ संपर्क होता है। अनेक प्रयोजनों से, अनेक दृष्टिकोणों से, अनेक वर्गों और व्यक्तियों के साथ संपर्क होता है। न केवल प्राणियों के साथ संपर्क होता है, शरीर के साथ संपर्क होता है, कपड़ों के साथ, मकान के साथ और अन्यान्य वस्तुओं के साथ भी संपर्क होता है। जिस प्रकार व्यक्तियों के साथ संपर्क होता है, उसी प्रकार वस्तुओं के साथ भी संपर्क होता है। विचारों के साथ भी संपर्क होता है। ये सारे संपर्क हैं। एक ओर तो है अकेला व्यक्ति और दूसरी ओर हैं इतने संपर्क। ये संपर्क चिंता उत्पन्न करते हैं। जितना संपर्क, उतनी ही चिंता। संपर्क से चिंता बढ़ती है। चिंता बढ़ती है तब लगता है कि दुःख बढ़ रहा है। दुःख क्या है? मैं समझता हूं कि संपर्क ही दुःख है। दुःख का अर्थ है किसी न किसी वस्तु से संपर्क। संपर्क हुआ कि दुःख हुआ। संपर्क नहीं है तो दुःख भी नहीं है। संपर्क के बिना दुःख की कल्पना भी नहीं की जा सकती। संपर्क का होना ही दुःख का होना है।

एक आदमी शांत बैठा है। उसका मन शांत है, विचार शांत है। अचानक उसे एक आदमी दीख पड़ा, जो उसके अनुकूल नहीं है, प्रतिकूल है, अप्रिय है, अतीत में धोखा दे चुका है या अपमानित कर चुका है। जैसे ही उसे देखा, मन अशांत हो गया। शांति भंग हो गई। मन में क्रोध उमड़ आया। वह दुःखी हो गया, अशांत हो गया। इस दुःख का हेतु क्या है? इसका हेतु है संपर्क। दुःख का अर्थ है संपर्क और संपर्क का अर्थ है दुःख, चिंता। आदमी लंबे समय तक चिंतित नहीं रह सकता। जब वह चिंतित होता है तो मन में अकुलाहट होती है, व्याकुलता होती है, घबराहट होती है। यह व्याकुलता, उसे अकेला होने के लिए प्रेरित करती है, बाधित करती है। वह कहती है तुम अकेले हो जाओ, कोई चिंता नहीं होगी, कोई व्याकुलता नहीं होगी।

मादक वस्तुओं का प्रयोग चिंतामुक्ति के लिए चला है। लोग चिंता से मुक्त होने के लिए नशा करते हैं, संपर्कों को तोड़ने के लिए और दुःखों को मिटाने के लिए नशा करते हैं, मादक वस्तुओं का प्रयोग करते हैं। जैसे ही व्यक्ति मदिरा पीता है, वह अकेला हो जाता है। सारे संपर्क टूट जाते हैं। बाहर का कोई भान नहीं रहता। वह अनुभव करने लगता है कि मैं अकेला हो गया और अकेला होना ही बहुत बड़ा सुख है। शराब पीने से कोई सुख नहीं मिलता।

अकेलेपन के सुख का वह निमित्त होता है। कहा जाता है कि दुनिया में सबसे बड़ा सुख है अकेलापन। व्यक्ति अकेला हो नहीं पाता, क्योंकि उसने अपने साथ इतने संपर्क जोड़ लिए और संपर्कों के द्वारा इतने चिंता-सूत्र जोड़ लिए कि वह उनसे अलग नहीं हो सकता, उसमें यह क्षमता नहीं है कि वह उन्हें एक झटके में तोड़ डाले। वह ऐसा कर नहीं सकता।

वह ध्यान का प्रयोग नहीं जानता। उसे ध्यान का अभ्यास नहीं है। वह ध्यान के द्वारा अपने को अकेला कर नहीं पाता, संपर्कों को तोड़ नहीं पाता, तब वह मदिरा का, मादक वस्तुओं का सहारा लेता है और नशे में अपने-आपको अकेला अनुभव करने लगता है। ध्यान और मादक वस्तु की क्रिया समान है। मदिरा के सेवन से भी अकेलेपन की स्थिति में पहुंचा जा सकता है और ध्यान के अभ्यास से भी अकेलेपन की स्थिति प्राप्त हो सकती है। अकेले हुए बिना कोई सुखी नहीं हो सकता। आदमी मनोरंजन में रस लेता है? क्यों? आदमी सिनेमा में जाता है, सर्कस देखता है, नाटक देखता है, घूमने जाता है, पिकनिक करता है, क्यों? क्योंकि वह इन सबमें रस लेता है? इसका भी वही हेतु है। वह सोचता है कि सारे दिन ऑफिस में काम करता रहा, दुकान पर बैठा रहा, अब चलो, कुछ राहत की सांस लें। चिंताओं से बोर हो गया, अब चलो, कुछ देर निश्चिंत हो जाएं। वह इन प्रवृत्तियों से सारे दिन के श्रम को, सारी चिंताओं को भुला देना चाहता है, विस्मृत कर देना चाहता है। ये सारी प्रवृत्तियां कुछ समय के लिए व्यक्ति को संपर्कों से मुक्त करती हैं, चिंताओं से मुक्त करती हैं।

आत्मविस्मृति

मानव समाज की सबसे बड़ी समस्या है संपर्क और संपर्कजनित चिंताएं। बाहर से इतना संपर्क जुड़ता है तो यह निश्चित है कि कहीं न कहीं गढ़ा अवश्य हुआ है। वह गढ़ा है स्व की विस्मृति, अपने आपको भूला देना। बाहर से संपर्क, बाहर की स्मृति का अर्थ ही है स्व-विस्मृति। जब आप दूसरों को याद रखने में लगे रहेंगे तब अपने आपको भुलाना ही पड़ेगा। अपने आपको भुलाए बिना दूसरों को याद नहीं रखा जा सकता। दूसरों को भुलाए बिना अपने-आपको याद नहीं रखा जा सकता। स्व की विस्मृति हुए बिना पर की स्मृति नहीं हो सकती, पर की विस्मृति हुए बिना स्व की स्मृति नहीं हो सकती। या तो अपने-आपको भूलना पड़ेगा या पर को भुलाना पड़ेगा। या तो बाह्य संपर्कों को कम करना होगा, या अपने स्व के संपर्क को तोड़ना होगा, अपने संपर्क-सूत्र को काटना होगा।

इसका अर्थ होगा कि अपने आपसे जो एकता की थी, अकेलेपन का अपने आप में जो अनुभव था, उसे तोड़ फेंकना और बाहर से संपर्क जोड़ना। इसका नाम है आत्मविस्मृति। बाह्य संपर्कों के कारण ही आत्मविस्मृति होती है। जो आदमी दूसरों के प्रति जागरूक होता है, सावधान होता है, वह अपने प्रति सुप्त और असावधान हो जाता है। यह है आत्मविस्मृति।

सुकरात यूनान का बहुत बड़ा दार्शनिक था। वह जा रहा था। सामने एक व्यक्ति मिला, जो एथेंस का प्रसिद्ध शराबी था। सुकरात ने देखा, व्यक्ति शराब के नशे में धुत है। वह लड़खड़ाता-सा चल रहा है। सुकरात ने उससे कहा–'संभलकर चलो। गढ़े में गिर जाओगे।' शराबी ने यह सुना। वह नशे में धुत था। उसने कहा–'ओ महात्मा! मुझे क्या सीख दे रहे हो? लड़खड़ाते चलता हूं तो क्या? गढ़े में गिर पड़ूंगा तो क्या? कपड़े खराब हो जाएंगे तो धो डालूंगा। मैं मद्यप हूं, शराबी हूं। सारा शहर मुझसे परिचित है। कुछ भी हो, मुझे उसकी चिंता नहीं है, पर तुम महात्मा हो। तुम संभलकर चलो। तुम लड़खड़ाकर गढ़े में गिर पड़े तो न इधर के रहोगे और न उधर के। जरा संभलकर चलो, कहीं पैर फिसल न जाए। मुझे क्या सीख दे रहे हो?'

यह एक दार्शनिक और एक शराबी की बातचीत है। शराबी ने एक बहुत बड़े रहस्य का उद्घाटन कर दिया, मर्म को अभिव्यक्ति दे दी। उसके कहने का तात्पर्य है कि जो शराबी है, जो अपने आपको भूल चुका है, जो अकेलेपन को पाने के लिए नशा करता है, अगर वह कहीं लड़खड़ा जाए, उसका पैर फिसल भी जाए तो कोई चिंता की बात नहीं है, दुःख की बात नहीं है, किंतु जो साधक है, अपने आपको पाने के लिए साधना कर रहा है, अकेलेपन की साधना में रत है, उसे स्व की चिंता करनी चाहिए, पर की चिंता नहीं करनी चाहिए। इसीलिए शराबी ने सुकरात से कहा–'तुम अपनी चिंता करो, मेरी चिंता छोड़ दो। तुम कहीं फिसल गए तो तुम्हारी पवित्रता नष्ट हो जाएगी, फिर वह कभी नहीं मिल सकेगी। तुम स्वच्छ नहीं हो सकोगे। तुम आत्मविस्मृति के गर्त में गिर जाओगे।'

आत्मस्मृति और अप्रमाद

आत्मस्मृति की जो बात है, जागरूकता और सावधानी की जो बात है, वह वास्तव में साधना का महान सूत्र है। यही है अप्रमाद। मैं अकेला हूं-इस विचारसूत्र को आत्मसात् कर लेना बहुत बड़ी साधना है। यह सूत्र जब आत्मगत हो जाता है तब व्यक्ति सारे संकटों, कठिनाइयों का पार पा जाता

है, उलझनों और समस्याओं से परे चला जाता है। वे समस्याएं वैयक्तिक हो सकती हैं, सामाजिक हो सकती हैं, जागतिक हो सकती हैं। जो व्यक्ति अपने-आपमें अकेलेपन का अनुभव करता है, वह इन सारी समस्याओं का पार पा लेता है। जिसे अकेलेपन का अनुभव नहीं है, वह समस्याओं का पार नहीं पा सकता। इसलिए उसे मदिरा चाहिए, भांग चाहिए, बीड़ी-सिगरेट चाहिए और सैकड़ों प्रकार की अन्यान्य मादक वस्तुएं चाहिए। यह सब विस्मृति के माध्यम बनते हैं। जिसे अपने आपमें अकेले होने का रहस्य प्राप्त नहीं है, उपाय प्राप्त नहीं है, वह इन बाह्य साधनों को अपनाता है। ये बाह्य साधन उपकार के बदले अपकार ही करते हैं। उसे हानि पहुंचाते हैं।

अप्रमाद एक सशक्त साधन है आत्मस्मृति का। इसका अर्थ है अपने आपमें अकेलेपन का अनुभव करने का अभ्यास। यह साधना का परम सूत्र तो है ही, किंतु व्यवहार का भी बहुत बड़ा सूत्र है। इसके बिना व्यावहारिक जीवन भी सुखी और आनंदमय नहीं हो सकता। आप कभी भी चिंताओं से मुक्ति नहीं पा सकते, जब तक कि आप अपने आप में अकेलेपन का अनुभव नहीं कर पाते। एक परिवार है। उसमें पिता समझता है कि पुत्र पर मेरा अधिकार है, पति समझता है कि पत्नी पर मेरा अधिकार है। संपर्क होने के कारण पिता अपने दायित्व का अनुभव करता है और मानता है कि पुत्र पर उसका अधिकार है। संपर्क के कारण पति अपने दायित्व का अनुभव करता है और मानता है कि पत्नी पर उसका अधिकार है। जहां संपर्क है, दायित्व का बोध है, वहां चिंता निश्चित होगी। वे चिंता करते हैं। अब होता क्या है कि पिता बैठा है। उसे प्यास लगी है। लड़का पानी का गिलास लेकर नहीं आया। कल जिस समय पानी पिलाया था, उस समय पानी नहीं लाया तो पिता के मन में भावना जागती है कि लड़का मेरा ध्यान नहीं रखता। मुझे पानी नहीं पिलाता। यह चिंता मन में उत्पन्न होती है। क्यों होती है? क्या लड़के के लिए यह जरूरी है कि वह पानी का गिलास लेकर आए? जरूरी हो सकता है, कर्तव्य भी हो सकता है, पर मान लो वह भूल गया, समय पर उसे विस्मृति हो गई तो क्या पिता के लिए यह जरूरी है कि वह इस बात का भार अपने सिर पर लेकर घूमता रहे? वह इतना दुःखी हो जाए? इतना चिंतातुर हो जाए? जरूरी नहीं है, पर वह चिंतातुर इसलिए होता है कि उसे अकेलेपन का अनुभव नहीं है।

हम कई स्तरों में जीते हैं। एक स्तर है कि हम बाहर में यह अनुभव करते

हैं कि हम इतने सदस्य हैं परिवार में, चालीस हैं, पचास हैं। हम बाहर से भले ही मानें, किंतु हम भीतर से भी यह मानने लग जाते हैं कि हम पचास हैं, मैं अकेला नहीं हूं, तब ये सारी समस्याएं उत्पन्न होती हैं।

यथार्थ को समझें

हमारी अनुभूति दो स्तरों में होनी चाहिए। एक तो है व्यवहार का स्तर, जिसमें यह अनुभव होता है कि मैं अकेला नहीं हूं। मेरे पचास और हैं। एक है यथार्थ का स्तर, जिसमें यह अनुभव होता है कि मैं अकेला हूं। मेरा कोई नहीं है। यदि ये दोनों अनुभूतियां साथ-साथ चलती हैं तो कोई समस्या नहीं आती, कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। जब हमारी अनुभूति एकांगी होती है, तब समस्या उभरती है। जब व्यक्ति व्यवहार और यथार्थ को मिला देता है तब समस्या उत्पन्न होती है। व्यक्ति जब यह माने कि वह व्यवहार में पचास है और यथार्थ में अकेला तो कोई समस्या नहीं आती। जब यह मान ले कि व्यवहार में वह पचास है और इसीलिए यथार्थ में भी पचास है, अकेला नहीं है, तब समस्या उभरती है। आज पिता बूढ़ा हो गया। कमाने में असमर्थ है। उससे परिवार का जो स्वार्थ सधता था, वह बंद हो गया। ऐसी स्थिति में परिवार वालों की उसके प्रति उपेक्षा होती है। वे उसकी बात पर ध्यान नहीं देते। तब वह सोचता है कि अरे, यह क्या? बीस वर्ष पहले मेरा सारा परिवार मेरे इशारे पर चलता था, मेरी भृकुटी तन जाती तो सारे कांप उठते थे, मेरी एक आवाज पर दस व्यक्ति आकर सामने हाथ जोड़े खड़े रहते थे और आज मेरी बात कोई नहीं सुनता। आदर तो दूर, छोटे-बड़े सब मेरा तिरस्कार करते हैं, उपेक्षा करते हैं। यह सोचकर वह दुःखी हो जाता है, चिंतातुर हो जाता है। एक ओर बीस वर्ष पूर्व की स्मृति काम कर रही है और एक ओर वर्तमान की स्थिति। जब वह पूर्व की स्थिति को वर्तमान से जोड़ता है, तब वह दुःख से भर जाता है। उसे लगता है यह भी कोई जीना है? क्या हो गया? क्या दुनिया बदल गई या जमाना बदल गया?

यह कल्पना मात्र नहीं है। बहुत सारे लोगों की यही स्थिति है, अनुभव है। व्यक्ति दुःखी होता है अपने ही प्रमाद के कारण। यदि यथार्थ में वह प्रमादी नहीं होता तो वर्तमान की स्थिति में वह दुःखी नहीं होता। उसका प्रमाद यही रहा कि जो व्यवहार की सचाई थी, उसे उसने यथार्थ की सचाई मान लिया। यही दुःख का हेतु बन गया। व्यवहार की सचाई यह है कि जहां स्वार्थ का संबंध होता है, वहां बेटे-पोते तो क्या, दूर का व्यक्ति भी जी-हुजूरी करने लगता है। बात

मानता है। आदर देता है। आंख के इशारे पर कदम उठाता है। जैसे ही स्वार्थ का धागा टूटता है, सारी स्थिति में परिवर्तन आ जाता है। सबकुछ बदल जाता है। यदि हमारी यह स्पष्ट अनुभूति होती है, अप्रमत्तता होती है जीवन के प्रति, जागरूकता होती है, यह स्पष्ट अनुभव करने लग जाते हैं कि एक भूमिका वह है, जहां मैं दूसरों के लिए हूं, वहां का व्यवहार दूसरे प्रकार का होगा और एक भूमिका वह है, जहां मैं दूसरों के लिए नहीं हूं, वहां का व्यवहार दूसरे प्रकार का होगा। दोनों व्यवहारों में रात-दिन का अंतर होगा। आकाश-पाताल का अंतर होगा।

यह मेरा है, यह मानने का मतलब ही है आत्मा की विस्मृति। तुम कैसे मान सकते हो कि यह मेरा है। यह जो मेरेपन की अनुभूति है, सबसे बड़ा प्रमाद है, आत्मविस्मृति है।' अन्यथा अनुभूति यह होनी चाहिए कि मैं अकेला हूं, मैं अपना हूं, मेरा कोई नहीं है। यह यथार्थ है, सचाई है। यह मेरा परिवार है, यह मेरी पत्नी है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरा भाई है, यह मेरा मित्र है, यह है हमारा व्यवहार का धरातल। व्यवहार के धरातल पर हमारा व्यवहार का बोध रहे, व्यवहार की अनुभूति रहे, संपर्क की अनुभूति रहे। अंतिम सत्य का जहां प्रश्न है, सचाई का जहां प्रश्न है, वहां मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं है। मैं किसी का नहीं हूं, यह अनुभूति बनी रहे। यदि यह अनुभूति तीव्र रूप में बनी रहती है तो व्यक्ति चाहे साठ वर्ष का हो जाए, सत्तर वर्ष का हो जाए, परिवारवालों से उपेक्षित हो जाए, फिर भी वह दुःखी नहीं होगा। उसे चिंता नहीं होगी । वह सोचेगा कि 'जब मैं दूसरों के लिए कुछ था, तब ये परिवार वाले मुझे पूछते थे। मित्र मेरी सलाह लेते थे। आज मैं दूसरों के लिए नहीं हूं, अब ये मुझे क्यों पूछेंगे? उन्हें पूछना भी नहीं चाहिए। यह चिंतन उसे दुःख से उबार लेगा।

अकेलापन

तेरापंथ संघ में एक संत हुए हैं। उनका नाम था मगनलालजी स्वामी। वे मंत्री मुनि कहलाते थे। उनके जीवन को जब पढ़ें तो लगेगा कि ऐसे बुद्धिमान, विवेकी, तत्त्वज्ञ और अध्यात्मरत व्यक्ति विरले होते हैं। वे सत्तर-अस्सी वर्ष के हो गए। किसी मुनि ने पानी पिला दिया तो ठीक है, नहीं पिलाया तो भी ठीक है। मैंने उन्हें कभी आक्रोश करते नहीं देखा। जब मुनि अपनी भूल महसूस कर उन्हें कहते–'क्षमा करना, भूल हो गई। दूसरे कार्य में व्यस्त था, इसलिए आपको पानी पिलाना भूल ही गया।' मंत्री मुनि कहते–'भूल गए तो कौन-सी बड़ी भूल हो गई? प्यास लगती और कोई सामने होता तो पानी मांग लेता,

अन्यथा उसे सहज कष्ट समझ सह लेता। कोई खास बात नहीं है।' यह था उनका कथन। इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि वे अपने आपमें लीन रहने वाले व्यक्ति थे। वे यह मानकर चलते थे कि कोई किसी का कार्य करता है तो वह उसकी अपनी विशेषता है। यह कोई ऋण नहीं है कि उसे चुकाना ही पड़े। यह अनुभूति उसी व्यक्ति को हो सकती है, जो वास्तव में यह अनुभव करता है कि मैं अकेला हूं।'

जिसे अकेलेपन का यह सूत्र प्राप्त हो जाता है, जीवन की यह कला जिसे उपलब्ध हो जाती है, वह सचमुच सुखी जीवन जीता है। जिसे यह सूत्र प्राप्त नहीं है, वह दूसरों में हजार दोष देखता है। वह सदा यह कहता रहता है, उसने यह नहीं किया, उसने ऐसा कर दिया, वैसा कर दिया। वह शिकायतों से भर जाता है। शिकायत का भाव तब पैदा होता है जब व्यक्ति आत्मविस्मृति कर देता है। आत्मविस्मृति अर्थात् अपने आपको भूल जाना।

प्रमाद के हेतु

अप्रमाद का सूत्र है आत्मस्मृति, अपने-आपको याद रखना। इस धारणा को पुष्ट कर लेना कि मैं अकेला हूं। एकत्व की यह भावना जब पुष्ट होती है तब व्यक्ति आत्मस्मृति के क्षेत्र में चला जाता है, अप्रमत्त रहना सीख लेता है। यहां एक बात और समझनी है। आत्मा की स्मृति नहीं होती। वह तो हमारा स्वभाव है। स्वभाव की क्या स्मृति? स्मृति उसकी होती है, जो विस्मृत होता है। स्वभाव विस्मृत नहीं होता। उसकी स्मृति नहीं की जा सकती। यह सच है, किंतु हम एक व्यवधान के शिकार बन गए हैं। उस व्यवधान के कारण हम यह भूल गए कि हम कौन हैं? क्या हैं? हमने अपनेपन का आरोप बाहरी वस्तुओं पर कर दिया, परद्रव्यों पर कर दिया। अपने-आप पर ध्यान ही नहीं दिया। यह जो बाहरी संपर्क है, प्रमाद का बहुत बड़ा कारण है, हेतु है। बाहरी संपर्क-सूत्र को तोड़ देना अप्रमाद का हेतु है। प्रमाद पैदा होता है हमारे अज्ञान के कारण, हमारे मिथ्या दृष्टिकोण के कारण, हमारे मतिभ्रम और राग-द्वेष के कारण, हमारी मानसिक, वाचिक और कायिक चंचलता के कारण। नींद भी प्रमाद का हेतु बनती है। नींद में आदमी अपने-आपको भूल जाता है। नींद की स्थिति और नशे की स्थिति में बहुत बड़ा अंतर नहीं है। दोनों में आत्मविस्मृति होती है। नींद भुलाने की स्थिति है। यह प्रमाद है, प्रमाद का हेतु है, साधना के लिए जरूरी है कि साधक नींद पर विजय प्राप्त करे। निद्रा-विजय साधना का

आवश्यक अंग है। इन्द्रियों की लोलुपता भी प्रमाद पैदा करती है, इसीलिए इन्द्रिय-संयम साधना का अंग है। इन्द्रियों का संयम अप्रमत्तता की ओर ले जाता है। जब तक अप्रमाद की साधना नहीं होती, तब तक अध्यात्म की ओर गति नहीं होती।

प्रमाद और भय

अप्रमाद साधना का सशक्त सूत्र है। प्रमाद भय है, अप्रमाद अभय है। भगवान महावीर ने कहा–**सव्वतो पमत्तस्स भयं**-प्रमादी को चारों ओर से भय घेर लेता है। उसका एक क्षण भी अभय की दशा में नहीं बीतता। उसका क्षण-क्षण भय में ही बीतता है। वह किसी पर विश्वास नहीं करता। उसे सबमें अविश्वास की गंध आती है। वह अपने धन की चाबी किसी को भी नहीं सौंपता। उसके मन में भय रहता है कि कहीं वह धन लेकर भाग न जाए? आप बेटे को भी नहीं सौंपेंगे, क्योंकि आपको भय है कि धन की चाबी मिल जाने पर बेटा फिर आपको पूछेगा नहीं। उसे आपकी अपेक्षा नहीं रहेगी। आप अपनी पत्नी को भी नहीं सौंपेंगे, क्योंकि आप सोचते हैं कि मां और बेटा दोनों मिलकर मेरी फजीहत करेंगे। मेरी टिकट कटा देंगे। आप अंतिम समय तक भी चाबी दूसरे को देना नहीं चाहेंगे, क्योंकि आपमें भय है। भय प्रमाद है।

कुछ लोग इसे जागरूकता भी कह देते हैं, परंतु गहराई से सोचें तो इस जागरूकता के पीछे भी भय काम करता है। यदि यह भय न हो कि ये बाद में मेरे साथ क्या करेंगे तो यह जागृति भी नहीं आती। कभी-कभी हम ऐसे कमरों में ठहरते हैं, जहां की अलमारियों में लाखों का धन पड़ा रहता है। न पहरेदार रहता है, न चौकीदार, केवल हम रहते हैं। मकान का मालिक सुख की नींद सोता है। वह जागरण नहीं करता, क्योंकि उसके मन में भय नहीं है कि मुनि उस धन को निकाल लेंगे। उसके मन में डर नहीं है। वह जागता नहीं, सुख से सोता है। जागना क्यों पड़ता है? जागना तब पड़ता है जब भय हो। जहां भय नहीं है, वहां निश्चिंतता है।

एक ओर आश्चर्य है कि आदमी यह मानता चला जा रहा है कि हम पचास हैं, सौ हैं। वह पचास आदमियों को, सौ आदमियों को एक मानता चला जा रहा है। दूसरी ओर उसके मन में अनेक कठघरे बने हुए हैं कि इस व्यक्ति को इतना बताना, इसको इतना और उसको इतना। कोई भी परिवार का मुखिया अपने किसी भी सदस्य को पूरा ब्योरा नहीं बताता। किसी को

कितना और किसी को कितना बताता है। पूरा नहीं बताता। उसके मन में अलग-अलग कोष्ठक हैं, अलग-अलग भय बने हुए हैं। यह सारा भय के कारण होता है। भय होता है तो जागना भी पड़ता है। भय नहीं होता है तो फिर जागने की जरूरत नहीं होती। यह भय उत्पन्न होता है प्रमाद के कारण अर्थात् बाहरी संपर्क के कारण। बाहरी संपर्कों को हमने अपना मान लिया और इसी कारण भय आ गया कि कहीं संपर्क टूट न जाए। इस भय के कारण नाना प्रकार के प्रमाद पैदा होते हैं।

अप्रमाद का सूत्र है अकेलेपन की अनुभूति। सारे संपर्कों को तोड़कर व्यक्ति व्यवहार में जी नहीं सकता। व्यवहार को आदमी तोड़ भी नहीं सकता। इन बातों से व्यवहार टूटेगा नहीं। इसमें और मधुरता आएगी। यदि वास्तव में आप अपने-आपमें अकेलेपन का अनुभव करेंगे तो अनेक कठिनाइयों से बच जाएंगे। आप न चिंता के शिकार होंगे और न दुःख के। दूसरों के व्यवहारों को देखकर आप उलझेंगे नहीं, दुःखी नहीं होंगे। आपका मन शांत रहेगा और इस स्थिति में आप द्वारा किए गए व्यवहार दूसरों को मधुर लगेंगे। आपके मस्तिष्क में निरंतर एक सूत्र कार्यरत रहेगा कि मैं अकेला हूं। जब कोई भी समस्या सामने आएगी, आप इस सूत्र से समाहित हो जाएंगे। समस्या पीड़ित नहीं करेगी। जो समस्या सोलह आना लगती है, वह एक आना मात्र रह जाएगी। उसे भी आप व्यवहार के धरातल पर सुलझा लेंगे। यदि अकेलेपन का आलंबन सूत्र आपके पास नहीं है तो छोटी समस्या भी बड़ी बन जाएगी। वह सुलझेगी नहीं। अप्रमाद की साधना व्यक्तिगत जीवन और व्यावहारिक जीवन दोनों में लाभप्रद है। दोनों की समस्याओं का समाधान देने में यह सक्षम है। यह साधना समस्याओं को सुलझाती है और एक-एक चरण कर आगे बढ़ने में हमारी सहायक होती है।

संपर्क से हम जुड़ते हैं और पलायन कर जाते हैं। भाग जाते हैं। जुड़ना और भाग जाना दोनों बातें ठीक हैं। जुड़ जाना भी अच्छा है और भाग जाना भी अच्छा है। समुदाय में रहना भी अच्छा है और अकेले में रहना भी अच्छा है। एक बात कोई अच्छी नहीं होती, क्योंकि हम व्यवहार का जीवन जी रहे हैं। जहां शरीर है, जीवन है, वहां हमारी आवश्यकताएं भी हैं। हमें रोटी भी खानी है, कपड़ा भी पहनना है, मकान भी बनाना है। मकान में रहना भी है। ये सब जरूरी हैं। ऐसी स्थिति में हम संपर्कों को तोड़ नहीं सकते। हमें संपर्कों का सहारा लेना होता है, किंतु जहां हमें वास्तविकता के जगत में जीना है, सत्य

के जगत में जीना है, यथार्थ के जगत में जीना है, वहां हमें अकेला ही जीना होगा, अकेला ही रहना होगा, अन्यथा हमें सारी कठिनाइयों का भार ढोना होगा। कोई विकल्प नहीं है।

आचार्य भिक्षु ने एक बात बहुत सुंदर कही है। उन्होंने कहा–'गण में रहते हुए भी तुम अकेले रहो।' यह बात विरोधी-सी लगती है। शासन में रहना, समूह में रहना और अकेले रहना यह कैसे संभव है? या समूह में रहना होगा या अकेले रहना होगा। दोनों एक साथ नहीं हो सकते। परस्पर अंतर्विरोध है। सैकड़ों साधु-साध्वियों के बीच रहो और अकेले रहो, लगता है विरोध है, लेकिन विरोध नहीं है। यह सूत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसका तात्पर्य है कि तुम संघ में रहो। अपनी सेवा दूसरे साधुओं को दो और आवश्यकता पड़ने पर उनसे सेवा लो। तुम उनका सहयोग करो और उनका सहयोग लो। तुम लोगों को समझाओ, उपदेश दो और उनसे जो लेना है, वह सब लो, किंतु किसी के साथ गुटबंदी मत करो, दलबंदी मत करो।

गण में रहूं निर्दाव अकेलो,
किण स्यूं ही नहीं बांधूं जिल्लो।

मैं गण में रहता हुआ भी अकेला रहूं, किसी के साथ गठबंधन नहीं करूं, दलबंदी नहीं करूं। कहने का तात्पर्य है कि सहयोग के स्तर पर तो तुम संघ में रहो, पर साधना के स्तर पर अकेले रहो। अगर कोरे समूह में ही रह गए, संगठन में ही रह गए तो साधना समाप्त हो जाएगी। केवल संगठन का भार, संगठन की चिंता ही तुम्हारे सिर पर सवार रही तो साधना समाप्त हो जाएगी। तुम्हें साधना भी करनी है और अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए संगठन को भी पनपाना है। दोनों बातें मिलकर पूरी बात बनती है। कोरा अकेला रहना भी पूरी बात नहीं है और कोरे संगठन में रहना भी पूरी बात नहीं है। कोरे परिवार में रहना भी पूरी बात नहीं है और कोरा अकेला रहना भी पूरी बात नहीं है। जहां सुख-सुविधा, सहयोग लेने-देने का प्रश्न है, वहां आदमी परिवार में रहता है, संपर्क जोड़ता है, अनेक के बीच रहता है, जीता है। जहां यथार्थ का अनुभव करना है और संपर्क से उत्पन्न होने वाली बहुत सारी समस्याओं से जूझना है, वहां अकेला रहना होगा, अकेलेपन का बोध करना होगा। दोनों बातों के मिलने पर ही जीवन परिपूर्ण और अखंडित होगा, तब हम न इधर उलझेंगे और न उधर उलझेंगे। हम दोनों तटों को पार कर जाएंगे।

22. ज्ञान और संवेदन

संवेदन और अहं दोनों साथ-साथ चलते हैं। राजा ने सुना कि नगर में एक संन्यासी आया है। वह शक्तिशाली है। बड़ा विचित्र है। हजारों लोग आ-जा रहे हैं। उसका घर-घर यशोगान हो रहा है। राजा ने अपने आदमी संन्यासी के पास भेजे और दर्शन देने की प्रार्थना की। संन्यासी ने कहा–'मैं महलों में नहीं आ सकता, यदि राजा चाहे तो यहीं आकर दर्शन कर ले।' भूख राजा को थी, संन्यासी को नहीं। भूखे को भोजन के पास जाना पड़ता है। प्यास राजा को थी, संन्यासी को नहीं। प्यासे को पानी के पास जाना पड़ता है। राजा स्वयं संन्यासी के पास गया और संन्यासी को महल में ले आया। जो महल में रहना नहीं चाहता था, वह भी महलों में आ गया। संन्यासी महलों में एक दिन रहा, दो दिन रहा। महीना बीत गया। संन्यासी जाने का नाम ही नहीं ले रहा था। राजा ने सोचा कि यह क्या? मैंने क्या आफत मोल ले ली? मैंने तो समझा था संन्यासी है, जंगल में रहने वाला है, एक-दो दिन रहकर चला जाएगा, पर यह तो यहां से जाने की बात ही नहीं करता।

एक दिन राजा ने संन्यासी से कहा कि महाराज! आज जंगल में घूमने चलें। संन्यासी और राजा दोनों घूमने गए, नगर से बहुत दूर निकल गए। राजा ने कहा–'अब बहुत दूर आ गए। लौट चलें महलों की ओर।' संन्यासी ने कहा–'अब लौटकर महलों में क्या जाएं? मैं तो जंगल की ओर बढ़ता हूं।' राजा ने कहा–'महाराज! आप भी महल में रहते थे और मैं भी महल में रहता था, फिर आप में और मेरे में अंतर ही क्या रहा?' संन्यासी ने कहा–'राजन्, मैं महल में था, परंतु मेरे मन में महल नहीं था। तुम महल में हो और तुम्हारे मन में भी महल है, यही अंतर है। मैं जंगल में था तब भी महल में बैठा था और महल में था तब भी अपने आप में रहता था। मेरे मन में, दिमाग में महल नहीं रहता था। महल में रहना या जंगल में रहना मेरे लिए अंतर की चीज नहीं है।

दोनों समान हैं मेरे लिए। तुम्हारे लिए ऐसा नहीं है। तुम्हारे लिए जंगल जंगल है और महल महल।'

सपंत्ति का होना और न होना दोनों में अंतर नहीं है। अंतर केवल इतना ही है कि संपत्ति का दिमाग में होना और दिमाग में न होना।

एक बार गौतम ने महावीर से पूछा–'भंते! क्या छह खंडों का अधिपति चक्रवर्ती और सूक्ष्म जंतु 'कुंथु' दोनों समान होते हैं?'

महावीर ने कहा–'हां, दोनों समान होते हैं।'

'भंते! आश्चर्य में डाल दिया आपने! दोनों समान कैसे हो सकते हैं? कहां तो चक्रवर्ती सम्राट का ऐश्वर्य, प्रभुता और कहां एक क्षुद्र जंतु 'कुंथु' का जीवन।'

'गौतम! जितनी आकांक्षा चक्रवर्ती में है, उतनी ही आकांक्षा कुंथु में है। ऐश्वर्य या प्रभुता का होना या न होना, अलग प्रश्न है, किंतु आकर्षण की दृष्टि से दोनों समान हैं। जितना आकर्षण चक्रवर्ती में है, उतना ही आकर्षण कुंथु में है। दोनों में अविरति समान है। जहां अविरति की समानता है, वहां समान हो गए।' कितने रहस्य की बात है। संवेदना जब जागृत होती है तब बाह्य जगत से संपर्क बढ़ता है और जब संवेदना का संहरण होता है, तब अंतर्जगत से संपर्क होता है। जब मन का संवेदन बढ़ता है तब अहं उत्पन्न होता है। यदि मन में संवेदन नहीं है तो संपत्ति या ऐश्वर्य परिग्रह नहीं बनता। संपत्ति परिग्रह तब बनती है जब मन में संवेदना जागृत होती है।

ज्ञान और संवेदना

एक है ज्ञान की धारा और दूसरी है संवेदना। हम ज्ञान की धारा को ज्ञान की धारा ही रहने दें। हम चेतना की ज्योति-रश्मि को चेतना की ज्योति-रश्मि ही रहने दें। यही साधना है, यही आत्मदर्शन है, यही प्रकाश है। इसे ही हम जानें, मानें और इसी के मध्य में रहें। कोई कठिनाई नहीं होगी।

ज्ञान की धारा जैसे ही संवेदना के गुरुत्वाकर्षण-क्षेत्र में जाती है, वहां वह संवेदना बन जाती है, भारी हो जाती है। भीतर से बाहर की ओर प्रवाहित होने लगती है। अंतरिक्ष यात्री जब अंतरिक्ष की सीमा में रहता है तब हल्का रहता है। वह काल की मर्यादा को भी लांघ देता है, किंतु जब वह भूमि के गुरुत्वाकर्षण की सीमा में प्रवेश करता है तब भारी हो जाता है और काल की मर्यादा में बंध जाता है।

इसी प्रकार जब तक हमारी चेतना की धारा, ज्ञान की धारा विशुद्ध रूप में प्रवाहित रहती है, तब तक वह साधना है, पवित्रता है। वह जैसे ही कषाय के गुरुत्वाकर्षण में प्रविष्ट होती है तब वासना, लोभ, वंचना, मान आदि सारे दोष उभर आते हैं।

चेतना संवेदना न बने

साधना की दृष्टि से हमें दो ही बातों पर ध्यान केन्द्रित करना है। पहली बात है कि हम चेतना को चेतना ही रहने दें। दूसरी बात है हम चेतना को संवेदना न बनने दें। चेतना को चेतना बनाए रखने का प्रमुख उपाय है–शुद्ध उपयोग। ज्ञान को ज्ञान रूप में जानना-देखना, सहज आनंद का अनुभव करना, अनंत शक्ति का अनुभव करना, यह है चेतना का चेतना की परिधि में रहना। जहां ये रश्मियां बदल जाती हैं, वहां चेतना बदल जाती है। इसका मूल कारण है कषाय का गुरुत्वाकर्षण। कषाय का दबाव पड़ते ही चेतना-चेतना नहीं रहती। वह विकृत हो जाती है। जब हम चेतना की स्थिति में होते हैं, वे क्षण हमारी जागरूकता के क्षण होते हैं। वे क्षण हमारी साधना के क्षण होते हैं। वे क्षण हमारे आत्मदर्शन के क्षण होते हैं। वे क्षण चेतना की दिशा में ले जाने वाले क्षण होते हैं। जब चेतना कषाय से संवलित होती है तब वे क्षण वासना के, अहं के होते हैं। हमारे सामने समस्या खड़ी हो जाती है। संवेदना समस्या उत्पन्न करती है। भय एक समस्या है, घृणा एक समस्या है, वासना एक समस्या है, लोभ एक समस्या है, आवेग एक समस्या है। इन सारी समस्याओं का मूल है कषाय का गुरुत्वाकर्षण। इसका अभाव है समस्याओं का अभाव अर्थात् चेतना का चेतना में स्थित रहना।

हमारे सामने दो स्थितियां बहुत स्पष्ट हैं। एक है चेतना की विशुद्ध स्थिति और दूसरी है कषाय-संवलित चेतना की स्थिति। साधक को जागरूक रहना है। वह चेतना को चेतना की परिधि में रहने दे। यही साधना है। यही आत्मा की उपासना है। जो मनुष्य चेतना को चेतना में रहने देता है, उसे कषाय के गुरुत्वाकर्षण से बचाता है, वह वास्तव में अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता जाता है।

23. जप और मौन

दो आदमी नदी के तट पर पहुंचे। उन्हें नदी पार करनी थी। उन्होंने देखा, नौका पड़ी है। एक बोला–'नाविक तो नहीं है, पर नौका पड़ी है। नदी पार कर लेंगे।' दूसरा बोला–'ऐसा नहीं हो सकता। नदी को पार करने के लिए केवल नौका ही पर्याप्त नहीं है। नाविक भी चाहिए, डांड भी चाहिए, नौका को खेने की कला भी चाहिए। ये सब हों, तभी नदी को पार किया जा सकता है।' पहला बोला–'यह कैसे हो सकता है? जीवनभर सुनते आए हैं कि नदी को पार करना हो तो नौका से उसे पार कर लो। नौका पड़ी है। क्या आवश्यकता है दूसरी चीजों की?'

दूसरे ने समझाया, पर वह नहीं माना। उसने नौका को खोला। अकेला ही उसमें बैठ गया। पानी की एक हिलोर आई और नौका आगे बहने लगी। नौका तैराने वाली थी, पर आज वह उस यात्री के डूबने का कारण बन गई। जो तैराने वाला होता है, वह कभी-कभी डुबाने वाला भी हो जाता है। वास्तव में तैराने वाला और डुबाने वाला दो नहीं होते, एक ही होते हैं। जो तैराने वाला है, वही डुबाने वाला है और जो डुबाने वाला है, वही तैराने वाला है। ये वास्तव में दो नहीं हैं। यह तो संयोग का अंतर है। वह नौका चली। आदमी शांत बैठा है। पानी का बहाव तेज था, धारा तेज थी। नौका डगमगाने लगी। कुछ दूर जाकर नौका उलट गई। यात्री पानी में डूब गया।

नौका पार ले जाती है, किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि अकेली नौका पार ले जाती है। इसके साथ कुछ और सामग्री भी चाहिए। जो व्यक्ति एक अंश को पकड़ता है, शेष की उपेक्षा करता है, उसके लिए तैराने वाली वस्तु भी डुबाने वाली हो जाती है।

जप मनोयोगपूर्वक हो

हमारे जीवन में भी ऐसा ही घटित होता है। हम समझते हैं कि ओंकार बड़ा मंत्र है। 'अर्हम्' महत्त्वपूर्ण मंत्र है। 'णमो अरहंताणं' बड़ा मंत्र है। इनका

जप करें, सारे काम सिद्ध होंगे। यह ठीक नौका जैसी ही बात है कि नौका में बैठो, पार पहुंच जाओगे। मंत्र का जप करो, सबकुछ सिद्ध हो जाएगा। बात तो सही है, किंतु कोरे मंत्र को पकड़ लिया और बरसों तक जप करते चले गए, कुछ भी नहीं हुआ, कुछ अनुभव नहीं हुआ, काम सिद्ध नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में लोग कहने लग जाते हैं कि इतने बरसों तक मंत्र का जप किया, माला फेरी, पर कुछ भी चमत्कार नहीं हुआ। यानी वह नौका नहीं डुबा रही है, लगता है तैरने में सहायक डुबा रही है।

कुछ कहते हैं, इतने दिन तक तो हमने विश्वास के साथ माला फेरी, मंत्र का जप किया, अमुक-अमुक अनुष्ठान किए, पर लगा नहीं कि कुछ हो रहा है तब हमने माला छोड़ दी, जप छोड़ दिया। मन में विश्वास ही नहीं रहा उन पर। इसका अर्थ है कि वे व्यक्ति स्वयं मझधार में आकर डूब जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है कि हम पूरी बात को नहीं जानते, पूरी बात को नहीं पकड़ते। हमें पूरी बात को जानना चाहिए, पूरी बात को पकड़ना चाहिए। मंत्र में शक्ति है, यह बात ठीक है। सब कुछ केवल मंत्र से ही तो नहीं होगा। इसके साथ और भी चाहिए।

सबसे पहले आप इस बात पर ध्यान दें कि मंत्र के साथ आपके मन का योग हुआ है या नहीं? आप मंत्र का जप तो कर रहे हैं, किंतु मन उसमें संयुक्त नहीं है तो कुछ नहीं होगा। नदी को पार करने से पूर्व, नौका में बैठने से पूर्व, आपको देखना होगा कि नाविक है या नहीं? नाविक भी नहीं है और आप स्वयं नौका को खेना नहीं जानते तो निश्चित ही वह नौका आपको पार नहीं पहुंचा पाएगी, बीच में ही डुबो देगी। मंत्र में शक्ति है, पर आपका मन यदि उसमें संयुक्त नहीं है तो वह मंत्र भी गड़बड़ी पैदा कर देगा। हमें पूरी बात पकड़नी चाहिए।

पहली बात है मन के योग की। मन के योग के बिना जो भी काम किया जाता है, वह पूरा नहीं होता, अधूरा ही रह जाता है। आदमी खाता है और यदि मन खाने में संयुक्त नहीं है तो उसका खाना भी अधूरा है। आदमी चलता है और यदि मन चलने के साथ नहीं है तो उसका चलना भी अधूरा है। वह अधूरे मन से चलता है, पूरे मन से नहीं। आप स्वयं इस तथ्य का अनुभव करें। क्या आप कभी पूरे मन से खाते हैं? कभी नहीं। क्या आप ऐसा करते हैं कि खाते समय खाते ही हैं और कुछ नहीं करते? न सोचते हैं, न बोलते हैं और न इशारा

करते हैं? क्या आपका मन पूर्णरूप से खाने में ही लगा रहता है? नहीं, कभी नहीं। खाते-खाते आप सैकड़ों काम कर लेते हैं। कहां से कहां चले जाते हैं? कितनी यात्राएं कर लेते हैं? कितनी कल्पनाएं कर लेते हैं? कितनी योजनाएं बना लेते हैं? आप पूरे मन से नहीं खाते, अधूरे मन से खाते हैं। इसका तात्पर्य है कि मन का एक कोना खाने में काम आता है और शेष हजारों कोने अलग-अलग काम करते चले जाते हैं। चलते हैं तो भी पूरे मन से नहीं चलते। चलते हैं तब मन का एक भाग चलने में सहयोग दे रहा है, चलने में संयुक्त है और शेष भाग न जाने कहां-कहां उड़ानें भरते रहते हैं। यही बात मंत्र-जप में लागू होती है। पूरे मन से मंत्र-जप कहां होता है? मन का एक भाग मंत्र-जप में लगा हुआ है और शेष भाग अन्यान्य कल्पनाओं में व्यस्त है। एक भाई कह रहा था कि जब अन्यान्य कामों में लगा रहता हूं तब मेरा मन प्रायः उसी कार्य में संलग्न रहता है, किंतु ज्योंही मैं माला फेरने या जप करने बैठता हूं, अनगिन कल्पनाएं मन में आने लगती हैं। दिमाग भर जाता है उन कल्पनाओं से।

कोई काम पूरे मन से नहीं होता तो यह हमारी साधना की कमी है। साधना का अर्थ क्या है? साधना में आप और कुछ सीखें या न सीखें, यह अवश्य सीख लें कि जो भी काम करना है, वह पूरे मन से करना है, समग्रता से करना है। उस काम में मन को समग्र रूप से लगा देना है। मन को इतना लगा देना है कि मन के सारे कोने उस काममय हो जाएं। एक भी कोना खाली न रहे, ताकि उसे भागने के लिए अवकाश ही न मिले। उसके सामने अवकाश रहे ही नहीं। बेचारा भागेगा कैसे? कहां भागेगा? यह स्थिति यदि प्राप्त हो जाती है तो साधना सफल है। आप चाहे इसे साधना की पहली सफलता कहें या अंतिम सफलता, यह एकमात्र रहस्य है साधना का। इसका तात्पर्य यह है कि साधना के द्वारा मन को इतना प्रशिक्षित कर देना कि हम जिस काम में उसे लगाना चाहें, वह उसी काम में लगे। हम जिस काम में उसे लगाना न चाहें, वह उस ओर झांके ही नहीं। यदि इतना प्रभुत्व स्थापित हो जाता है मन पर, तब कोई समस्या उत्पन्न ही नहीं होती। हम अपने मन के मालिक हो जाते हैं। हम जो चाहें कर सकते हैं, जैसा चाहें वैसा कर सकते हैं।

मन का अनेक टुकड़ों में बंट जाना ही समस्या है। हमारा मन इतने टुकड़ों में बंटा हुआ है कि हम उनकी गिनती भी नहीं कर सकते। यह बंटा हुआ मन सबसे बड़ी समस्या है मानव जाति की। महावीर ने कहा—**अणेगचित्ते खलु**

अयं पुरिसे–मनुष्य अनेक मन वाला है। वह एक मन वाला नहीं है। वह अनेक भागों में बंटा हुआ है। इसीलिए वह किसी भी बात को पूरे मन से नहीं सोच पाता। यदि वह पूरे मन से सोचने लग जाए तो सचमुच ही उसकी नौका पार लग सकती है, अन्यथा नहीं।

सबसे पहले आप देखें कि मंत्र के साथ मन संयुक्त है या नहीं? मन की पूरी शक्ति मंत्र के साथ है या नहीं? मंत्र और मन दो बातें हैं।

तीसरी बात है, आप मंत्र के अर्थ को जान रहे हैं या नहीं? मंत्र के अर्थ को जानना बहुत जरूरी है। यदि मंत्र का अर्थ नहीं जान रहे हैं तो आप जो करना चाहते हैं, जो होना चाहते हैं, वह नहीं कर सकेंगे, वह नहीं हो सकेंगे।

परिणमनशीलता

परिणमन का सिद्धांत शाश्वत है। कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं है, स्थायी नहीं है। सब परिणमनशील हैं। परिणमन सत्य है। हर चीज बदलती है। परमाणु नष्ट नहीं होते। जो आकार है, जो संस्थान है, जो रूप है, वह स्थायी नहीं हो सकता। सबकुछ बदलेगा। आदमी भी बदलता रहता है। आत्मा शाश्वत है। वह नहीं बदलता। आदमी बदलता है, इसलिए आदमी जो होना चाहता है, वैसा हो सकता है, उस रूप में बदल सकता है। उसका जो संकल्प होगा, उसी रूप में बदल जाएगा। आदमी जीवन के पहले क्षण में बदलता है। प्रतिक्षण बदलता है। बदलने का क्रम बंद नहीं होता, इसलिए संकल्प के अनुरूप वह बदल जाता है। अगर संकल्प नहीं है तो दूसरे रूप में बदलेगा। अगर संकल्प है तो संकल्प के अनुरूप बदलेगा।

हमारे शरीर में कोशिकाएं हैं, जो शरीर की मूल घटक हैं। वे शरीर का निर्माण करती हैं। बहुत बड़ी संख्या है उनकी। हमारे शरीर में साठ हजार अरब कोशिकाएं हैं। हमारे मस्तिष्क में प्रति घन मीटर करोड़ कोशिकाएं हैं। शरीर की कोशिकाएं प्रतिक्षण नष्ट होती हैं, नई बनती हैं। हजारों कोशिकाएं मरती हैं और हजारों नई जन्मती हैं। पुरानी क्षीण होती हैं और नई बनती हैं। यह चक्र निरंतर चल रहा है। जब आदमी की अवस्था के अनुसार कोशिकाएं क्षीण अधिक होती हैं और बनती कम हैं तब शरीर में क्षीणता आती है, मस्तिष्क कमजोर होता है, इन्द्रियां क्षीण हो जाती हैं, मस्तिष्क का नियंत्रण ढीला हो जाता है। जवान आदमी अपने शरीर पर, अपने मस्तिष्क पर, अपने मन पर चाहे जैसा नियंत्रण कर सकता है, किंतु बूढ़े आदमी की नियंत्रण शक्ति क्षीण हो जाती

है, ढीली हो जाती है। इसका कारण है कि साठ-सत्तर वर्ष की अवस्था में दस प्रतिशत मस्तिष्क क्षीण हो जाता है। इतनी कोशिकाएं मर जाती हैं कि मस्तिष्क की शक्ति कम हो जाती है।

यह शरीर के भीतर चलने वाला अवश्यंभावी क्रम है। हम एक चिता को देखकर डर जाते हैं और कह देते हैं–'अरे! चिता जल रही है। मुर्दा जल रहा है। हम अपने भीतर देखें। एक नहीं, हजारों चिताएं जल रही हैं निरंतर। हजारों कोशिकाएं मर रही हैं। हजारों कोशिकाओं का जन्म हो रहा है। जन्म और मरण दोनों साथ-साथ चल रहे हैं। एक ओर श्मशान है तो दूसरी और प्रसूतिगृह। एक में मुर्दे जलाए जा रहे हैं, चिताएं सजाई जा रही हैं और एक में नए-नए चेहरे जन्म ले रहे हैं, सूर्य की किरण का पहला स्पर्श कर रहे हैं। विचित्र है यह शरीर। हम इसे केवल बाहर से देखते हैं। बाहर हम श्मशान भी देखते हैं और प्रसूतिगृह भी देखते हैं। जन्मते बच्चों को भी देखते हैं और मरते बूढ़ों को भी देखते हैं। सबकुछ देखते हैं बाहर से, परंतु भीतर कुछ भी नहीं देखते। भीतर एक चक्र चल रहा है। निरंतर बदल रहा है भीतर। प्रतिक्षण संघर्ष चल रहा है भीतर। बनने और मिटने का काम हो रहा है निरंतर। यह सारा स्वाभाविक है। यदि आप संकल्प करें तो उस बदलने में परिवर्तन ला सकते हैं। आप जो होना चाहें, वह हो सकते हैं। यह सारा का सारा होता है प्राण के स्तर पर।

प्राण की शक्ति

दो वस्तुएं हैं आत्मा और प्राण। एक है आत्मशक्ति और एक है प्राणशक्ति। एक है प्राणबल और एक है आत्मबल। हमारा लक्ष्य है आत्मोपलब्धि। हम आत्मा के मूल स्तर तक पहुंचना चाहते हैं, आत्मा को पाना चाहते हैं, मूल चेतना तक पहुंचना चाहते हैं। यह है हमारा मूल लक्ष्य। इससे पहले आता है प्राण। उसका स्थान इससे पूर्व है। आत्मा तक कौन पहुंच पाता है? आत्मा तक वही पहुंच पाता है, जो प्राणवान है, जो शक्तिशाली है। जिसका मनोबल ऊंचा है, जिसका संकल्प-बल प्रबल है, वह पहुंच सकेगा आत्मा तक। जिसकी इच्छाशक्ति प्रबल है, वह आत्मा तक पहुंच पाएगा। जिसका मनोबल क्षीण है, जिसका संकल्प-बल क्षीण है, जिसकी इच्छाशक्ति और प्राणशक्ति दुर्बल है, जो वीर्यहीन है, वह कभी आत्मा को नहीं पा सकता।

आत्मा को पाने के लिए प्राण को शक्तिशाली बनाना जरूरी है। जो जाप का स्तर है, वह प्राण के स्तर पर चलने वाला क्रम है। यह प्राण को शक्तिशाली

बनाता है। प्राण हमारी विद्युतशक्ति है। हर प्राणी में यह शक्ति होती है। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं होता जिसमें यह न हो। हमारी सारी सक्रियता, चंचलता, हमारा उन्मेष और निमेष, हमारी वाणी, हमारा चिंतन, हमारी गति, हमारी दीप्ति, हमारा आकर्षण–ये सब प्राण के आधार पर होते हैं, विद्युतशक्ति के आधार पर होते हैं। विद्युत ही ये सारे कार्य निष्पन्न करती है। हमारे शरीर में यह विद्युत मौजूद है। इसे हम तैजस शरीर कह सकते हैं, प्राण कह सकते हैं। विद्युत को बढ़ाना मनोबल को बढ़ाना है। जिसकी विद्युत तीव्र होती है, उसका मनोबल बढ़ जाता है। जिसकी विद्युत क्षीण होती है, उसका मनोबल घट जाता है।

ब्रह्मचर्य की शक्ति

'आदमी को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए'–यह एक मान्यता मात्र नहीं। इसके पीछे बहुत बड़ा रहस्य है। हमारे भीतर विद्युत शक्ति का एक आयतन है, एक पॉवर हाउस है। उसका स्थान है पृष्ठरज्जु का अंतिम छोर। पृष्ठरज्जु जहां समाप्त होती है, वहां एक कंद है। वह है पीछे के हिस्से में कटिभाग के पास। वहां विद्युतशक्ति उत्पन्न होती है। वह एक विद्युत जेनरेटर है। विद्युत की उत्पत्ति का केन्द्र है। जिस व्यक्ति की विद्युत शक्ति ऊर्ध्व की ओर जाती है, ऊर्ध्वगामी बन जाती है, वह बहुत शक्तिसंपन्न हो जाता है। ब्रह्मचर्य की साधना से व्यक्ति अपनी ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाकर मस्तिष्क तक ले जाता है। उसकी शक्ति बढ़ जाती है। उसका प्राण शक्तिशाली बन जाता है। उसका मनोबल मजबूत हो जाता है और उसमें इतना पराक्रम फूट पड़ता है कि वह जो संकल्प करता है, वह पूरा होता है। वह अपने संकल्प से कभी नहीं हटता, चाहे प्राण ही क्यों न चले जाएं।

जिसकी प्राणधारा कामवासना के कारण नीचे की ओर प्रवाहित होने लगती है, उसका मनोबल क्षीण हो जाता है, चेतना क्षीण हो जाती है, संकल्प टूट जाता है, मन निराशा से भर जाता है, पग-पग पर विचलन होता है, किसी भी क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ पाता। ब्रह्मचर्य, वाणी का संयम, मन का संयम, एकाग्रता की साधना–ये सारे प्राणशक्ति को ऊर्ध्वगामी बनाने के उपाय हैं। इनसे मनोबल बढ़ता है और धैर्य मजबूत होता है। ये अध्यात्म नहीं हैं, किंतु अध्यात्म तक पहुंचने के साधन हैं। नौका के समान हैं। ये सारी नौकाएं हैं। ये लक्ष्य नहीं, साधन मात्र हैं।

संकल्प में शक्ति

संकल्प किया और अध्यात्म की साधना हो गई, यह बात नहीं है। संकल्प उस व्यक्ति को ही करना पड़ता है, जो निशाना लगाता है। एक शिकारी जो निशाना लगाता है, उसे संकल्प भी करना होता है और एकाग्रता भी रखनी होती है। क्या शिकारी की एकाग्रता कम होती है? क्या प्रतियोगिताओं में भाग लेने वाले निशानेबाजों की एकाग्रता कम होती है? कम नहीं होती। पूरी एकाग्रता होती है तभी लक्ष्य पर तीर लगता है। युद्ध लड़ने वालों में भी संकल्प होता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध में चर्चिल ने 'वी' का चिह्न दिया था। उसने प्रत्येक योद्धा से कहा–'वी' को सदा अपने समक्ष रखो। हम जीत जाएंगे। यह 'वी' जीतने का दृढ़ संकल्प था। सैनिक में जितना दृढ़ संकल्प होता है, एकाग्रता होती है, वह दूसरे में नहीं होती। प्रश्न होता है कि क्या यह संकल्प, साहस, एकाग्रता आत्मोपलब्धि है? अध्यात्म है? नहीं। ये तो साधन मात्र हैं। संकल्प एक साधन है। इच्छाशक्ति एक साधन है। प्राणशक्ति एक साधन है। मनोबल एक साधन है। एकाग्रता एक साधन है। अब इन साधनों को हम किस दिशा में ले जाते हैं, किस दिशा में प्रवाहित करते हैं, यह उद्देश्य पर निर्भर होता है। आत्मा को पाने के लिए भी इनका उपयोग किया जा सकता है तथा आत्मा से दूर भागने के लिए भी इनका उपयोग किया जा सकता है। आत्मा की दिशा में जाने के लिए भी इनका प्रयोग हो सकता है और आत्मविरोधी दिशा में जाने के लिए भी इनका प्रयोग हो सकता है। ये मात्र साधन हैं, उपकरण हैं। आप उन्हें किसमें प्रयुक्त करते हैं, यह आपके उद्देश्य पर निर्भर है।

जप भी एक साधन है। साधन मात्र है, साध्य नहीं है। यह प्राणशक्ति का एक प्रयोग मात्र है। इसमें शब्द और मन दोनों का योग होता है। शब्द और मन दोनों का समुचित योग होते ही एक शक्ति पैदा होती है। हम बोलते हैं। हमारे बोलने के साथ-साथ विद्युत की तरंगें पैदा होती हैं। हम सोचते हैं। हमारे सोचने के साथ-साथ विद्युत की तरंगें पैदा होती हैं। उन विद्युत-तरंगों का आश्चर्यकारी प्रभाव होता है।

रंग का प्रभाव

रंग, शब्द, मन और उच्चारण–ये चार मुख्य बातें हैं। रंग का हमारे चिंतन और हमारे जीवन के साथ बहुत गहरा संबंध है। रंग हमारे शरीर को प्रभावित

करता है, हमारे मन को प्रभावित करता है। रंग-चिकित्सा पद्धति आज भी चलती है। 'कलर थेरेपी' यह पद्धति चल रही है। एक पद्धति है 'कॉस्मिक रे थेरेपी' अर्थात् दिव्य-किरण-चिकित्सा। इसका भी रंग के साथ संबंध है। रंग और सूर्य की किरण दोनों के साथ इसका संबंध है। प्रकाश के साथ यह संयुक्त है। रंग हमारे शरीर और मन को विविध प्रकार से प्रभावित करता है। उससे रोग मिटते हैं, फिर चाहे वे रोग शारीरिक हों या मानसिक। मानसिक रोग-चिकित्सा में भी रंग का विशिष्ट स्थान है। पागलपन को रंग के माध्यम से समाप्त कर दिया जाता है। रंग थोड़ा-सा विकृत हुआ कि आदमी पागल हो जाता है। रंग की पूर्ति हुई, आदमी स्वस्थ बन जाता है। शरीर में रंग की कमी के कारण अनेक बीमारियां उत्पन्न होती हैं। 'कलर थेरेपी' का यह सिद्धांत है कि बीमारी के कोई कीटाणु नहीं होते। रंग की कमी के कारण बीमारी होती है। जिस रंग की कमी हुई उसकी पूर्ति कर दो, आदमी स्वस्थ हो जाएगा, बीमारी मिट जाएगी। बीमारी का होना, बीमारी का न होना या स्वस्थ होना, यह सारा रंगों के आधार पर होता है।

हमारे चिंतन के साथ भी रंगों का संबंध है। मन में खराब चिंतन आता है, अनिष्ट बात उभरती है, अशुभ सोचते हैं, तब चिंतन के पुद्गल काले वर्ण के होते हैं। लेश्या कृष्ण होती है। अच्छा चिंतन करते हैं, हित चिंतन करते हैं, शुभ सोचते हैं तब चिंतन के पुद्गल पीत वर्ण के होते हैं, पीले होते हैं। लाल वर्ण के भी हो सकते हैं और श्वेत वर्ण के भी हो सकते हैं, उस समय तेजोलेश्या, पद्मलेश्या या शुक्ललेश्या होगी। बुरे चिंतन के पुद्गलों का वर्ण है काला और अच्छे चिंतन के पुद्गलों का वर्ण है पीला, लाल या श्वेत। कितना बड़ा संबंध है रंग का चिंतन के साथ। जिस प्रकार का चिंतन होता है, उसी प्रकार का रंग होता है।

शरीर के साथ रंग का गहरा संबंध है। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर के आसपास रंग का एक आभामंडल है। उसमें अनेक रंग होते हैं। किसी के आभामंडल का रंग काला होता है, किसी के नीला, किसी के लाल और किसी के सफेद। अनेक वर्णों का भी होता है आभामंडल। आपकी आंखों को वे रंग नहीं दिखते, पर वे हैं अवश्य ही। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है, जिसके चारों ओर आभामंडल न हो। इसका स्वयं पर भी असर होता है और दूसरों पर भी असर होता है। आप किसी व्यक्ति के पास जाकर बैठते हैं। बैठते ही आपके मन में एक परिवर्तन होता है। लगता है कि आपको अपूर्व शांति का अनुभव हो रहा है। आपका मन आनंदित है और अंदर ही अंदर एक संगीत चल रहा है।

आप किसी दूसरे व्यक्ति के पास जाकर बैठते हैं, अकारण उदासी छा जाती है। मन उद्विग्न हो जाता है। मन में क्षोभ और संताप उत्पन्न हो जाता है। वहां से उठने की शीघ्रता होती है। यह सब क्यों होता है? भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के पास बैठकर हम भिन्न-भिन्न भावनाओं से आक्रांत होते हैं। यह सब क्यों और कैसे होता है?

इसका कारण है व्यक्ति का आभामंडल। सामने वाले व्यक्ति का जैसा आभामंडल होगा, उसके रंग होंगे, वे पास वाले व्यक्ति को प्रभावित करेंगे। व्यक्ति चाहे या न चाहे, वह उन रंगों से प्रभावित होता ही है। जिस व्यक्ति का आभामंडल श्वेत वर्ण का है, नीले वर्ण का है, पीले वर्ण का है, उसके पास जाकर बैठते ही मन शांत हो जाता है, शांति से भर जाता है, उद्विग्नता मिट जाती है, प्रसन्नता से चेहरा खिल उठता है। जिसका आभामंडल विकृत है, कृष्ण वर्ण के पुद्गलों से निर्मित है, उस व्यक्ति के पास जाते ही अकारण चिंता उभर जाती है, उदासी छा जाती है, मन उद्विग्नता से भर जाता है, ईर्ष्या, द्वेष, बुरे विचार मन में आने लगते हैं। इससे स्पष्ट है कि रंग हमें प्रभावित करते हैं।

शब्द का प्रभाव

हमारे जीवन में शब्द का असर होता है। मन पर शब्द का असर होता है। शब्द के स्थूल प्रभाव से हम सब परिचित हैं। एक बार स्वामी विवेकानंद से एक व्यक्ति ने कहा–'शब्द निरर्थक हैं। उनका प्रभाव या अप्रभाव कुछ भी नहीं होता। वे निर्जीव हैं।' विवेकानंद ने सुना। कुछ देर मौन रहने के बाद बोले–'बेवकूफ हो तुम। बैठ जाओ।' इतना कहते ही, वह व्यक्ति आगबबूला हो गया। उसकी आकृति बदल गई। आंखें लाल हो गईं। उसने कहा–'आप इतने बड़े संत हैं। मुझे गाली दे दी। शब्दों का ध्यान ही नहीं रहा आपको।' विवेकानंद ने मुस्कुराते हुए कहा–'अभी तो तुम कह रहे थे कि शब्दों का क्या प्रभाव है? और स्वयं एक 'बेवकूफ' शब्द से इतने प्रभावित हो गए और क्रोध में आ गए?'

शब्दों में शक्ति होती है। वे प्रभावित करते हैं। यह स्थूल प्रभाव की बात मैंने कही। शब्द का बहुत सूक्ष्म प्रभाव होता है। आज शब्द के द्वारा चिकित्सा होती है। शब्दों के द्वारा ऑपरेशन हो रहे हैं। ऑपरेशन में किसी शस्त्र की जरूरत नहीं होती, किसी उपकरण की जरूरत नहीं होती। शब्द की सूक्ष्म तरंगें आ रही हैं और चीर-फाड़ हो रही है। कपड़ों की धुलाई होती है शब्दों के द्वारा, सूक्ष्म ध्वनि के द्वारा। सूक्ष्मतम ध्वनि से हीरे की कटाई होती है। पुराने जमाने में कहा जाता था कि हीरे से हीरा कटता है। यह मान्य सिद्धांत था। आज हीरा

शब्द की सूक्ष्म ध्वनि से कटने लगा है। यंत्र घूमता है। ध्वनि की सूक्ष्म तरंगें निकलती हैं और सूक्ष्म समय में ही हीरा कट जाता है। ये हैं शब्द के चमत्कार। इनसे आगे हैं जप और मंत्र के चमत्कार।

शब्द का उच्चारण छह प्रकार से होता है। उसके छह प्रकार हैं–ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म और परमसूक्ष्म। मंत्रविद् आचार्यों ने बताया कि शब्द का ह्रस्व उच्चारण पाप का नाश करता है। दीर्घ उच्चारण लक्ष्मी की वृद्धि करता है, स्त्री की प्राप्ति कराता है और प्लुत उच्चारण ज्ञान की वृद्धि कराता है। तीन उच्चारण और हैं सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म और परमसूक्ष्म। ये समापत्ति करते हैं, ध्येय के साथ व्यक्ति को जोड़ देते हैं। ध्येय के साथ व्यक्ति का योग कर देते हैं। आप 'अर्हं' शब्द को लें। आप इसका उच्चारण करते हैं। इसका एक होता है ह्रस्व उच्चारण, एक होता है दीर्घ उच्चारण और एक होता है प्लुत उच्चारण, फिर सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म और परमसूक्ष्म। परमसूक्ष्म में आकर हमें लगता है कि हम परम तक पहुंच गए। अर्हत् का अनुभव करने लग गए। इन छहों प्रकार के उच्चारणों के भिन्न-भिन्न प्रभाव होते हैं।

इस प्रकार हमें शब्द की शक्ति को पहचानना है, शब्द के अर्थ को समझना है और उच्चारण को भी समझना है।

चौथी बात है मन। मन को शब्द के साथ जोड़ देना। जिस शब्द का हम जाप कर रहे हैं उसके साथ मन का योग कर देना। इन सबका उचित योग मिलता है, तब जप की शक्ति पैदा होती है। कोरी नौका से काम नहीं चलेगा। कोरी माला फेरने से काम नहीं चलेगा। यह हमें जानना होगा, समझना होगा कि नौका के साथ और क्या-क्या आवश्यक होता है नदी पार करने के लिए। यह हमें समझना होगा कि जप के साथ और क्या-क्या आवश्यक होता है। 'णमो अरहंताणं' बहुत अधिक शक्तिशाली मंत्र है। यह सही है, पर जब इसका उच्चारण भी शुद्ध नहीं होगा तब यह फल कैसे देगा? इसका उच्चारण भी किस उद्देश्य से कैसा होना चाहिए, यह जब तक नहीं जानते तो फिर हम इससे कैसे लाभ उठा पाएंगे? लाभ नहीं पा सकेंगे। अपने अज्ञान और दोष के कारण ही मंत्र या जाप लाभदायी नहीं होता और हम सारा दोष मंत्र या जाप पर थोप देते हैं। हम कह देते हैं कि मंत्र से कुछ लाभ नहीं मिला। जाप से कुछ नहीं हुआ। शब्द के उच्चारण के ध्येय को समझना भी बहुत जरूरी है। ये सब बातें जप के लिए अत्यंत आवश्यक हैं।

जप क्या है? ध्येय के साथ एकरस हो जाना ही जप है। यह ध्यान भी है।

महर्षि पतंजलि ने चित्तवृत्ति के निरोध को ध्यान माना है। चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ध्यान है। ध्यान का संबंध चित्त से है। जैन आचार्यों ने कहा–'ध्यानं त्रिविधम्'-ध्यान के तीन प्रकार हैं–कायिक ध्यान, वाचिक ध्यान और मानसिक ध्यान। यह एक नया दृष्टिकोण है, नई परंपरा है। शरीर का शिथिलीकरण और शरीर की जो स्थिरता है, वह है कायिक ध्यान। वाचिक जप, वाणी का ध्येय के साथ में योग कर देना ध्येय और वचन दोनों में समापत्ति कर देना, दोनों को एकरस कर देना, यह है वाचिक ध्यान। मन का ध्येय के साथ योग कर देना, यह है मानसिक ध्यान। ये तीन प्रकार के ध्यान हैं। जप वाचिक ध्यान है। यह वचन के द्वारा होने वाला ध्यान है। वचन के माध्यम से हम इतने एकाग्र हो जाते हैं, इतने लीन हो जाते हैं कि हमारा ध्येय और हम दो नहीं रहते।

आप 'णमो अरहंताणं' का जप करते हैं, लेकिन जब तक अर्हत् की कल्पना आपके मस्तिष्क में ठीक प्रकार से नहीं बैठ जाती, आप मन में यह भावना नहीं करते कि 'मैं स्वयं अर्हत् होता जा रहा हूं', तब तक 'णमो अहरंताणं' का लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। इतना-सा लाभ अवश्य होता है कि उच्चारण के द्वारा जो तरंगें उत्पन्न होती हैं, उससे प्राणशक्ति में कुछ विकास होता है, किंतु जाप के द्वारा आपकी अर्हत् के रूप में जो परिणति होनी चाहिए थी, परिणमन होना चाहिए था, वह नहीं होता। इस बड़े लाभ से वंचित रहना पड़ता है। थोड़ा-सा लाभ प्राप्त होता है। बहुत बार ऐसा होता है कि हम बड़े ध्येय को लेकर चलते हैं, बड़ी बात को सामने रखकर चलते हैं, किंतु बीच में छोटा-सा लाभ होता है तो हम समझ लेते हैं कि लाभ मिल गया। यह बहुत बड़ा खतरा है।

विकास के लिए बहुत बड़ा खतरा है। जिस बड़ी बात को लेकर हम चले, आत्मा की उपलब्धि सबसे बड़ी बात है, उसके लिए हम चले, बीच में कुछ प्राप्त हुआ, उसे ही सबकुछ मानकर आगे का प्रयत्न छोड़ देते हैं। इसी में संतुष्ट हो जाते हैं। यह संतोष भी बहुत बड़ा खतरा है। हमें संतुष्ट नहीं होना चाहिए। ये तो रास्ते में मिलने वाले यात्री हैं, सहचारी हैं। आदमी यात्रा में चला। थक गया। रास्ते में विश्राम के लिए ठहरा। एक साथी मिल गया। उसके साथ रातभर रहा। बातचीत की। मनोरंजन किया। यदि उसे ही मंजिल मानकर वह वहीं रुक जाए तो वह कभी मंजिल तक नहीं पहुंच पाता। यह बहुत बड़ा खतरा है। ये प्राणविद्या की जितनी बातें हैं, ये मध्य में मिलने वाले सहयात्री हैं। मिल जाते हैं, मन बहला लेते हैं, पर मंजिल की प्राप्ति नहीं है।

हमारा ध्येय होगा कि हमें अर्हत् बनना है। अर्हत् वीतराग होते हैं। अर्हत् वे होते हैं, जिनमें सारी अर्हताएं, क्षमताएं, शक्तियां, योग्यताएं विकसित हो जाती हैं। कुछ भी अविकसित नहीं रहता। उस आत्मा की उपलब्धि का नाम है अर्हत्। हमें भी अर्हत् होना है। इसीलिए हम 'णमो अरहंताणं' का जाप करते हैं। जप को प्रारंभ करने से पूर्व हमारे मन में यह भावना होनी चाहिए, संकल्प होना चाहिए कि 'मैं अर्हत् हूं', 'मैं अर्हत् हूं।' जाप करते समय यह धारणा हो कि मैं अर्हत् बन रहा हूं, मैं अर्हत् बन रहा हूं। यह धारणा कर ली, भावना कर ली। इसके बाद 'णमो अरहंताणं' का जाप करना चाहिए। मैं नमस्कार अर्हत् को नहीं कर रहा हूं, मैं स्वयं अर्हत् बनने के लिए आगे बढ़ रहा हूं। अर्हत् की पूरी प्रतिमा, पूरा चित्र हमारे मस्तिष्क में इस प्रकार स्थिर हो जाए, फिर उसके आसपास हमारा शब्द चलता रहे तो वे शब्द की तरंगें वास्तव में हमें अर्हत् के रूप में हमारे पर्याय को बदलने लग जाएंगी। हम स्वयं अर्हत् के रूप में बदलने लग जाएंगे और कुछ दिनों के बाद पता लगेगा कि राग कम हो रहा है, द्वेष कम हो रहा है, वासनाएं कम हो रही हैं, अर्हताएं जाग रही हैं, शक्तियां विकसित हो रही हैं। तब समझना चाहिए कि जप हो रहा है। पूरी सामग्री प्राप्त है। नौका है, नाविक भी मिला है, डांड भी मिला है। सारे उपकरण प्राप्त हैं। नौका को ठीक खेया जा रहा है। यदि सामग्री में कुछ कमी रहती है, कोई विकलता रहती है तो आप जप को दोष देते चले जाइए, जप आपको पीछे छोड़ता चला जाएगा।

24. एकाग्रता

साधना करने वाले ध्येय की कल्पना कर मन को उसमें लगा दें, मन को उसके साथ जोड़ दें। मन उसी ध्येय में लगा रहे, ढीला न हो। कभी-कभी मन उस ध्येय से छूटने लगे, बिछुड़ने लगे, कोई विकल्प हो जाए तो जागरूक साधक मन को खींच लेगा, मन का समाहार कर लेगा और उसे ध्येय पर लगा देगा। मन ध्येय पर लग जाएगा। यह धारावाही ज्ञान एक ही दिशा में, एक ही ध्येय पर निरंतर चलता रहे, क्रम न टूटे और बीच में टूटे तो उसे तत्काल जोड़ दिया जाए, यह है मन की समाधि, मन की एकाग्रता। जब यह एकाग्रता सिद्ध होती है, उस स्थिति में हमें सूक्ष्म दृश्यों का आभास होता है। बहुत सारी सूक्ष्म वस्तुएं दीखने लगती हैं। ज्योति का दर्शन होता है। ऐसी आत्माओं का दर्शन होता है, जो सूक्ष्म लोक में विचरण करती हैं। अनेक प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं। ऐसे शब्द जो स्थूल जगत से परे हैं। स्थूल जगत के परे से रूप दिखाई पड़ते हैं और स्थूल जगत के परे की अनुभूतियां होने लगती हैं। हमारा अनुभूति का लोक बदल जाता है। उस स्थिति में हमें आनंद का अनुभव होता है। यह कोई उत्कृष्ट सफलता नहीं है। यह चरम समाधि नहीं है, फिर भी यह आत्मविकास की दिशा में हमारा एक ऐसा चरण है, जहां पहुंचने पर फिर लौटने का मन नहीं करता। नीचे उतरने का मन नहीं होता। यह निश्चित है।

अनासक्ति और संतोष

हमारे जीवन में परिवर्तन होता है। भक्त रैदास बहुत बड़े संत थे। वे जाति से चमार थे। बड़े साधक थे। बहुत बड़े आत्मज्ञानी थे। वे काशी में रहते। अपनी साधना करते। छाई हुई छोटी-सी झोंपड़ी में रहते। पत्नी थी। छोटा-सा परिवार था। वहीं जूते गांठते । इससे जो प्राप्त होता, उससे जीवन चल जाता। वे काम से निवृत्त होकर अपनी साधना में लीन हो जाते। एक दिन एक साधु रैदास से मिलने के लिए आया। इनके तत्त्वज्ञान और प्रसिद्धि से वह परिचित था। आकर

उसने देखा–'अरे इतनी गरीबी में जी रहे हैं! इतने बड़े संत और इतनी गरीबी! ऐसा टूटा-फूटा छप्पर और जूते गांठते हैं! कुछ भी नहीं पास में!' वह रैदास से मिला। चरण छूकर बोला, 'महाराज! मैं कुछ भेंट चढ़ाने आया हूं। आपकी स्थिति देखकर दिल रो रहा है। यह पारस पत्थर आपको देता हूं। आप इसे स्वीकार करें। आप इस अवस्था में न जीएं, अच्छी अवस्था में जीएं। रैदास ने कहा–'भाई! मुझे कोई जरूरत नहीं है पारस पत्थर की। मैं बहुत अच्छी तरह जी रहा हूं। कोई कमी नहीं है। सबकुछ है जीवनयापन के लिए। जिसे असंतोष हो, उसे दो यह पारस पत्थर। मैं पूर्ण संतुष्ट हूं। मुझे इसकी जरूरत नहीं है।'

साधु पारस पत्थर स्वीकार करने का आग्रह कर रहा था और रैदास उसे नकार रहे थे। वे लेना नहीं चाहते थे और साधु उसे दिए बिना वहां से हटना नहीं चाहता था। दोनों में लंबे समय तक आग्रह चलता रहा। अंत में रैदास ने कहा–'चलो, तुम्हारा इतना आग्रह है तो इस पारस को कहीं छप्पर में खोंस दो।' साधु ने उसे छप्पर में खोंस दिया। साधु चला गया।

रैदास का जीवन-क्रम ठीक चल रहा था। न उनमें लालसा थी और न आकांक्षा। जीवनपूर्ति का साधन प्राप्त था। यदि कमी होती तो संभव है, वे पारस पत्थर से पूरी कर लेते। उनमें कोई असंतोष नहीं था। उनके सामने कोई समस्या नहीं थी, जिसको वे पारस पत्थर से सुलझाते। उनके सामने कोई कठिनाई नहीं थी। वे तो उसे पा चुके थे, जिसके मिल जाने पर पारस का मूल्य ही समाप्त हो जाता है। कुछ महीने बीते। वही साधु लौटकर रैदास की कुटिया पर आया। उसने सोचा था कि अब संत रैदास के पास ठाट-बाट मिलेगा। इतना वैभव, इतना सुंदर प्रासाद, राजसी ठाट-बाट मिलेगा। वह संन्यासी बन चुका था, फिर भी राजसी ठाट-बाट का मोह नहीं छूटा था। पारस का आकर्षण भी नहीं मिटा था। वह आया। उसने देखा–टूटी-फूटी झोंपड़ी है और वहीं भक्त रैदास बैठे-बैठे जूते गांठ रहे हैं। अरे यह क्या? पारस का इन्होंने उपयोग ही नहीं किया? उपयोग करते तो आज यह स्थिति नहीं होती। आज जूते गांठने की नौबत ही नहीं रहती। ये लोग जैसे थे, वैसे ही रह गए।

यहां प्रश्न होता है कि जिसके पास पारस हो, क्या वह इतनी गरीबी का जीवन जी सकता है? जिसके पास पारस पड़ा हो, क्या वह जूते गांठने का काम कर सकता है? जिसके पास पारस हो, क्या वह साधारण-सी रूखी-सूखी रोटी खाकर संतुष्ट हो सकता है? कभी संभव नहीं है। लोग तो पारस का नाम

सुनते ही उसे पाने के लिए लालायित हो जाते हैं। उनके मुंह से लार टपकने लग जाती है, किंतु जिसके पास पारस है, जो क्षणभर में लोहे को सोना बना सकता है, जिसके हाथ में यह शक्ति आ जाए कि लोहे को छुआ और वह सोना हो जाए, न जाने वह क्या से क्या हो जाए। उस व्यक्ति के पैर फिर पृथ्वी पर नहीं पड़ते। वह चलता है तो लगता है मानो आकाश में उड़ रहा हो।

मानसिक समाधि

एक आदमी ऐसा भी होता है कि उसे पारस मिला, फिर भी उसके मन में यह विचार ही नहीं उठता कि मैं लोहे का सोना बना लूं। स्वप्न में भी यह विचार नहीं आता कि पारस के योग से मैं मालामाल हो जाऊं, रहने के लिए सुंदर कोठी बना लूं, बढ़िया कपड़े पहनूं आदि-आदि। रैदास ने कभी नहीं सोचा कि मेरे पास पारस पड़ा है। अब मुझे जूते गांठने की क्या आवश्यकता है। जब चाहूं, जितना चाहूं, सबकुछ प्राप्त हो सकता है, पर वह जूते गांठने में ही परम संतोष का अनुभव कर रहा है। रूखी रोटी में ही परम आनंद और आत्मतृप्ति का अनुभव कर रहा है। टूटी-फूटी झोंपड़ी में ही संतुष्ट है। आखिर इसका कारण क्या है? यह संतोष आया कहां से? यह परिवर्तन क्यों आता है? जब हम इसके कारण की खोज करते हैं तब ज्ञात होता है कि यह परिवर्तन होता है मानसिक समाधि के स्तर पर।

भक्त रैदास ने अपने मन को उस स्तर पर पहुंचा दिया, आनंद की उस भूमिका तक पहुंचा दिया कि जहां पहुंचने पर सोना बनाने का आनंद, बढ़िया मकान और बढ़िया भोजन का आनंद समाप्त हो जाता है। सारा आकर्षण समाप्त हो जाता है। उसे लगता नहीं कि ये कोई बड़ी चीजें हैं, विशिष्ट उपलब्धियां हैं, मूल्यवान वस्तुएं हैं। सारे मूल्य समाप्त हो जाते हैं। यह निश्चित है कि मूल्य समाप्त हुए बिना कोई भी व्यक्ति ऐसा कर नहीं सकता। जब तक उसके मन में पारस का मूल्य बना रहेगा, पारस से सोना बनाने का मूल्य बना रहेगा, सोने के द्वारा बढ़िया वस्तुएं और बड़प्पन पाने का मूल्य बना रहेगा तो वह ऐसा आचरण कर ही नहीं सकेगा कि सामने पारस पड़ा हो और वह जूते गांठता रहे, रूखी-सूखी रोटी खाकर भूख मिटा ले। उस स्थिति में ऐसा हो ही नहीं सकता। वह तभी हो सकता है जबकि उसको उससे बड़ा आनंद मिल जाए।

एक व्यक्ति गया संन्यासी के पास और बोला–'बाबा! मैं भूखा हूं। कुछ खाने को दो।' संन्यासी ने कहा–'मेरे पास क्या है, जो तुझे दूं। मैंने तो सबकुछ

छोड़ दिया। तुझे क्या दूं?' वह बोला–'नहीं, यह नहीं हो सकता। बड़ी आशा लिए आया हूं आपके पास। निराश नहीं लौटूंगा। कुछ तो देना ही होगा।' बहुत आग्रह करने लगा। संन्यासी ने सोचा कि बड़ी मुसीबत है। पास में एक दाना भी नहीं है। इस बेचारे को क्या दूं? यह भी अपना हठ नहीं छोड़ रहा है। क्या करूं? अंत में संन्यासी ने कहा–'भाई! मेरे पास तो कुछ है नहीं। इधर नदी की ओर चले जाओ। मैंने एक पत्थर कल ही वहां फेंका है। वह पारस है। लोहे को सोना बनाता है। उस पत्थर को लोहे से छूने पर, लोहा सोना बन जाएगा। जाओ, वह ले जाओ।'

पारस का नाम सुनते ही उसके मुंह से लार टपकने लगी। मन भविष्य की कल्पनाओं से भर गया। वह दौड़ा-दौड़ा नदी के तट पर आया। पारस को देखा। धूप में चमचमा रहा था। उसे उठाने के लिए हाथ बढ़ाया। एक विकल्प आया और वह हाथ बीच ही में रुक गया। उसके मन में एक विकल्प आया कि संन्यासी ने पारस को क्यों फेंका? क्या कोई व्यक्ति पारस को प्राप्त कर उसे यों ही फेंक देता है? कभी नहीं। क्या यह पारस पत्थर नकली है? नहीं, नकली भी नहीं है। असली है तो फिर संन्यासी ने इसे फेंका क्यों? जरूर ही संन्यासी के पास इससे भी कोई अधिक मूल्य वाली चीज होगी, तभी तो उसने इस कम मूल्य वाले पत्थर को फेंका है। अगर इससे बढ़िया वस्तु नहीं होती तो वह इसे कभी नहीं फेंकता। संन्यासी इतना मूर्ख तो नहीं है। वह मुड़ा। संन्यासी के पास आकर बोला–'महाराज! मुझे पारस नहीं चाहिए। मुझे तो वह वस्तु दें, जिसे पाकर आपने पारस को फेंका था।' बहुत सुंदर तर्क दिया उसने।

यह निश्चित है कि पारस से भी मूल्यवान वस्तु को पाए बिना, हस्तगत किए बिना, कोई भी व्यक्ति पारस को नहीं फेंक सकता। पारस से भी कोई मूल्यवान वस्तु मिल जाती है तब पारस का मूल्य घट जाता है, व्यक्ति उसे फेंक देता है। रैदास के मन में पारस के प्रति आकर्षण नहीं हुआ, क्योंकि वे उससे भी बहुत अधिक मूल्यवान वस्तु प्राप्त कर चुके थे। उनका आकर्षण उस तुच्छ वस्तु से हटकर महान वस्तु पर केन्द्रित हो गया था।

मानसिक एकाग्रता

तेरापंथ धर्मसंघ के चौथे आचार्य हुए हैं श्रीमज्जयाचार्य। वे मुनि अवस्था में थे। एक बार वे पाली में आए। बाजार की दुकान में ठहरे हुए थे। उनकी अवस्था छोटी थी। वहां एक नट-मंडली आई हुई थी। दुकान के सामने वाले

मैदान में नटों ने अपने करतब दिखाने प्रारंभ किए। सैकड़ों दर्शक एकत्रित हो गए। नाटक प्रारंभ हुआ। घंटाभर चला, संपन्न हो गया।

दर्शकों में एक भाई था, जिसने अपने साथियों से कहा–'तेरापंथ धर्म संघ की नींव सौ वर्षों के लिए और मजबूत हो गई।' उन्होंने पूछा–'तुमने यह कैसे जाना? क्या कोई ज्ञान हुआ? या ऐसे ही गप्प हांक रहे हो?' उसने कहा–'नाटक घंटाभर चला। नट बड़े सुंदर करतब दिखा रहे थे। मैंने नाटक देखा ही नहीं। मैं तो सामने वाली दुकान में स्थित छोटी अवस्था वाले मुनि को ही देखता रहा। उस मुनि ने आंख उठाकर भी उस ओर नहीं देखा। मैं एकटक उस मुनि की मानसिक एकाग्रता को ही देखता रहा। जिस संघ में ऐसे मुनि होते हैं, उस संघ की नींव मजबूत होती जाती है।'

मुनि की यह भावना क्यों बनी? यह परिवर्तन कैसे आया? क्या ऐसा होना स्वाभाविक है? नहीं, बिल्कुल नहीं। हर आदमी ऐसी स्थिति में रस लेता है। बूढ़ा हो या जवान, बालक हो या किशोर, स्त्री हो या पुरुष सब मनोरंजन में रस लेते हैं। सबकी आंखें नाटक देखने के लिए उत्सुक हो जाती हैं, पर मुनि ने एक क्षण के लिए भी नाटक की ओर दृष्टिपात नहीं किया। क्यों? इसका एक ही कारण है कि उसका मन नाटक को देखने से प्राप्त आनंद की भूमिका से ऊपर उठ चुका था। उसके लिए नाटक का आकर्षण समाप्त हो चुका था। वह आनंद की ऊंची भूमिका में विहरण कर रहा था। बाह्य आनंद के स्रोत उसमें आकर्षण पैदा नहीं करते। वह बड़ा नाटक देख रहा था। उसके लिए यह नाटक निकम्मा और बेकार था।

यह सनातन सत्य है कि श्रेष्ठ वस्तु की प्राप्ति हो जाने पर सामान्य वस्तुओं के प्रति आकर्षण ही समाप्त हो जाता है। कोई रोटी खा रहा है। सामने मिठाई आ गई। हाथ रोटी से हटकर मिठाई पर चला जाएगा। रोटी का मूल्य मिठाई की तुलना में कम है। रोटी का मूल्य कम हो गया। मिठाई का मूल्य अधिक हो गया। रोटी का आकर्षण कम हो गया। मिठाई का आकर्षण बढ़ गया। जिस श्रेष्ठ वस्तु के प्रति आपका आकर्षण है, वह उससे कम श्रेष्ठ वस्तुओं के आकर्षण को समाप्त कर देता है।

एकाग्रता की भूमिका

हमारे संघ के एक संत हुए हैं सतीदासजी। आचार्य भिक्षु जब उन्हें याद करते और संत जाकर उनसे कहते कि स्वामीजी (आचार्य भिक्षु) आपको याद

कर रहे हैं, बुला रहे हैं, उस समय उनके हाथ सहसा जुड़ जाते। उस स्थिति में हाथ में जो भी होता, चाहे काष्ठ की पात्री ही क्यों न हो, वह नीचे गिरकर चूर-चूर हो जाती। उन्हें यह भान नहीं रहता कि हाथ में रही हुई चीज को नीचे रखकर फिर हाथ जोड़ूं। वे तो स्वामीजी का आदेश सुनते ही हाथ जोड़ लेते। यह उनका स्वभाव ही बन गया था। आचार्य की आज्ञा के प्रति उनका इतना आकर्षण पैदा हो गया था कि उस आकर्षण के सामने उन्हें यह बोध ही नहीं रहता कि हाथ में पानी से भरा पात्र है, आहार से भरी पात्री है या पन्ना है। जो भी होता, वह नीचे भूमि पर गिर पड़ता। उनका मन उस भूमिका पर चला गया था, जहां और आकर्षण समाप्त हो गए।

साधना है मन को उस भूमिका पर ले जाना जहां पहुंचने पर एक परम भूमिका प्राप्त होती है, एक विशेष आकर्षण पैदा होता है, जिसमें सारे दूसरे आकर्षण समाहित हो जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं। यह एकाग्रता की भूमिका है। यही मानसिक समाधि है, चित्त की समाधि है। इस स्थिति में पहुंचने वाला साधक अनगिन समस्याओं का पार पा जाता है। वस्तु जगत में जितने असंतोष, लालसाएं, जितनी वासनाएं, जितनी आकांक्षाएं, जितने संघर्ष उत्पन्न होते हैं, साधक इनसे छुटकारा पा लेता है। ये सारी समस्याएं समाहित हो जाती हैं। साधक उनका पार पा जाता है।

हमारा ध्येय ऊंचा होना चाहिए, आत्माभिमुख होना चाहिए। नीचा ध्येय नहीं होना चाहिए। एकाग्रता ऊंचे ध्येय में भी काम करती है और नीचे ध्येय में भी। उसकी कार्यक्षमता में एकाग्रता कोई बाधा नहीं है। एक धारा में बहने वाले मन से यह उत्पन्न होती है। मन एक धारा में ऊपर की ओर भी बह सकता है और नीचे की ओर भी बह सकता है। इस बहाव से शक्ति पैदा होती है। ऊर्जा उत्पन्न होती है। वह तो अपना करतब दिखाएगी ही। यदि मन को नीचे ध्येय में एकाग्र कर लिया तो विस्फोट नीचे स्तर पर होगा। वह काम का नहीं। वह नीचे ले जाने वाला होगा। चेतना के प्रवाह को नीचे ले जाएगा। यदि ऊंचे ध्येय में मन को एकाग्र किया है, मन को नियोजित किया है तो विस्फोट होगा ऊंचे स्तर पर। वह मन को विकसित करेगा। वह अनेक उपलब्धियों का वाहक होगा।

एकाग्रता अच्छी है, पर उसके लिए भी समय की सीमा है। उसका हमें ख्याल रखना चाहिए। आज बीज बोया और आज ही वृक्ष बन जाए, यह असंभव है। उसके लिए काल की अवधि है। इसी प्रकार एकाग्रता के फलीभूत

होने की भी कालावधि है। आज एकाग्रता का अभ्यास प्रारंभ किया। पांच-दस-बीस मिनट का अभ्यास होने लगा। यह अच्छा है, पर पूरा नहीं है। यह उसका अंतिम फल नहीं है। अभी वह बीज अंकुरण की अवस्था में है। पौधा बनने में उसे समय लगेगा। काल का पूरा परिपाक होने पर ही वह बीज वृक्ष बनेगा; पहले नहीं। इसी प्रकार यदि आप अपने मन को एक धारा में तीन घंटे तक बहा सकें तो आपको लगेगा कि एकाग्रता सिद्ध हो गई है। उसमें फल लगने लगे हैं। हमें इस काल-मर्यादा को भी समझना चाहिए।

कैसे हो एकाग्रता?

प्रश्न होता है कि एकाग्रता कैसे हो? यह प्रश्न स्वाभाविक है। मन चंचल है। वह एक धारा में बहना नहीं चाहता, एक दिशा में चलना नहीं चाहता। ऐसी स्थिति में एकाग्रता प्राप्त नहीं होती। मन को एक धारा में कैसे बहाएं? यह अनुभूत तथ्य है कि मन जब तक सूक्ष्म नहीं होगा, वह एक दिशा में नहीं चलेगा। मन को सूक्ष्म किए बिना हम उसे एक ध्येय पर नहीं टिका सकते। मन को सूक्ष्म कैसे किया जाए? यह प्रश्न है। मन को सूक्ष्म करने का उत्तम उपाय है श्वास का अभ्यास। श्वास पर ध्यान केन्द्रित करना, मन को लगाना, मन को सूक्ष्म करने का अचूक उपाय है। होंठ का ऊपरी भाग या नाक का निचला भाग, जहां श्वास का स्पर्श होता है, घर्षण होता है, वहां मन को केन्द्रित करना, उस स्पर्श-बिंदु पर मन को टिकाना, आने वाले श्वास और जाने वाले श्वास के स्पर्श का अनुभव करना, इससे श्वास लंबा और सूक्ष्म हो जाएगा। इसका अभ्यास जितना कर सकें, आप करें। दस-बीस-तीस या साठ मिनट तक करना चाहें तो करें। कोई आपत्ति नहीं है। इस अभ्यास-काल में आपको अनुभव होगा कि मन जो गधे की भांति अतीत की स्मृतियों का, वर्तमान के चिंतन का और भविष्य की कल्पनाओं का भार ढो रहा था, अब वह एक-एक कर सारे भार को नीचे गिरा रहा है और हल्का हो रहा है। जैसे ही मन हल्का होता है, उसे आपने जिस दिशा में लगा दिया वह मुड़ेगा नहीं, उसी दिशा में चलता जाएगा। श्वास के द्वारा, श्वास की प्रक्रिया के अभ्यास के द्वारा, हम मन को हल्का करें। उसे हल्का कर एक दिशागामी बनाएं और लंबे समय तक एक ही दिशा में प्रवाहित करें तो एकाग्रता सिद्ध हो सकती है और उससे वे सारे परिणाम प्राप्त होंगे, जो यथार्थ में होने चाहिए।

25. साधना के तीन पक्ष

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो अनेक प्रयोग सिखाते हैं और करते भी हैं। उनके विशेष साधना होती है, किंतु सामान्य आदमी के लिए यह संभव नहीं है, क्योंकि कुछ प्रयोग ऐसे हैं, जिनमें हर व्यक्ति जा नहीं सकता। जाता है तो कठिनाई से गुजरता है। यह अपनी क्षमता, शक्ति और विशेष योग्यता पर निर्भर है, किंतु ऐसे भी प्रयोग हैं, जो सर्व-सामान्य हैं। प्रत्येक व्यक्ति उन्हें कर सकता है। वे सबके लिए संभव हैं। मैंने पहले यह सोचा भी था कि इस शिविर में एक प्रयोग किया जाए और अगले शिविर तक उसकी साधना चले, फिर दूसरा प्रयोग किया जाए और उसे भी तब तक चलाया जाए, जब तक कि दूसरा शिविर आयोजित न हो जाए। प्रत्येक प्रयोग छह मास तक अवश्य चले। अनुभव में आ जाए तो फिर उसे लंबा किया जाए।

अध्यात्म : विकास की उच्च भूमिका

साधना के तीन पक्ष हैं–अध्यात्म, प्राण और व्यवहार। हमें केवल प्राणविद्या पर अटकना नहीं है। हमारा मुख्य ध्येय है अध्यात्म, आत्मिक विकास। यह चैतन्य-विकास की सबसे ऊंची भूमिका है।

दूसरी है प्राण का प्रयोग। वह भी आवश्यक है। हम प्राणबल, मनोबल और शक्ति का विकास करें, जिससे कि अध्यात्म तक पहुंचने में सुविधा हो।

तीसरी बात है व्यवहार की। अध्यात्म की साधना चल रही है। प्राण की साधना चल रही है और यदि व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं आता है तो लोगों के लिए मखौल की बात बन जाती है। हमारा व्यवहार भी साथ-साथ बदलना चाहिए। अध्यात्म का विकास होता है तो व्यवहार अपने आप बदलता है, बदले बिना रह नहीं सकता, फिर भी उसकी साधना साथ-साथ चलनी चाहिए। व्यवहार की साधना भी अध्यात्म के लिए पूरक और सहयोगी सिद्ध होगी।

लंबा श्वास लें

अध्यात्म की दृष्टि से आप छह मास तक अहं-विसर्जन का प्रयोग करें। अहंकार और ममकार ये दो ही हमारी अध्यात्म-साधना की, चैतन्य-विकास की बाधाएं हैं। आप अहं-विसर्जन का अभ्यास करें।

प्राण-साधना की दृष्टि से दो बातें हैं–एक है दीर्घश्वास और एक है समताल श्वास। आप इन दोनों का अभ्यास करें। श्वास लंबा लें। श्वास जितना लंबा होगा, उतना ही मन में विकार कम आएगा, क्रोध कम आएगा, आवेग कम आएगा। श्वास जितना छोटा होता है, उतने ही विकार ज्यादा आते हैं। जब श्वास लंबा होता है, पूरा होता है, वह हमारे भीतर जो उत्तेजना देने वाले पदार्थ हैं, उन्हें बाहर निकाल फेंकता है। उसके पीछे एक वैज्ञानिक कारण है। फेफड़े में रक्त की छनाई होती है। हार्ट पंपिंग का काम करता है। वहां से रक्त का पंपिंग होता है, सारे शरीर में पहुंचता है। वह संस्कारों को लेकर बहता है। जितना शुद्ध रक्त जाएगा, मन उतना ही शांत रहेगा। आवेग कम होंगे। रक्त जितना दूषित होगा, स्वभाव चिड़चिड़ा बन जाएगा, क्रोध अधिक आने लगेगा।

जब हम दीर्घश्वास लेते हैं, पूरा श्वास लेते हैं तो जितना कार्बन है, जितनी खराबी जमती है, वह सारी की सारी उस श्वास के साथ बाहर निकल जाती है। श्वास छोटा लेते हैं, पूरा ऑक्सीजन अंदर नहीं जाता है और भीतर जो मैल जमा है, वह भी पूरा नहीं निकलता। इसलिए आदमी का स्वभाव नहीं बदलता। दीर्घश्वास का अभ्यास बहुत आवश्यक है।

समतालश्वास

दूसरी बात है, हम समतालश्वास लें। संगीत में जब तक ताल सम नहीं होता, तब तक संगीत का आनंद नहीं आता। ताल सम होना चाहिए। श्वास में भी ताल का मूल्य है। श्वास समताल होना चाहिए। जितने समय में पहला श्वास लिया, जितने समय रोका या छोड़ा, दूसरा श्वास भी उतने समय में आए, तीसरा श्वास भी उतने ही समय में आए। समय का अंतर न हो। जब हम चलते हैं तब एक पैर यहां रखा, दूसरा पैर एकदम आगे रख दिया, तीसरा और कहीं रख दिया तो गति नहीं बनेगी। गति तब बनती है जब पैर बराबर उठते जाते हैं। समतालश्वास आवश्यक होता है।

मान लीजिए कि पहला श्वास लेने-छोड़ने में बीस सेकंड लगते हैं, दूसरे-तीसरे श्वास में भी बीस सेकंड ही लगने चाहिए। यह है समतालश्वास।

इससे एक ऐसी लयबद्धता उत्पन्न होती है कि आदमी सहज ही ध्यान की स्थिति में चला जाता है, शांत हो जाता है। ध्यान का मतलब यह नहीं कि हम बैठकर जो करते हैं, वही ध्यान है। जब हमारा मन शांत रहे, उद्विग्न न हो, वह सारी ध्यान की ही स्थिति है। यह समतालश्वास की निष्पत्ति है। प्राण की दृष्टि से दो बातें हैं–दीर्घश्वास और समतालश्वास।

करुणा का अभ्यास

तीसरी बात है व्यवहार की। व्यवहार की दृष्टि से साधक को करुणा का अभ्यास करना चाहिए। यह अभ्यास अगले सत्र तक चले। प्रतिपल हम इसका जागरूकता से अभ्यास करें। अपने बच्चों के प्रति, अपने परिवार के प्रति, अपने नौकर के प्रति करुणा करें, सबके प्रति करुणा करें। किसी के प्रति क्रूर व्यवहार न करें, क्रूरता न दिखाएं। जब कभी मन में क्रूरता आएगी हम संभलेंगे और करुणा करेंगे। यदि करुणा हमारे मन में आती है, जीवन में आती है तो अनेक व्याधियां अपने-आप मिट जाती हैं। बहुत सारे अन्याय क्रूरता के कारण होते हैं। आदमी क्रूर होकर अन्याय करता है। यदि करुणा का अभ्यास होता है, विकास होता है तो सारी स्थितियां समाप्त हो जाती हैं। जैन परंपरा में यह माना गया है कि जिसमें करुणा नहीं है, वह सम्यक्दृष्टि भी नहीं हो सकता। सम्यक्दृष्टि का एक लक्षण है अनुकंपा। यदि आदमी में अनुकंपा है, करुणा है तो वह सम्यक्दृष्टि है। यदि करुणा नहीं है तो वह मिथ्यादृष्टि है। यह कसौटी है पहचानने की कि कौन सम्यक्दृष्टि है और कौन मिथ्यादृष्टि। यह हमारे व्यवहार का सूत्र है।

अध्यात्म की साधना में अहं का विसर्जन, प्राण की साधना में दीर्घश्वास तथा समतालश्वास और व्यवहार की साधना में करुणा का अभ्यास–ये प्रयोग के तीन आयाम हैं। इनसे तीन बातें फलित होंगी, सिद्ध होंगी। पहली बात होगी अहं का विसर्जन, दूसरी बात होगी वासना-विजय, तीसरी बात होगी करुणा का अभ्यास।

जप का प्रयोग

इनके साथ एक बात और है। चौथी बात है जप। इन तीनों बातों को बल देने के लिए जप बहुत ही आवश्यक है, इससे हमारी सारी शक्ति में परिवर्तन होता है। शक्ति का विकास होता है। जप प्राणशक्ति और आत्मशक्ति दोनों को प्रभावित करता है। इसके लिए आप नवकार का जप करते हैं, माला

फेरते हैं। आप नमस्कार मंत्र का एक चरण लें 'णमो अरहंताणं'। इस चरण का आपको जप करना है। श्वास लेते समय इसका जप न करें, उच्चारण न करें। श्वास छोड़ते समय भी इसका जप न करें। पूरक में भी इसका जप न करें और रेचन में भी इसका जप न करें। इसका जप कुंभक की अवस्था में करें। आपने श्वास लिया, पूरक किया, अभी उसे अंदर टिकाए हुए हैं। कुंभक की अवस्था में हैं। श्वास को बाहर छोड़ा नहीं है। इस अवस्था में आप उसका जप करें। 'णमो अरहंताणं' का उच्चारण करें, फिर श्वास को निकाला, फिर श्वास लिया। निकालते समय भी जप नहीं करना है, फिर श्वास को अंदर रोका, कुंभक हुआ। तब 'णमो सिद्धांण' का जप करें। कुंभक की स्थिति में ही जप हो। यह जरूरी नहीं कि पूरी माला ही फेरी जाए। दस बार भी इस विधि से यदि नमस्कार महामंत्र का जप होता है तो वह बहुत लाभदायी है, मूल्यवान है। जितनी आपको सुविधा है, उतनी देर करें, पर कम से कम इक्कीस बार अवश्य करें। एक माला फेरते हैं तो बहुत अच्छा है, अन्यथा इतना तो अवश्य ही हो। आपकी स्थिरता बढ़ेगी। एकाग्रता बढ़ेगी। जप करने की यह एक विधि है। कुंभक की स्थिति में जप हो, पूरक और रेचक के बीच की स्थिति में जप हो। यह भी एक विधि है।

इसके साथ-साथ रंग का ध्यान भी आवश्यक है, स्थान का ध्यान भी बहुत जरूरी है। किस पद को किस रंग के साथ, शरीर के किस भाग में जपना है, यह जानना भी जरूरी है। जप के साथ चार बातें जुड़ गईं–पद, रंग, स्थान और श्वास की स्थिति।

हम 'णमो अरहंताणं' को लें। इसका वर्ण है श्वेत और स्थान है मस्तिष्क, सहस्रार चक्र। इस पद का उच्चारण करते समय मन सहस्रार चक्र में स्थित हो और श्वेत वर्ण का चिंतन हो, अभ्यास हो। सहस्रार चक्र अर्थात् ब्रह्मरंध्र, तालू के ऊपर का भाग। हमारी स्थिति कुंभक की हो। चारों बातें हो गईं–

पद है अरहंताणं

रंग है श्वेत। स्थान है सहस्रार चक्र (ब्रह्मरंध्र, तालू के ऊपर का स्थान)। श्वास की स्थिति है कुंभक। अंतःकुंभक।

'णमो सिद्धाणं'

यह दूसरा पद है। इसका वर्ण है लाल। इसका स्थान है ललाट का मध्य भाग, आज्ञाचक्र। श्वास की स्थिति होगी कुंभक।

'णमो आयरियाणं'

यह तीसरा पद है। इसका रंग है पीला। इसका स्थान है विशुद्धि चक्र, गला। यह पवित्रता का स्थान है, हमारी सारी भावनाओं और आवेगों पर नियंत्रण रखने वाला यही स्थान है। श्वास की स्थिति होगी अंतःकुंभक।

'णमो उवज्झायाणं'

यह चौथा पद है। इसका रंग है नीला। इसका स्थान है हृदय-कमल। श्वास की स्थिति है कुंभक।

'णमो लोए सव्वसाहूणं'।

यह पांचवां पद है। इसका रंग है कृष्ण, काला। इसका स्थान है पैरों का अंगूठा। श्वास की स्थिति है कुंभक।

पांचों पदों के वर्ण भिन्न हैं, स्थान भिन्न हैं। श्वास की स्थिति पांचों में समान है। प्रत्येक के साथ पद, वर्ण, स्थान और श्वास की स्थिति चारों बातें जुड़ी हुई हैं। अब इनके साथ हमारे मन का पूरा योग रहना चाहिए। मन का योग होने से पांच बातें हो गईं। पांचों का विधिवत् योग होने से ही जप शक्तिशाली होता है। एक की भी कमी परिणाम में न्यूनता ला देती है।

प्रयोग के परिणाम

आप अहं का विसर्जन करना चाहते हैं, करुणा का विकास करना चाहते हैं और श्वास पर नियंत्रण चाहते हैं। ये तीनों इस जप से सधते हैं। मंत्र शक्तिशाली बन जाता है। आप समझते हैं कि नवकार मंत्र का इतना जाप किया, इतनी मालाएं फेरीं, वर्षों तक क्रम चलता रहा, पर दृश्य लाभ कुछ भी नहीं हुआ। यह अनुभूति एक की नहीं, अनेक व्यक्तियों की है। आप ऊपर बताए हुए क्रम से जप करें और छह मास बाद बताएं कि परिवर्तन हुआ या नहीं? परिवर्तन अवश्य होगा। जो लोग बहुत प्रयोगों में जाना नहीं चाहते, जिनमें अनेक प्रयोग करने की क्षमता भी नहीं है, वे इस एक प्रयोग को पकड़ें। इसे हृदयंगम कर लें। इससे चार बातें फलित होंगी।

पहली बात है अहं का विसर्जन। इसका अर्थ है विनम्रता। यह भी एक समाधि है। भगवान महावीर ने चार समाधियां बतलाई हैं–विनय समाधि, श्रुत समाधि, तप समाधि और आचार समाधि। पहली है विनय समाधि। यह है अहं का विसर्जन। अहं स्वयं ही उद्दंडता है, प्रकृति का उद्धतपन है। आदमी अपने आपको बहुत मानने लग जाता है।

विनय का अर्थ क्या है? विनय का मतलब है 'विनयनं', दूर कर देना, हटा देना। जो हमारे भीतर कषाय का भाव है, अहं है, उसे दूर करना, यही है विनय, विनम्रता। विनम्रता दूसरे के प्रति नहीं होती। यह अपना स्वयं का गुण है। अहंकार स्वयं का ही दोष है। विनय का अभ्यास करना, विनय समाधि में रहना, आत्म-समाधि में रहना है। यह समाधि अहंकार के विसर्जन से फलित होती है। इससे स्वयं को समाधान मिलता है, एकाग्रता सिद्ध होती है।

दूसरी बात है करुणा का अभ्यास।

तीसरी बात है प्राण की साधना।

चौथी बात है मंत्र का विधिवत् जप।

ये चारों बातें मिलती हैं तब पूरा प्रयोग बनता है। इस प्रकार के प्रयोग से सिद्धि प्राप्त होती है। इससे हमारा चतुर्मुखी विकास होता है। किसी एक अंश का विकास नहीं होता, सब अंशों का विकास होता है। केवल प्राणकोश का विकास हो जाए और स्वभाव न बदले तो वह शक्ति हमारे लिए बहुत खतरनाक बन जाती है, दुःखदायी बन जाती है। हम आत्मा का विकास करना चाहते हैं, किंतु यदि प्राण का विकास नहीं होगा तो दुर्बल प्राण आत्मा तक नहीं पहुंच पाएंगे। उपनिषदों में एक सुंदर बात कही है–**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**–वीर्यहीन व्यक्ति आत्मा को नहीं पा सकता। कमजोर कुछ नहीं कर सकता, कुछ नहीं पा सकता। इसके लिए दो बातें जरूरी हैं–करुणा का अभ्यास और अहं का विसर्जन। आप संकल्प के सहारे चलें। करुणा का व्यवहार में प्रयोग होगा। अभी आप किस पर क्रूरता करते हैं? किस पर करुणा करते हैं? यह स्वयं आप पर निर्भर है। आपको स्वयं सोच-समझकर प्रयोग करना है। दीर्घश्वास, समतालश्वास और नमस्कार मंत्र का जाप इनका प्रयोग सीखा जा सकता है।

26. निर्विचार ध्यान

चीनी सम्राट ने एक ध्यान-साधक को आमंत्रित कर कहा–'मैं उपदेश सुनना चाहता हूं। आप मुझे उपदेश दें।' साधक बैठ गया। सम्राट प्रतीक्षा में है कि संत के मुख से कोई शब्द निकले। आधा घंटा बीत गया। सम्राट की प्रतीक्षा चालू है और संत का मौन चालू है। घंटा बीता। सम्राट अधीर हो गया। उसने कहा–'भंते! आपको यहां उपदेश देने के लिए आमंत्रित किया है। मैं अत्यंत उत्सुक हूं आपका उपदेश सुनने के लिए। आप मौन हैं। आप बोलें। कुछ कहें।' सम्राट का मंत्री ध्यान का मर्म समझता था। उसने कहा–'राजन्! उपदेश समाप्त हो चुका है। अब तो जाने की तैयारी है।' संत उठकर चले गए।

जो बात नहीं बोलकर, मौन रहकर समझाई जा सकती है, वह बोलकर नहीं। यह मेरे लिए भी एक समस्या है। नहीं बोलने के द्वारा जो बात समझ में आ सकती है, वह बोलने के द्वारा समझ में भी नहीं आ सकती, पर कभी-कभी मौन के लिए भी बोलना जरूरी हो जाता है। जो भाषा से समित है, वह दिनभर बोलता हुआ भी नहीं बोलता। निर्युक्तिकार का यह रहस्य-सूत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जो विकल्प के जाल में फंसा हुआ नहीं है, वह बोलता हुआ भी नहीं बोलता और जो विकल्प से प्रताड़ित है, वह नहीं बोलता हुआ भी बोलता है।

हम मन को समाप्त करके ही निर्विचारता तक पहुंच सकते हैं। निर्विचारता तक पहुंचने के लिए मन का विचरण बंद करना होगा। जहां तक मन सक्रिय है, मन विचरण कर रहा है, घूम रहा है, संक्रमण कर रहा है, परिव्रजन कर रहा है, तब तक निर्विचार ध्यान नहीं होगा। मन का संक्रमण बिल्कुल बंद हो जाए, यह अपेक्षित है। एक शब्द से दूसरे शब्द पर, एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक चिंतन से दूसरे चिंतन पर मन विचरण करता है। हम मन को एकाग्र करते हैं, फिर भी शब्द का चक्र चलता है। उसका विचरण होता है। मन की चंचलता समाप्त नहीं होती। चंचलता एकाग्रता में भी रहती है, किंतु वह चंचलता इतनी सीमित

हो जाती है कि हम मन को स्थिर मान लेते हैं। इसका तात्पर्य है कि वही (मन) एक विषय में चंचल होता है, शेष विषयों में वह संक्रमण नहीं करता, इसलिए उसे स्थिर मान लेते हैं। यह वास्तविक स्थिरता नहीं है। यह पूर्ण स्थिरता नहीं है, आंशिक स्थिरता है या चंचलता का वर्जन है। उस वर्जना को लेकर हम उसे स्थिर और शांत मान लेते हैं, किंतु जहां विचार है, घूमना है, पर्यटन है, वहां स्थिरता कैसे हो सकती है? मन की स्थिरता होने पर तो निर्विचारता की स्थिति आ जाती है। तब कोई विचार नहीं होगा, कोई चिंतन नहीं होगा। केवल स्वभाव में ठहरना होगा।

निर्विचार ध्यान का अर्थ ही है स्वभाव में ठहर जाना, अपने में स्थित हो जाना, अपनी प्रकृति में ठहर जाना, अपनी मूल चेतना में ठहर जाना। कोरा ज्ञान होना और कुछ भी नहीं होना। कोरा ज्ञान होना ही निर्विचार है। वहां विचार नहीं रहा, केवल दर्शन है, केवल बोध है। हम भी केवल ज्ञानी हो सकते हैं। आप न मानें कि आज कोई केवल ज्ञानी नहीं हो सकता। पहले होता था तो आज भी हो सकता है। आप भी हो सकते हैं, मैं भी हो सकता हूं, हर कोई हो सकता है। जहां भी मन का विचरण बंद हुआ, पर्यटन बंद हुआ और मन आत्मा में लीन हुआ, कोरी चेतना का व्यापार शुरू हुआ तो हम केवलज्ञानी हो गए। केवलज्ञान का मतलब है शुद्ध ज्ञान, कोरा ज्ञान, अकेला ज्ञान, ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

शब्द एक : अर्थ अनेक

'केवल' शब्द के तीन अर्थ हैं–अकेला, शुद्ध और परिपूर्ण। 'केवल' का एक अर्थ है अकेला। जब हम ज्ञान करते हैं, कुछ संवेदन नहीं करते, तब हमारा ज्ञान अकेला ज्ञान हो गया, केवलज्ञान हो गया।

'केवल' का दूसरा अर्थ है शुद्ध। जब हम कोरा ज्ञान करते हैं, संवेदन नहीं करते, ज्ञान के साथ संवेदन को नहीं जोड़ते, तब हमारा ज्ञान शुद्ध होता है, शुद्ध उपयोग होता है, उस अर्थ में भी हम केवलज्ञानी हो जाते हैं।

'केवल' का तीसरा अर्थ है परिपूर्ण। परिपूर्णता अपने आप आएगी। जब कोरा ज्ञान होगा, केवलज्ञान होगा तब परिपूर्णता अपने आप आएगी। हम लाने नहीं जाएंगे, निमंत्रण नहीं देंगे। उस परिपूर्णता को स्वयं आना होगा। जब हमारा ज्ञान अकेला है, हमारा ज्ञान शुद्ध है तब परिपूर्णता स्वयं आएगी। उसे आना ही होगा। वह हमारे से पृथक् रह नहीं सकती।

जब हम शुद्ध उपयोग की स्थिति में चले जाते हैं तब हमें निर्विचारता की स्थिति प्राप्त हो जाती है। उपयोग का अर्थ है चेतना की प्रवृत्ति, चैतन्य का व्यापार। जहां चैतन्य का व्यापार शुद्ध है, मिलावट नहीं है, वह शुद्ध उपयोग की स्थिति है। यही निर्विचारता की स्थिति है। यहां सारे संवेदन समाप्त हो जाते हैं।

एक पौराणिक कहानी है। एक संत था। वह बहुत प्रसिद्ध हो गया। हजारों की संख्या में लोग आने लगे। कुछ अच्छे लोग भी आते थे, कुछ बुरे लोग भी आते थे। संत के पास आने-जाने की किसी को रुकावट नहीं थी। एक दिन एक दुर्जन आदमी संत के पास आकर बैठ गया। उसके मन में कोई जिज्ञासा नहीं थी। वह संत को चिढ़ाने के लिए इधर-उधर के प्रश्न पूछने लगा। उसका मन दूषित था। उसका मन आग्रह और विवाद से भरा था। उसके मन में केवल आग्रह था, केवल विवाद था, केवल कुतर्क था, समझने का कोई भाव नहीं था। उसने प्रश्न पूछे। संत ने शांतभाव से उत्तर दिए। विविध प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया, पर वह सारा पानी मथने जैसा था। दही का मंथन होता तो नवनीत निकलता। पानी को मथने से क्या हाथ आ सकता है? वैसा ही हुआ। उसने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। संत हैरान हो गया। क्रोध नहीं आना चाहिए था, पर हैरानी ने उसे प्रकट कर दिया। वह साधक ही तो था, सिद्ध नहीं था।

संत ने कहा–'तुम बहुत बड़े दुष्ट हो। निकल जाओ यहां से!' उसे धक्का देकर बाहर निकलवा दिया। कहा जाता है कि संत के समक्ष रात में भगवान प्रकट हुए। उन्होंने संत से कहा–'तुमने बड़ा अन्याय किया। उस व्यक्ति को घर से निकाल दिया।' वह बोला–'भगवन्! और मैं क्या करता? वह दुष्ट था, क्रोधी था, कुतर्की था, कुछ समझने वाला नहीं था, तब मैं क्या करता?' भगवान ने कहा–'तुम भोले हो, जब उसके लिए भी मेरी सृष्टि में स्थान है, मेरे जगत में स्थान है तब तुम्हारे यहां उसका स्थान क्यों नहीं होना चाहिए?' संत बोला–'आप तो परम शुद्ध हैं, मैं शुद्ध नहीं हूं। मैं ऐसे दुष्ट व्यक्ति को स्थान कैसे देता?'

जहां शुद्धता होती है, वहां कोई विकार नहीं होता। जहां शुद्ध चेतना होती है, वहां सबके लिए स्थान हो सकता है, किंतु अशुद्ध चेतना में सबके लिए स्थान नहीं हो सकता। भगवान शुद्ध हैं। शुद्ध के जगत में सबकुछ समा सकता है। अच्छा हो, बुरा हो, गंदा हो, साफ-सुथरा हो, सुघड़ हो, बेडौल हो, कैसा भी हो, सबकुछ समा सकता है। अशुद्धता में सब नहीं समा सकता। वहां

सीमाएं होती हैं। इतना जानो, इतना देखो, इतना अनुभव करो–ये सीमाएं हैं। शुद्धता में सब सीमाएं समाप्त हो जाती हैं। सबकुछ निस्सीम हो जाता है। जब हमारी चेतना शुद्ध हो जाती है, उस स्थिति में चाहे दुर्जन हो या सज्जन, बुरा हो या अच्छा, कैसा भी हो, कठिनाई उत्पन्न नहीं होती।

समभाव की साधना

शुद्ध चेतना या निर्विकार ध्यान की कसौटी और उसका दर्शन है–सुख-दुःख में सम हो जाना। आचार्य कुन्दकुन्द ने बताया है कि शुद्ध चेतना के आने पर साधक सुख और दुःख में समान हो जाता है। उसके लिए सुख और दुःख में कोई अंतर नहीं होता। उसके लिए दोनों समान हैं। यह कैसे घटित होता है? वह क्या मनुष्य जिसको सुख की अनुभूति प्रिय न हो और दुःख की अनुभूति अप्रिय न हो? दोनों में सम रहने की स्थिति क्यों घटित होती है? कब घटित होती है? कैसे घटित होती है? अशुद्ध चेतना में यह कभी घटित नहीं हो सकता। जब हमारी चेतना शुद्ध हो जाती है, कोरे ज्ञान की स्थिति में होती है, उस समय न कोई सुख रहता है और न कोई दुःख रहता है। सुख और दुःख ये दोनों संज्ञाएं समाप्त हो जाती हैं। उस समय न कोई शत्रु रहता है और न कोई मित्र। शत्रु और मित्र ये दोनों संज्ञाएं समाप्त हो जाती है। उस समय न जीने की आशंसा रहती है और न मौत का भय। आशंसा और भय दोनों समाप्त हो जाते हैं। इस स्थिति को भगवान कृष्ण ने गीता में इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है–

सिद्ध्यासिद्ध्योः समो भूत्वा, समत्वं योग उच्यते।

सिद्धि का अर्थ है उपलब्धि, सफलता। असिद्धि का अर्थ है अनुपलब्धि, असफलता। जो साधक सिद्धि और असिद्धि में, उपलब्धि और अनुपलब्धि में सम रहता है, इस समत्व का नाम है योग। समत्व निर्विचारता की स्थिति है।

आत्मा और सामायिक

निर्विचार ध्यान को सामायिक कहा जा सकता है। भगवान महावीर ने जितना बल सामायिक पर दिया, उतना बल किसी पर नहीं दिया। ध्यान सामायिक से अलग नहीं है। सामायिक का नाम ध्यान है। ध्यान और सामायिक दो नहीं हैं। गौतम ने महावीर से पूछा–'भंते! सामायिक क्या है? सामायिक का अर्थ (विषय) क्या है?' भगवान ने छोटा-सा उत्तर दिया, दो ही शब्दों में उत्तर दिया, पर वह उत्तर बहुत महत्त्वपूर्ण है। भगवान ने कहा–**आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे**–आत्मा सामायिक है और आत्मा ही सामायिक

का अर्थ है। जब हम मूल चेतना में होते हैं, आत्मा में ठहरे हुए होते हैं, उस स्थिति का नाम है सामायिक। अपनी आत्मा में होना ही सामायिक है। सामायिक के वेश में होना वास्तविक सामायिक नहीं है। अपनी आत्मा में होना ही वास्तविक सामायिक है। अपनी आत्मा में होना ही सामायिक का अर्थ है, विषय है। आत्मा और सामायिक दो नहीं हैं, एक ही हैं, शब्द दो हैं, पर अर्थ और भावना एक ही है।

आत्मा और ध्यान

आत्मा और ध्यान भी दो नहीं हैं। निर्विचार ध्यान का मतलब है आत्मा में होना। सामायिक का मतलब भी है आत्मा में होना। तीन शब्द हैं–ध्यान, निर्विचारता और सामायिक। तीनों एक हैं। सामायिक में होने का अर्थ है निर्विचार ध्यान में होना और निर्विचार ध्यान में होने का अर्थ है सामायिक में होना। दोनों बातें एक हैं। जैसे ही हम आत्मा में स्थित होते हैं, केवल आत्मदर्शन होता है। कोई संकल्प मन में नहीं होता, कोई विकल्प नहीं होता, मन की गति नहीं होती, मन का विचरण नहीं होता, उस स्थिति में हमारा आत्मरमण होता है और यही स्थिति है समत्व की, सामायिक की। सब ओर से हम समान हो जाते हैं। किसी ओर से विषमता नहीं रहती। यह पूर्ण जागरूकता की स्थिति है, होश की स्थिति है।

पहले नशा था, शराब का न सही, विचार का था। क्या कम है शराब से विचार का नशा? शराब के नशे में तो आदमी पागल होता है, लड़खड़ाता है और कभी गिर भी पड़ता है। कभी दो-चार घंटा मूर्च्छा में रह जाता है, फिर वह सावधान हो जाता है, होश में आ जाता है, किंतु विचार का नशा बहुत शक्तिशाली होता है। घमासान युद्ध विचार के नशे में लड़े जाते हैं। बड़े-बड़े उन्माद विचार के नशे में उत्पन्न होते हैं। कितना विग्रह, कितना उन्माद, कितना झंझट, कितना पागलपन होता है विचार के नशे में, कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

रात का समय था। एक व्यक्ति घर से निकला। एक प्रसिद्ध दार्शनिक के घर पहुंचा। द्वार खटखटाया। दार्शनिक नीचे आया। द्वार खोला। देखा कि एक आदमी खड़ा है। उसका सिर घूम रहा है। उसने सोचा है यह नशे में है। यदि सावधान होता, होश में होता तो इस प्रकार सिर को क्यों घुमाता? दार्शनिक ने पूछा–'इतनी रात गए कैसे आए?'

'एक जिज्ञासा थी। एक प्रश्न पूछना था आपसे!'

'अरे! यह कोई जिज्ञासा करने का समय है? प्रश्न पूछने का वक्त है? इतनी रात बीत गई, बारह बज चुके हैं। यह भी कोई समय है आने का? पूछने का?'

'अभी जिज्ञासा उभरी और चला आया आपके पास। इस नगर में आपसे ज्यादा अक्लमंद आदमी मुझे नहीं मिला। आप बुद्धिमान हैं, मेरी जिज्ञासा का उत्तर दें। मैं पूछना चाहता हूं कि ईश्वर है या नहीं?'

'बड़े अजीब आदमी हो। क्या यही उचित समय था पूछने का? ईश्वर है या नहीं, इस प्रश्न की इतनी क्या जल्दी थी? अभी कोई काम तो नहीं बिगड़ रहा था। घर में कोई आग तो नहीं लगी थी कि अभी का अभी उत्तर पाना है। इतनी जल्दी क्या थी? लगता है, तुम अभी नशे में चूर हो, पागल हो रहे हो, फिर भी प्रश्न का उत्तर चाहते हो?'

'महाशय! नशे में ही यह प्रश्न उठता है। जब जागरूक होता हूं, सावधान होता हूं, तब यह प्रश्न ही नहीं उठता कि ईश्वर है या नहीं। यह तो नशे में ही उठा है, इसी वक्त इसका उत्तर पाना है।'

'जब तुम होश में आ जाओ, तब आना।'

'जब मैं होश में आऊंगा तब कोई दूसरा ही आएगा। मैं पूछूंगा ही नहीं।'

बात होश की हो रही है, पर होश में होता कौन है वास्तव में? संभव है पूछने वाला भी होश में नहीं होता और उत्तर देने वाला भी होश में नहीं होता। विचार का, आग्रह का, मान्यता का इतना भयंकर नशा है कि मन जब दौड़ता है, चंचल होता है तो मन की मादकता, मन की चंचलता आदमी को पागल बना देती है, केवल पागलपन की मात्रा का ही अंतर रहता है। हर आदमी पागल होता है, पर जिसका पागलपन एक सीमा को लांघ जाता है तब हम उसे 'पागल' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। अन्यथा हम उसे पागल की संज्ञा नहीं देते, पर वास्तव में सब पागल हैं। मन की चंचलता में ये सारी बातें पैदा होती हैं। यथार्थ में मन की चंचलता ही पागलपन है। पूर्ण होश की स्थिति में कोई नहीं होता। यह स्थिति आती है निर्विचारता की दशा में। जहां विचार समाप्त हो गया, वहां पागलपन भी समाप्त हो गया, फिर कोई पागलपन नहीं रहता। जहां विचार नहीं है, वहां पूरा होश है, पूरा-पूरा प्रकाश है। कोई अंधकार नहीं है। जहां होश नहीं है, वहां अंधकार और प्रकाश घुले-मिले रहते हैं।

प्रकाश और अंधकार

आप मानते हैं कि अभी यहां अंधकार नहीं है। यदि नहीं है तो आप धूप में जाकर देखें। आपको लगेगा कि जहां धूप में खड़े हैं, वहां प्रकाश अधिक है और यहां कम है। कम प्रकाश का अर्थ ही है अंधकार। यह भी सापेक्ष स्थिति है। अधिक प्रकाश की अपेक्षा कम प्रकाश को अंधकार कह दिया जाता है। भीतर के कमरे की ओर देखिए। आपको लगेगा कि यहां प्रकाश अधिक है, वहां कम है। सामने जो धूप से चमकती दीवार है, उसकी अपेक्षा इस बरामदे में प्रकाश कम है और बरामदे की अपेक्षा भीतर के कमरे में प्रकाश और कम है। हम जब तुलनात्मक दृष्टि से देखते हैं तो जहां प्रकाश मानते हैं, वहां अंधकार भी है। एक बिंदु ऐसा आता है कि जहां पूरा अंधकार समाप्त हो जाता है। हम जिसे ज्ञान मानते हैं, दर्शन मानते हैं, अनुभव मानते हैं, विकास मानते हैं, वहां भी अंधकार छिपा पड़ा है। यह अंधकार तब तक नहीं मिटता, जब तक हमारी चेतना शुद्ध उपयोग में नहीं चली जाती। कोरा ज्ञान और कोरी चेतना का उपयोग नहीं रह जाता, तब तक यह अंधकार भी हमारे साथ-साथ चलता है। प्रकाश की मात्रा कम होती है, हम उसे अंधकार नहीं मानते, किंतु जब गहराई में जाकर विचार करते हैं तो अंधकार होता है।

मुझे एक संस्मरण याद आ रहा है। मद्रास की बात है। मैं एक दिन एक स्थान पर बैठा था, वहां प्रकाश था, किंतु जब लिखने का प्रश्न आया तो मन में विचार उठा कि यहां तो अंधकार है। यहां नहीं लिखा जा सकता। यहां लिखने योग्य प्रकाश नहीं है। मैं उठकर दूसरी जगह गया, जहां अधिक प्रकाश था और वहां लिखना प्रारंभ किया। कुछ लिखा। कुछ समय बाद सूक्ष्म लिपि वाले पत्रे को पढ़ने की जरूरत हुई। अक्षर सूक्ष्म थे। उन्हें पढ़ने के लिए वहां का प्रकाश पर्याप्त नहीं था। वहां से उठकर दूसरी जगह जाना पड़ा। जहां मैं प्रकाश मानता था, वहां अंधकार हो गया। लिखने का प्रश्न आया तो जहां प्रकाश था, वहां भी अंधकार हो गया। मैं उस प्रकाश में आदमी को तो देख सकता था, पर पढ़ नहीं सकता था और जब सूक्ष्म अक्षरों को पढ़ने का अवसर आया तो जहां लिखने के लिए प्रकाश था, वहां फिर अंधकार हो गया। मुझे फिर तीसरी जगह चुननी पड़ी।

ऐसी स्थिति में कैसे माना जा सकता है कि जहां प्रकाश है, वहां अंधकार नहीं। प्रकाश और अंधकार दोनों साथ-साथ चलते हैं। एक बिंदु ऐसा आता है, जहां प्रकाश केवल प्रकाश होता है, अंधकार समाप्त हो जाता है। वह बिंदु

है निर्विचारता की स्थिति। इस बिंदु पर पहुंचते ही सारा अंधकार समाप्त हो जाता है। कोरा प्रकाश रहता है। केवल उज्ज्वलता, कोई अंधकार नहीं। जो देखेंगे, सत्य ही देखेंगे। वहां हमें वास्तविक सत्य का दर्शन होता है। उस प्रकाश में सही सत्य का दर्शन होता है। उस प्रकाश में असत्य की एक रेखा भी नहीं रहती। पूरा प्रकाश प्रकट हो जाता है। निर्विचारता की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

ध्यान और निर्विचारता

ध्यान का पहला प्रयोग है मन की एकाग्रता। एक विचार पर मन को लगाते हैं। एक दिशा में मन प्रवाहित करते हैं। यह अच्छा है। यह आवश्यक भी है। ऐसा किए बिना हमारी गति भी नहीं है। यह अंतिम मंजिल नहीं है। इस पर ही आप न रुक जाएं। इसे ही अंतिम मंजिल न मान लें। इसके साथ भी बहुत अंधकार है, बहुत कल्पनाएं हैं, बहुत भ्रांतियां जुड़ी हुई हैं। होता कुछ है, हम मानते कुछ हैं। ध्यानकाल में हमें कुछ दिखाई देता है। हम उन्हें वास्तविक मान लेते हैं, वे वास्तविक नहीं हैं, हमारी ही मन की परिणतियां हैं। ऐसी चीजें दिखाई देती हैं, ऐसे शब्द सुनाई देते हैं, जो वास्तविक नहीं हैं, ध्यान से उनका कोई संबंध नहीं है, फिर भी हम उन्हें यथार्थ मान लेते हैं। यह सारा एक चक्र है। इस चक्र में भ्रांति या विपर्यास छूट नहीं जाता। इसमें पूरे सत्य का दर्शन नहीं होता। इसमें आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता।

आत्मा निर्विचार है। उस तक विचार से नहीं पहुंचा जा सकता। आत्मा अशब्द है। शब्द के माध्यम से उस तक नहीं पहुंचा जा सकता। आत्मा निर्विकल्प है। विकल्प के द्वारा उस तक नहीं पहुंचा जा सकता। आत्मा अचिंतन है। चिंतन के द्वारा उस तक नहीं पहुंचा जा सकता। वहां पहुंचा जा सकता है निर्विचार, निःशब्द, निर्विकल्प, निश्चिंत और निर्मनस्क स्थिति के द्वारा। उस स्थिति का जो अनुभव होता है, वह अनुभव ही हमारे शास्त्रों की निचोड़ है।

आत्मा का सुख

धर्मशास्त्र कहते हैं कि आत्मा में अनंत सुख है, विषयातीत सुख है, अबाध सुख है। अनंत सुख वह होता है, जिसका कभी अंत नहीं होता। अबाध सुख वह होता है, जिसमें कोई बाधा नहीं होती, विघ्न नहीं होता। यह नहीं होता कि इस क्षण में तो सुख है और दूसरे क्षण में दुःख आ गया। वह अक्षय है, कभी क्षीण नहीं होता। वह सुख विषयातीत है। वह विषयों से प्राप्त नहीं होता। आज हम विषयातीत सुख की कल्पना भी नहीं कर सकते। सामने विषय नहीं

है, विषयों का उपभोग नहीं है, फिर कैसा सुख? शब्द सुनने को नहीं मिल रहे हैं तो फिर कैसा सुख होगा? रूप देखने को नहीं है, फिर सुख कैसा होगा? आंखों को तृप्ति कैसे होगी? सूंघने को बढ़िया गंध नहीं है, फिर घ्राण का सुख क्या होगा? खाने को अच्छा रस प्राप्त नहीं है, फिर जिह्वा का सुख क्या होगा? कैसे होगी रसना की तृप्ति? सुकोमल स्पर्श के अभाव में सुख की कल्पना ही कैसे की जा सकती है? हमारी कल्पना इन इन्द्रियजनित विषय-सुखों को छोड़कर अन्यत्र जाना ही नहीं चाहती। हम मान भी नहीं सकते कि विषयातीत सुख भी होता है।

विषयातीत सुख होता है, यह सच है। उसका इन्द्रियों के विषय में कोई संबंध नहीं है। वह सुख विषय से उत्पन्न नहीं होता। हम ऐसे सुख के बारे में सोच ही नहीं सकते। हम यह मान लेते हैं कि जिन्होंने विषयातीत सुख की बात कही है, उन्होंने अतिरंजन किया है, अतिशयोक्तिपूर्ण बात कही है, अनर्गल बात कही है। हम ऐसा सोचते हैं, यह सोचना गलत नहीं है, क्योंकि हम इन्द्रियों के स्तर का जीवन जी रहे हैं, उसी स्तर पर सोच रहे हैं, मन के स्तर पर सोच रहे हैं। मन के स्तर पर सोचने वाले इससे अधिक और क्या सोच सकते हैं? हमारा क्या दोष है? सोचने का जो स्तर है, चिंतन का जो स्तर है, उसमें यही सोचा जा सकता है जब हम चेतना की शुद्ध अनुभूति के क्षण में जाते हैं, निर्विचारता की शुद्ध अनुभूति में जाते हैं, उन क्षणों में जो सहज आनंद स्फूर्त होता है, जो सुख का अनुभव होता है, वह है सहज सुख, अबाध सुख। उसकी झांकी मिलती है तब अनुभव होता है कि विषयजनित सुख में और सहज स्फूर्त विशुद्ध सुख में कितना अंतर होता है? वह कितना महान होता है? यह निर्विचारता की स्थिति है, आत्मा की स्थिति है, आत्मा के अनुभव की और आत्मरमण की स्थिति है। बाहर से अपने आपको हटाकर अपने आप में ही सिमट जाने की स्थिति है। जो फैला हुआ था, उसे समेटकर थोड़े में कर दिया।

मस्तिष्क में अनगिनत कोष्ठक हैं। एक आदमी के मस्तिष्क को भूमि पर बिछाया जाए तो कन्याकुमारी से कश्मीर तक की भूमि पूरी भर जाएगी, कोष्ठक फिर भी बच जाएंगे। जब वे हमारे मस्तिष्क में होते हैं तब सिमटे हुए रहते हैं। उन्हें हम बाहर फैलाएं, समूची भूमि को भर देंगे। हमारे मस्तिष्क में इतने कोष्ठक हैं।

जब हमारी चेतना का छितराव रुक जाता है, बंद हो जाता है, चेतना सिमटकर, अपनी सारी अनुभूतियों को समेटकर एक केन्द्र में आ जाती है तब उसे कितना शक्ति का अनुभव होता है, इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

जब घर छोड़कर कहीं जाते हैं, दूसरे प्रांत में जाते हैं, विदेश में जाते हैं तो लगता है कि यात्रा हो रही है। यात्रा के अनुभव भिन्न होते हैं। जब यात्रा से लौटकर घर आते हैं तो लगेगा कि मूल स्थान पर आ गए हैं। इसी प्रकार मन का जो छितराव है, वृत्तियों का जो छितराव है, विचारों का जो छितराव है, वह सिमटकर एक केन्द्र में आ जाता है, अपने घर में आ जाता है। वह अनुभूति अलौकिक होती है।

शक्ति का केन्द्रीकरण

आत्मा मन के माध्यम से, इन्द्रियों के माध्यम से, विचार के माध्यम से, स्मृति के माध्यम से, कल्पना के माध्यम से चारों ओर दौड़ती है। उसकी शक्ति छितर जाती है, केन्द्रित नहीं होती। जब हम इन्द्रियों का दरवाजा बंद कर, विचार बंद कर, स्मृति और कल्पना बंद कर, सबको समेटकर, छितरी हुई अपनी चेतना को समेटकर, उसको मूल स्थान में स्थापित कर देते हैं, तब उसकी छितरी हुई शक्ति केन्द्रित हो जाती है। वह बहुत अधिक बढ़ जाती है। उस समय एक विलक्षण अनुभव होता है। यह नहीं कि हम उसका अनुभव नहीं कर सकते।

मैंने हमेशा कहा है कि हम आज भी केवलज्ञान का अनुभव कर सकते हैं। अतीन्द्रिय ज्ञान का अनुभव कर सकते हैं, आत्मा के सहज आनंद का अनुभव कर सकते हैं। हमें केवल इतना-सा करना होगा कि विचारों की भूमिका छोड़कर निर्विचारता की भूमिका पर पहुंचना होगा। स्मृति, कल्पना आदि का परिहार कर कोरे ज्ञान की, शुद्ध चेतना की और शुद्ध उपयोग की स्थिति पर पहुंचना होगा, उसका अनुभव करना होगा।

जागरूकता के साथ यह देखना होगा कि मन का कहीं व्यापार तो नहीं हो रहा है, कहीं मन शुद्ध चेतना की स्थिति में बाधा तो नहीं डाल रहा है। हम देखें और कोरे ज्ञान की स्थिति का अनुभव करें तो आज भी हमारे लिए कुछ भी असंभव नहीं है। जिनको हम असंभव मान बैठे हैं और ऐसी भाषा में मान बैठे हैं कि अब कलिकाल है, कलयुग है, पांचवां आरा है, यह प्राप्त नहीं हो सकता, मोक्ष नहीं मिल सकता, केवलज्ञान नहीं हो सकता आदि-आदि। इस प्रकार की मान्यता ने मन में निराशा, कुंठा भर दी है और आगे बढ़ने वाले हमारे चरण पीछे की ओर पड़ रहे हैं। उनमें बढ़ने की आतुरता ही नष्ट हो गई है। जब हम मान लेते हैं कि अमुक स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती, फिर उसके

लिए प्रयत्न ही कौन करेगा? क्यों करेगा? इस धारणा को हम निकाल दें कि अमुक स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती। क्या हो सकता है, क्या नहीं हो सकता, यह सोचना हमारे अधिकार-क्षेत्र में नहीं है। हमारा अधिकार है चलना, चलते रहना और चरण को आगे से आगे बढ़ाते रहना। चरैवेति, चरैवेति यह है हमारा कर्तव्य। हमारा गति करने का अधिकार है, उस दिशा में बढ़ने का अधिकार है।

हम निर्विचार चेतना की स्थिति में बढ़ने के लिए अपने कदम उठाएं। जो होना होगा, वह अवश्य होगा। जो उपलब्ध होना है, वह हमें प्राप्त हो जाएगा। जो नहीं मिलना है, वह नहीं मिलेगा। पहले चिंता का भार हम क्यों ढोएं? पहले ही चिंता के नीचे हम क्यों दबें?

जिस व्यक्ति ने शुद्ध चेतना की स्थिति का, शुद्ध उपयोग की स्थिति का इतना दृढ़ अभ्यास कर लिया, वह निश्चित ही उस स्थिति में पहुंच जाएगा, जिस स्थिति में पहुंचने पर मोक्ष है या नहीं, परमात्मा है या नहीं, परमात्मा की स्थिति में सुख है या नहीं? ये सारे प्रश्न समाप्त हो जाएंगे, समाहित हो जाएंगे।

27. चेतना की दिशा में परिवर्तन

पुराने जमाने की बात है। एक पथिक यात्रा कर रहा था। बीच में एक जंगल आया। वह जंगल में घुसा। जंगल का कुछ हिस्सा पार किया। वह सफेद कपड़े पहने हुए था। अकेला था। चार व्यक्ति सामने मिले। वे लुटेरे थे। उन्होंने कहा–रुक जाओ। वह रुक गया। चारों ने उसे दबोचना चाहा। वह भी तगड़ा था। हाथापाई शुरू हो गई। कुछ देर तक वह प्रतिरोध करता रहा, पर वह अकेला था और वे लुटेरे थे चार। उन्होंने उसे दबोच लिया। वह थक चुका था। लुटेरों ने उसकी तलाशी ली। सारे कपड़े टटोले, किंतु हैरान। निकला केवल एक पैसा।

उन्हें भी आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा–'अरे! एक पैसे के लिए इतना प्रतिरोध! पहले ही कह देते तो हम हाथ भी नहीं लगाते।' उसने कहा–'प्रश्न पैसे का नहीं है। प्रश्न है आकर्षण का। एक पैसा हो या हजार रुपये, मेरा आकर्षण है धन के प्रति। हजार रुपये होते तो भी आकर्षण उतना ही था और एक पैसा है तो भी उतना ही आकर्षण है। प्रश्न संख्या का नहीं है, प्रश्न है आकर्षण का।'

मूल बात है कि हमारा आकर्षण किस दिशा में जा रहा है। हमारा आकर्षण एक दिशा में है तो हमारी प्रवृत्ति, हमारा चिंतन, हमारी क्रिया एक प्रकार की होगी और यदि हमारा आकर्षण दूसरी दिशा में होगा तो हमारी प्रवृत्ति, हमारा चिंतन, हमारी क्रिया दूसरे प्रकार की होगी। सबकुछ बदल जाता है। आकर्षण की बात मुख्य है। वह सबमें परिवर्तन ला देता है।

व्रत और अव्रत

प्रश्न है अव्रत क्या है? व्रत क्या है? एक दिशा में जाने वाला आकर्षण अव्रत है और दूसरी दिशा में जाने वाला आकर्षण व्रत है। दोनों दो चीजें नहीं हैं, एक ही चीज है। केवल दिशा का परिवर्तन है। दोनों दो दिशागामी पथिक हैं।

जो आकर्षण आत्मा से निकल बाहर की ओर जा रहा है, उस आकर्षण का नाम है अव्रत। जो आकर्षण बाहर से मुड़कर आत्मा की ओर प्रवाहित होता

है, अपनी ओर जाता है, उस आकर्षण का नाम है व्रत। व्रत कोई नई वस्तु नहीं है। आकर्षण की दिशा का परिवर्तन ही व्रत है। हमारा आकर्षण इन्द्रियों के माध्यम से बाहर की ओर जाता है। एक है हमारी मूल चेतना। उस चेतना पर एक वलय है कषाय का। कषाय के वलय के बाद एक है प्रवृत्ति का वलय। कषाय आत्मा और योग आत्मा–ये दोनों द्रव्य-आत्मा से जुड़ी हुई हैं। मूल चेतना, कषाय का वलय और योग का वलय, प्रवृत्ति का वलय। हमारे ज्ञान से जो रश्मियां निकलती हैं, वे जब कषाय से मिश्रित होती हैं तब अपने ज्ञानरूप को छोड़ देती हैं, संवेदना बन जाती हैं।

जब तक ज्ञानधारा में कषाय का मिश्रण नहीं होता तब तक ज्ञान-ज्ञान बना रहता है। जैसे ही कषाय का मिश्रण हुआ, वह संवेदन बन जाता है। वह कोरा ज्ञान नहीं रहता। संवेदन आकर्षण पैदा करता है। राग का आकर्षण पैदा करता है। द्वेष का आकर्षण पैदा करता है। सारे आकर्षण संवेदन के कारण होते हैं। विषयों के प्रति जो आकर्षण होता है, उसका मूल कारण संवेदन है। खाना अच्छा लगता है, क्योंकि जीभ का अपना एक संवेदन है। सुगंध प्रिय लगती है, क्योंकि नाक का अपना एक संवेदन है। उसके प्रति मन जाता है। किसी ने गाली दी तो गाली देने के प्रति आकर्षण हो जाता है, क्योंकि हम ज्ञान में नहीं जीते, संवेदन में जीते हैं।

संवेदन का जीवन प्रतिक्रिया का जीवन है। ज्ञान में आदमी क्रिया करता है। संवेदन में प्रतिक्रिया होती है। ज्ञान स्वतंत्र है, संवेदन परतंत्र। ज्ञान में आदमी स्वतंत्र ढ़ंग से क्रिया करता है, संवेदन में स्वयं कोई क्रिया नहीं होती, प्रतिक्रिया होती है। सामने वाला जैसा करता है, वह वैसा ही कर देता है। सामने वाला गाली देता है तो वह भी गाली देता है। कोई पत्थर मारता है तो वह भी पत्थर मारता है। कोई प्रशंसा करता है तो वह भी प्रशंसा करता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। प्रतिबिंब होता है। स्वतंत्र कुछ भी नहीं होता, आदमी कर भी नहीं सकता।

स्वतंत्र आदमी, स्वतंत्र चिंतन, स्वतंत्र मनन और स्वतंत्र क्रिया–ये सब ज्ञान की अवस्था में ही हो सकते हैं, संवेदन की अवस्था में ये नहीं हो सकते। थाली में भोजन आया। यदि रुचिकर और मनोज्ञ है तो प्रशंसा कर दी, अप्रिय और अरुचिकर है तो गालियां दीं, बुरा-भला कहा। यह सारा प्रतिक्रिया का जीवन है। 'जैसे के प्रति तैसा', शठे शाठ्यं समाचरेत्–ये सारे संवेदन के क्षेत्र

में चलने वाले सिद्धांत हैं, प्रतिक्रिया के क्षेत्र में पनपने वाले सिद्धांत हैं, 'शठे शाठ्यं' का अर्थ ही प्रतिक्रिया है, क्रिया नहीं।

संवेदन के जगत में जीने वाला मनुष्य क्रिया का जीवन नहीं जी सकता। वह क्रिया कर ही नहीं सकता। जो कुछ करता है, वह प्रतिक्रिया होती है। आप अपने कार्यों को देखें। शत-प्रतिशत कार्य प्रतिक्रिया से प्रेरित होंगे। उस आदमी ने मेरा उपकार किया था, मैं भी उसका उपकार करूं। उसने मेरी बुराई-निंदा की थी, मैं भी उसकी बुराई-निंदा करूं। उस आदमी ने मुझे नीचा दिखाया, मैं भी उसे नीचा दिखाऊं। ये सारी प्रतिक्रियाएं हैं। हमारे में अवरोध की ग्रंथियां होती हैं। वे मनुष्य को प्रतिक्रिया का जीवन जीने के लिए बाध्य करती हैं, क्योंकि वहां ज्ञान नहीं, संवेदन है। संवेदन व्यक्ति को अव्रत की ओर ले जाता है। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और ममत्व–ये सारे संवेदन के प्रतिफलन हैं। प्रतिक्रिया के फलित हैं।

आदमी बहुत सारा संग्रह करता है। प्रश्न होता है क्यों? क्या उस संग्रह की उसे आवश्यकता है? क्या वह इतना उपयोगी है? आवश्यकता नहीं है, उपयोग भी नहीं है, फिर भी आदमी संग्रह करता है। इसका मूल कारण है प्रतिक्रिया। वह सोचता है अमुक व्यक्ति ने धन कमाया, अर्जन किया, संग्रह किया तो आज वह समाज में समादृत है। लोग उसको सत्कार देते हैं, सम्मान देते हैं, उसे पूजते हैं। अग्रिम पंक्ति में उसे बिठाते हैं। ऐसी स्थिति में मैं भी धन का संग्रह क्यों नहीं करूं? क्या आपत्ति है धन का संग्रह करने में? इस प्रतिक्रिया से प्रेरित होकर वह धन का संग्रह करता है। उसके लिए उतने धन का कोई उपयोग नहीं है, फिर भी वह संग्रह करता है। उसका चिंतन होता है 'ऐसा करने से ऐसा होता है तो मुझे भी ऐसा ही करना चाहिए।' यह सारा संवेदन का जीवन है, संवेदन का चिंतन है। जब तक हमारी ज्ञानधारा के साथ कषाय की धारा का सम्मिश्रण होता रहेगा, तब तक हम इस प्रकार के जीवन से बच नहीं सकेंगे।

हिंसा अज्ञान में नहीं होती है। कोई भी अज्ञानी (ज्ञानशून्य, अजीव) कभी हिंसा नहीं कर सकता। हिंसा सदा ज्ञानवान जीव करता है। हिंसा भी ज्ञान में होती है। असत्याचरण भी ज्ञान में ही होता है। चोरी भी ज्ञान में होती है। वासनाएं और कामनाएं भी ज्ञान की सीमा में होती है। ममत्व का संग्रह भी ज्ञान की सीमा में होता है। अजीव में कुछ नहीं होता। प्रश्न है यह क्यों होता है? क्या चेतना ऐसा चाहती है? क्या यह आत्मा का धर्म है? क्या यह आत्म-स्वभाव

है? ये क्रियाएं आत्म-स्वभाव नहीं हैं, किंतु **कषायविह्वले ज्ञाने** की दिशा में संपादित होती हैं। जब ज्ञान कषाय से संवलित होता है, विह्वल होता है, तब ये सारी क्रियाएं निष्पन्न होती हैं। जब कषाय का रसायन ज्ञान की धारा में घुलमिल जाता है तब ये असद् आचरण अच्छे लगने लगते हैं, प्रिय लगने लगते हैं। इनके प्रति आकर्षण बढ़ता है।

कषाय का रसायन

किसी ने गाली दी। जब तक गाली का प्रतिकार गाली से नहीं किया जाता, तब तक वह सोचता है–'अरे, मैंने यह क्या कर दिया? गाली का उत्तर गाली से नहीं दिया! लोग क्या सोचेंगे! वे कहेंगे यह तो मिट्टी का है। इसमें कोई कर्तृत्व नहीं है। इतना बड़ा अपमान! इसे यों ही सह लिया। यह तो केवल मिट्टी का पुतला है।'

मन में प्रतिक्रिया होती है। संतोष तब होता है जब वापस वैसा ही आचरण किया जाए, गाली के प्रति गाली दी जाए, तिरस्कार का जवाब तिरस्कार से दिया जाए। यह आकर्षण की बात है, संतोष की बात है। ये सारी उसी कषाय-रसायन की प्रतिक्रियाएं हैं। उसका मिश्रण होते ही मनुष्य का चिंतन बदल जाता है। वह सोचता है इससे बढ़कर कोई संतोष नहीं, कोई आनंद नहीं, कोई तृप्ति नहीं। सांप काटता है, नीम खिलाया जाता है। नीम मीठा लगता है। नीम तो मीठा नहीं है, कषैला है, पर उसको मीठा लगता है। क्यों? इसलिए कि उसके रक्त में एक ऐसा रसायन विष घुल जाता है कि नीम की कड़वाहट उसमें लीन हो जाती है। नीम मीठा लगने लगता है। इसी प्रकार जितने भी काषायिक परिणाम हैं, कषाय से उत्पन्न होने वाले फलित हैं, परिणतियां हैं–ये हमारी अनुभूति को बदल देती हैं, चिंतन में परिवर्तन ला देती हैं, तृप्ति को बदल देती हैं। संतोष और असंतोष को नया रूप दे देती हैं।

एक पौराणिक कहानी है। एक बार इन्द्र और इन्द्राणी दोनों मनुष्य लोक में आए। घूम रहे थे। एक गांव में पहुंचे। वहां सभी लोग अत्यंत दरिद्र थे। सब गरीबी से ग्रस्त थे। इन्द्राणी का मन करुणा से भर गया। उसने इन्द्र से कहा–'देव! आप इस गांव में ही आ गए तो इस गांव को मालामाल कर दें। ये लोग गरीब क्यों रहें? ये बड़े दुःखी हैं। आप कृपा करें, इन्हें समृद्ध कर दें, जिससे कि ये संतोष का जीवन जी सकें।' इन्द्र ने कहा–'तुम्हारा कहना ठीक है। मैं उनको समृद्ध तो बना दूंगा, पर इनको संतुष्ट कर पाऊंगा, इसकी जिम्मेवारी मैं नहीं ले सकता।

क्या तुम यह जिम्मेवारी उठा सकोगी?' इन्द्राणी ने कहा–'आप इन्हें समृद्ध कर दें। इनकी दरिद्रता दूर हो जाएगी, गरीबी मिट जाएगी तो स्वयं संतुष्ट हो जाएंगे, तृप्ति अपने आप आएगी। मुझे जिम्मेवारी लेने की आवश्यकता ही नहीं है।' इन्द्र ने कहा–'देवि! तुम नहीं जानतीं। मैं जानता हूं कि ऐसा नहीं हो पाएगा। समृद्ध होने पर भी संतोष आ जाए, यह आवश्यक नहीं है।' इन्द्राणी ने हठ किया।

इन्द्र ने गांव के बाहर एक सोने की खदान तैयार कर दी। गांव के लोगों को यह पता लगा कि गांव के बाहर सोना ही सोना पड़ा है। जितना चाहे, ले आओ। उनको स्वर्ण का मूल्य ज्ञात था। वे जानते थे, सोना कितना मूल्यवान होता है। सोना लेने के लिए सारा का सारा गांव उलट पड़ा। एक ही दिशा में सबका आकर्षण हो गया। जितना जो उठा सकता था, वह सोना उठाकर ले गया। गांव का एक भी आदमी नहीं बचा, जिसने स्वर्ण न लिया हो। सारा गांव एक दिन में धनवान हो गया। सब मालामाल हो गए। एक दिन पहले तक सब दरिद्र थे, गरीब थे। आज सब धनवान हैं, समृद्ध हैं। चमत्कार-सा हो गया।

रात बीती। दूसरे दिन प्रभात उगा। इन्द्र-इन्द्राणी भी वहीं थे। गांव में चर्चाएं होने लगीं। कुछ बोले–'क्या हुआ? कैसे हुआ? किस देव ने यह चमत्कार किया है, परंतु लगता ऐसा है कि वह निरा मूर्ख था।' सब बोल पड़े-'अरे, मूर्ख कैसे? उसने इतना धन दिया, फिर मूर्ख क्यों?' उन्होंने कहा–'यदि वह समझदार होता तो सबको सोना थोड़े ही देता। कुछ को देता तो सोने का अर्थ होता। सबको दे दिया, सोने का अर्थ ही खो दिया। अब सब धनवान हो गए। कोई सेवक नहीं रहा। अब न कोई नौकर मिलेगा और न सेवक। अब काम कैसे चलेगा? पास में धन हो और नौकर-चाकर न हों तो फिर धन होने का अर्थ ही क्या है? सब समान हो गए।' इन्द्र ने सुना। इन्द्राणी से कहा–'सुनती हो! इनका संतोष बढ़ा है या असंतोष? धन देना मेरे हाथ में था, संतोष देना मेरे हाथ में नहीं है।'

असंतोष और कषाय

असंतोष वस्तु के आधार पर नहीं होता। वह होता है कषाय चेतना के आधार पर। कषाय चेतना की एक धारा यह है कि मनुष्य बड़ा बनना चाहता है। लोभ की पूर्ति होती है तो अभिमान बढ़ता है और अभिमान बढ़ता है तो व्यक्ति चाहता है कि सबसे बड़ा बनूं। वह सबसे बड़ा तब बनता है जब पास में छोटे हों, सामने छोटे हों, काम करने वाले हों। एक आंख उठते ही, भृकुटी तनते ही दस-बीस आदमी सामने आ खड़े होते हो, तब तो बड़ा होने में मजा

है, आनंद है। धनवान होने का, सत्ताधारी होने का तभी आनंद है, अन्यथा सब व्यर्थ। धनवान भी वैसा, दूसरा-तीसरा भी वैसा ही। इससे क्या लाभ? आदमी को संतोष नहीं होता। संतोष तब होता है, जब वह आगे रहता है। उसके पीछे लंबी कतार होती है सेवकों की। ये सारी प्रतिक्रियाएं कषाय चेतना के कारण होती हैं। जब कषाय चेतना बिछुड़ जाती है, चेतना की विशुद्ध धारा प्रवाहित होती है तब सारे आकर्षण समाप्त हो जाते हैं और व्यक्ति में अहिंसा आदि सद् आचार प्रस्फुटित होते हैं।

भगवान महावीर कायोत्सर्ग की मुद्रा में एक शून्यागार में ध्यानस्थ खड़े हैं। कुछ लोग आए। उन्हें गालियां दीं। उन पर प्रहार किए। कोई परिवर्तन नहीं आया। ध्यान का प्रवाह जो पहले चल रहा था, वही प्रवाह गालीदान के समय चल रहा था, प्रहारकाल में चल रहा था। ध्यानधारा खंडित नहीं हुई। लक्ष्य की ओर अखंडित बह रही है। हम सोच सकते हैं। आदमी में तो यह परिवर्तन आना चाहिए था। क्या महावीर शून्यवत् हो गए कि उनमें परिवर्तन लक्षित नहीं हो रहा है? कारण क्या है? इसका मूल कारण है दिशा का परिवर्तन। उनकी चेतना बदल गई। उसके प्रवाहित होने की दिशा बदल गई। चेतना अपनी ओर बहने लग गई। अब वहां गाली-अगाली का भेद नहीं है। वह अशब्द दशा है। सारे शब्द समाप्त हो गए। शब्दों का अर्थ भी समाप्त हो गया।

भगवान ध्यान में स्थित हैं। कुछ रूपसियां, युवतियां आईं। वे प्रार्थना के स्वर में बोलीं–प्रभो! यह क्या किया आपने? आपने असमय में योग क्यों धारण किया? आपने हमें क्यों छोड़ दिया? आप एक बार घर चलें, हमारे साथ रहें। हमारा अनुनय मानें। हमें कृतार्थ करें।' महावीर की ध्यानधारा अविचलित रही। उनमें अनुग्रह-निग्रह जैसा कुछ शेष नहीं रह गया था। यह क्यों हुआ? इसका मूल कारण है महावीर के आकर्षण की दिशा बदल चुकी थी। क्षणभर पहले वे एक चक्रवर्ती जैसे वैभवशाली थे और एक क्षण के बाद ही वे सबकुछ छोड़कर, अकिंचन बन घर से निकल पड़े। यह कैसे संभव होता है? यह संभव होता है आकर्षण की दिशा के परिवर्तन से।

दिशा का बदल जाना ही व्रत है

अहिंसा क्रिया है। हिंसा प्रतिक्रिया है। सत्य क्रिया है। असत्य प्रतिक्रिया है। अकिंचनता क्रिया है। संग्रह प्रतिक्रिया है। जिसमें आकर्षण की दिशा का परिवर्तन आ जाता है, उसके अहिंसा, सत्य, असंग्रह आदि सहज हो जाते हैं,

स्वभाव बन जाते हैं। तब फिर वह हिंसा नहीं कर सकता, असत्य नहीं बोल सकता, चोरी नहीं कर सकता, संग्रह नहीं कर सकता, कहीं आसक्त नहीं हो सकता। यह दिशा के परिवर्तन का प्रतिफलन है। उसकी यात्रा आत्मा की दिशा में होने लग जाती है। चेतना आत्मा की ओर प्रवाहित होने लग जाती है। यह व्रत है, बहुत बड़ी समाधि है।

जागरण है व्रत

गौतम ने महावीर से पूछा–'भंते! कुछ लोग सोते हैं, कुछ लोग जागते हैं और कुछ लोग सोते-जागते हैं। क्या यह सही है?'

महावीर ने कहा–'गौतम! यह सही है। जिनका आकर्षण विषयों के प्रति है, जिनकी चेतना बाहर की ओर दौड़ रही है, वे सोते हैं, सोए हुए हैं। जिनकी चेतना निरंतर आत्मा की ओर प्रवाहित हो रही है, जिनका आकर्षण टूट चुका है, वे जागते हैं, जागे हुए हैं। जिनकी चेतना कभी बाहर की ओर दौड़ती है और कभी रुक जाती है, कुछ भीतर की ओर प्रवाहित है, वे सोते-जागते हैं, वे सोए हुए भी हैं और जागे हुए भी हैं।'

व्रत जागरण है। चेतना की जागृत अवस्था है व्रत। यह समाधि है। यह समाधि इसलिए है कि इस स्थिति में पहुंचने वालों का समाधान हो जाता है।

कषाय के घेरे की चार दीवारें हैं–अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन। पहली दीवार है अनंतानुबंधी। जो इस पर चोट करता है, प्रहार करता है, उसका दृष्टिकोण सम्यक् हो जाता है। उसका दर्शन समीचीन हो जाता है। वह सत्य को पाने का दृष्टिकोण बना लेता है। जो व्यक्ति दूसरी दीवार अप्रत्याख्यानी कषाय पर चोट करता है, उसे तोड़ता है, वह व्रती बन सकता है, व्रत की भूमिका में प्रवेश कर सकता है। जो तीसरी दीवार प्रत्याख्यानी कषाय पर प्रहार करता है, वह महाव्रती हो जाता है। दीक्षित हो जाता है। प्रव्रजित हो जाता है। जो चौथी दीवार संज्वलन कषाय पर प्रहार करता है, वह वीतराग बन जाता है। वह राग-द्वेष से अतीत हो जाता है।

व्रत और महाव्रत की प्राप्ति कषाय चेतना पर चोट करने से होती है। जब तक कषाय के वलय को ढीला नहीं किया जाता, नहीं तोड़ा जाता, तब तक मनुष्य व्रती नहीं बन सकता। व्रत बहुत बड़ी समाधि है, समाधान है। जिसमें चेतना को बदलने की क्षमता आ जाती है, उसका समाधान हो जाता है, उसे समाधि मिल जाती है। उसे फिर कोई नहीं सताता। उसे न हिंसा सताती है, न

क्रोध सताता है, न अभिमान सताता है, न माया सताती है और न लोभ सताता है। उसे न राग सताता है और न द्वेष सताता है। सब समाहित हो जाते हैं, सारी समस्याएं सुलझ जाती हैं, फिर कोई उलझन नहीं होती।

लोग व्रती बनना चाहते हैं, पर उलझनों के कारण वैसा कर नहीं पाते। उलझनें क्या हैं? एक उलझन है कि उनकी कषाय की चेतना प्रबल है। उन्होंने अभी तक कषाय चेतना पर प्रहार नहीं किया। वे डावांडोल स्थिति में हैं। उन्हें मार्ग अच्छा लगता है, पर वे उसे प्राप्त नहीं कर पाते। वे सोचते हैं–'मैं अकेला ही चलूंगा। दुनिया तो मेरे साथ नहीं चलेगी।' संकल्प कमजोर हो जाता है। आस्था बनती नहीं। मार्ग मिलता नहीं। कषाय पर चोट हुए बिना यह काम पूरा नहीं होता। कषाय चेतना पर प्रहार होते ही विरति उत्पन्न होती है। एक शब्द है रति। रति का अर्थ है रमण करना। व्यक्ति रमण करने लग जाता है, आनंद लेने लग जाता है। उस दिशा से मुड़कर विपरीत दिशा लेना, यह है विरति। रति से ठीक उल्टा मार्ग है विरति का।

दो भाई थे। वे रत्नों का व्यापार करते थे। बड़ा भाई संसार से चल बसा। पीछे वह पत्नी और एक पुत्र को छोड़ गया था। लड़का बड़ा हुआ। एक दिन उसकी मां ने कहा–'बेटे! तेरे पिता मेरे पास एक पोटली छोड़ गए हैं। उनमें रत्न हैं। चाचा के पास ले जाओ और बाजार में बेच आओ। ऊंचे हैं। बहुत धन मिलेगा।' वह चाचा के पास गया। चाचा ने पोटली खोली। उसे पुनः बांधते हुए कहा–'इसे अपनी मां को दे देना। बाजार में मंदी चल रही है। ऊंचे मूल्यों में बिक नहीं पाएंगे, फिर कभी बेचेंगे।' लड़के ने मां के पास आकर सारी बात कही।

कुछ महीने बीते। वर्ष बीते। लड़का चाचा के साथ रत्नों की परीक्षा सीखता रहा। अनुभव बढ़ा। एक दिन चाचा ने कहा–'बेटे, बाजार तेजी पर चल रहा है। जाओ, वह पोटली ले आओ, रत्न बेच देंगे।' लड़का मां के पास दौड़ा-दौड़ा गया। वह पोटली ले आया दुकान पर। चाचा गद्दी पर बैठा था। दो-चार मुनीम भी बैठे थे। उसने पोटली खोली। उसकी आंखें चुंधिया गईं। वह स्तब्ध रह गया अरे, यह क्या? कहां हैं रत्न? कहां हैं हीरे? ये तो कांच के टुकड़े हैं, सारे के सारे कांच हैं। क्या हो गया? क्या हीरे कांच में बदल गए या मूलतः कांच ही के टुकड़े थे? पोटली को गली में फेंक दिया। चाचा ने कहा–'अरे यह क्या किया तुमने? मां क्या कहेगी?' उसने कहा–'चाचाजी! मैं समझ गया। वे कांच के टुकड़े थे, हीरे नहीं थे, रत्न नहीं थे।'

धारणा बदल गई। असली परीक्षण हो गया। आकर्षण बदल गया। सही स्थिति सामने आ गई।

परिवर्तन क्यों आता है? त्यागी बनने वाला, महाव्रती बनने वाला मरकर दूसरा जन्म नहीं लेता। उसमें केवल चेतना की दिशा बदलती है, आकर्षण बदलता है। जो पहले अच्छा लगता था, जो कषाय चेतना के प्रभाव से मनोज्ञ लगता था, दिशा-परिवर्तन के कारण बिल्कुल उल्टा लगने लगता है।

सम्राट अशोक के मन में एक भावना जागी कि मैं सारे संसार को जीतूं और सब पर अपना शासन स्थापित करूं। यह भावना तीव्र थी। एक दिन भावना बदली, आकर्षण बदला और उसे लगा-अरे, युद्ध करना पागलपन है। नरसंहार करना अधमता है। उसका आकर्षण बदल गया। उसने शिलालेखों में उत्कीर्ण करवाया–'किसी के साथ मत लड़ो। कलह मत करो। युद्ध मत करो।' कलिंग-युद्ध में लाखों का संहार करने वाला सम्राट प्रेम से रहने की बात करता है, यह कैसे संभव होता है। यह संभव होता है दिशा-परिवर्तन के द्वारा। जो व्यक्ति अपनी चेतना को कषाय चेतना से संयुक्त नहीं होने देता, वह अपनी चेतना के प्रवाह को मोड़ सकता है, बदल सकता है। उसका आकर्षण मिट जाता है। आकर्षण बदलते ही मूल्यांकन की दृष्टि में परिवर्तन आ जाता है। पुराने मूल्य समाप्त हो जाते हैं। नए मूल्य स्थापित हो जाते हैं। जो चीजें अर्थवान लगती थीं, वे अर्थहीन, सारहीन प्रतीत होने लगती हैं। इस मनोभूमि का, चेतना की दिशा का नाम है व्रत। व्रत एक है। उपयोगिता की दृष्टि से उसके पांच, बारह, पंद्रह आदि अनेक विभाग हो सकते हैं। व्रत कहें, विरति कहें या चेतना की दिशा का परिवर्तन-सब एक हैं, शब्द भिन्न हैं।

जिज्ञासा : समाधान

जिज्ञासा : चक्र और मर्मस्थान में क्या अंतर है? चक्रों की आकृतियां स्थूल शरीर में हैं या सूक्ष्म शरीर में?

समाधान : दो शब्द हैं–मर्मस्थान और चक्र। जहां ज्ञानतंतु अधिक एकत्रित होते हैं, सघन होते हैं, वे मर्मस्थान हैं। कुछेक स्थानों पर ज्ञानतंतु बहुत उलझे हुए होते हैं, वे चक्र कहलाते हैं। हमारे शरीर में सात सौ से अधिक मर्मस्थान हैं। जापान में इन पर बहुत अनुसंधान हो रहा है।

चीन में इन मर्मस्थानों, पॉइन्ट्स के आधार पर जो एक्युपंक्चर की चिकित्सा-पद्धति चली, वह आज जापान में विकसित हो रही है। रूस और अमेरिका के वैज्ञानिक भी इस ओर प्रयत्नशील हैं। शरीर में कहीं दर्द होता है, वे भिन्न-भिन्न स्थानों को सूई की चुभन के द्वारा सक्रिय करते हैं, दर्द क्षीण हो जाता है, मिट जाता है।

भावना शरीर में चक्र है, परंतु वहां चक्र का आकार नहीं है। वहां वे शक्ति के रूप में, भावना के रूप में हैं और उनका जो आकार बनता है वह बनता है स्थूल शरीर में। जैसे दर्पण के सामने कोई वस्तु जाती है तो उसका प्रतिबिंब उसमें पड़ता है। किसी में एक इन्द्रिय ज्ञान की क्षमता है तो उसकी रचना एक इन्द्रिय के अनुसार होगी। जिसमें आंख की क्षमता है, उसमें आंख का आकार बनेगा। आंख के ज्ञान की क्षमता कर्म-शरीर में होगी, स्थूल शरीर में नहीं होगी, किंतु आंख से देखने का जो गोलक बनेगा, साधन बनेगा, वह व्यक्त होगा स्थूल शरीर में।

वैसे ही चक्रों की जो क्षमता है, वह है सूक्ष्म शरीर में, किंतु उनकी आकृतियां बनती हैं स्थूल शरीर में। इसलिए शरीरविज्ञान (एनोटॉमी) के अनुसार यह पता नहीं लग रहा है कि चक्र है कहां? क्योंकि मूल शक्ति तो सूक्ष्म शरीर में है और अभिव्यक्ति के स्थान बन गए हैं स्थूल शरीर में। दोनों में यह अंतर है।

जिज्ञासा : योग में नाभि को इतना महत्त्व क्यों दिया गया है?

समाधान : यह अग्नि का स्थान है। इसे सूर्य का स्थान भी कहा जाता है। यहां ऊष्मा पैदा होती है। नाभि के आसपास का सारा स्थान ऊष्मा का ही स्थान है। हमारे शरीर में जो ऊष्मा पैदा होती है, वह यहीं से होती है। नाभि की ऊष्मा भयंकर भी होती है। जिन लोगों ने ग्रंथ पढ़-पढ़कर नाभि पर ध्यान करना प्रारंभ किया, उनमें ऊष्मा बहुत बढ़ गई। वासना इतनी तीव्र हो गई कि उसको संभाल पाना कठिन हो गया। यह केन्द्र हमारी ऊष्मा और तेजस्विता का केन्द्र है। नाभि पर अनुसंधान हो रहे हैं। मनोवैज्ञानिक, शरीरशास्त्री तथा योग के मनीषी भी भिन्न-भिन्न अनुसंधान कर रहे हैं। यह निष्कर्ष सामने आ गया है कि वह तैजस का, अग्नि का, विद्युत का बहुत बड़ा केन्द्र है। यहां से सक्रियता पैदा होती है और सर्वत्र फैलती है। जब नाभि का भाग निष्क्रिय हो जाता है तब शरीर में शिथिलता, मंदता आ जाती है।

जिज्ञासा : आपने बताया कि मन में विकार नहीं आना चाहिए। मन इन्द्रियों का स्वामी है। मन में जो विकार उत्पन्न होते हैं, क्या हम उनको उत्पन्न होने दें? क्या हम उनके साथ-साथ चलें? या हम ऐसा व्यवहार करें कि वे नष्ट हो जाएं?

समाधान : मन में विकार आना चाहे, वह भी बिना बुलाए आना चाहे तो उसे मत रोको। तुम उसे बुलाते नहीं, आमंत्रित नहीं करते, फिर भी वे आते हैं तो उन्हें देखो, रोको मत। आज भी इस गोष्ठी में अनेक व्यक्ति सुनने आए हैं। उन्हें आमंत्रण नहीं दिया था। शिविर में नहीं हैं, फिर भी सुनने की उनकी रुचि है। स्थान भी खाली पड़ा है। उनको क्यों रोका जाए? उनको सुनने से क्यों वंचित रखा जाए? वे सुनेंगे। सुनने के बाद चले जाएंगे। यहां नहीं रुकेंगे। केवल आपको जान लेना है कि बाहर से भी व्यक्ति आए हैं। भोजन केवल शिविरार्थियों के लिए बना है। निश्चित संख्या के लिए भोजन बना है। वे ही उस भोज में निमंत्रित हैं। अनिमंत्रित व्यक्ति आएंगे, उन्हें भोजन नहीं मिलेगा। उन्हें खाली हाथ लौटना पड़ेगा। यही बात विकार के लिए है। वह अनामंत्रित आता है तो खाली हाथ लौटना पड़ेगा। प्रत्येक व्यक्ति में यह ख्याल बना रहे कि जो आ रहा है वह मेरा नहीं है। वह 'स्व' नहीं है, 'पर' है। अपने का और पराए का भेद बना रहे, ज्ञान बना रहे। इतनी जागरूकता तो अवश्य बनी रहे कि जो आ रहा है, वह पराया है। इतनी जागरूकता होने पर यदि विकार आता है तो वह कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता।

जिज्ञासा : आपने कहा कि इन्द्रियों के विभाग वास्तविक नहीं हैं, इसे समझाएं।

समाधान : श्रीमज्जयाचार्य ने इसे एक रूपक से समझाया है। खुले आकाश में एक चौकी पड़ी है। तूफान आया। वह चौकी रेत से ढक गई। अब वह दृश्य नहीं थी। संयोग ऐसा हुआ कि एक कोने से रेत हटी। किसी को लगा कि कुछ चीज है। उसे कोना दिख रहा था। दूसरी ओर से रेत हटी। दूसरा कोना दिखाई दिया। उसे लगा, दूसरी चीज पड़ी है। अब उसे दो वस्तुएं दीख रही थीं। तीसरे कोने की रेत हटी, तीसरी वस्तु बन गई। चौथे कोने की रेत हटी, चौथी वस्तु बन गई। अब उस व्यक्ति को अलग-अलग चार वस्तुएं दीख रही थीं। जोर से हवा चली। सारी रेत उड़ गई। चौकी दृश्य हो गई। अब चार वस्तुएं मिट गईं, एक वस्तु रह गई। चौकी रह गई। इन्द्रियों का विभाजन भी ऐसा ही है। एक-एक कोना, एक-एक वस्तु दिखाई दे रही है। चेतना की एक अखंड धारा प्रवहमान है। वह खंडित नहीं है। उसकी अखंडता को हमने देख लिया तो फिर न पांच इन्द्रियां हैं, न चार हैं, न तीन हैं, न दो हैं, एक ही है और वह चेतना की अखंड धारा है। वहां न मन है, न इन्द्रियां हैं, बस केवल चेतना है। ये विभाग उपयोगिता के आधार पर हुए हैं। ये वास्तविक नहीं हैं।

जिज्ञासा : व्रत और महाव्रत दो हैं। किस अंश के आकर्षण को हम व्रत मानें और किस अंश के आकर्षण को हम महाव्रत मानें? आकर्षण को माप पाना कठिन होता है।

समाधान : महाव्रत की सीमा हमारी विकल्पना है, योजना है, व्यवस्था है। भगवान महावीर ने कहा–**संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा–** कुछ भिक्षुकों की अपेक्षा गृहस्थों का संयम श्रेष्ठ होता है।

गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा–संयमी साधु का संयम गृहस्थ की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है।

भगवान ने कहा–'कुछ गृहस्थों का संयम अनुत्तर होता है, श्रेष्ठ होता है।' यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष है कि जो वास्तव में साधु है, जिसकी चेतना पूर्णरूप से साधुत्व में लीन है, उसी में रमण कर रही है, वह सभी गृहस्थों की अपेक्षा संयम में श्रेष्ठ होता है। यह एक सीमारेखा है। आखिर कहीं न कहीं सीमा-रेखा खींचनी पड़ती है। व्यवहार की सीमारेखा यह है कि जो तीन योग और तीन करण (मन, वचन और काया से, करना, कराना और अनुमोदन करना)

से असत् प्रवृत्ति का परित्याग करता है वह है महाव्रती, वह है मुनि। जो इसमें अपवाद रखता है, वह होता है श्रावक। श्रावकों के अनेक स्तर हैं। उनमें एक स्तर है प्रतिमाधारी श्रावक का। श्रावक की प्रतिमाएं (विशेष त्याग) ग्यारह हैं। जो इनका पालन करता है, वह होता है प्रतिमाधारी श्रावक। उसे जैन आगमों में 'श्रमणभूत' कहा गया है। इसका अर्थ है मुनि-तुल्य। साधु-तुल्य। वह साधु नहीं है, पर उसके तुल्य है, समान है, उस श्रावक ने भी घर छोड़ दिया, आहार भी शुद्ध करता है और अनेक चर्याओं का पालन भी करता है, पर है साधु-तुल्य, साधु नहीं, क्योंकि **पेज्जबंधने अवोच्छिन्ने** अभी तक उसका प्रेम का धागा, राग का धागा टूटा नहीं है, अनुमोदन का भाव हटा नहीं है। इतना-सा अंतर है। वह गृहस्थ माना जाता है, साधु नहीं।

कृत-कारित-अनुमति मनसा, वाचा, कर्मणा यह सीमा है महाव्रत की। इसके नीचे की सीमा है व्रत की।

जिज्ञासा : आकर्षण के बिंदु में अनुमोदन शेष रह जाता है। क्या यही सीमारेखा का कारण है?

समाधान : हां, यही कारण है। आत्मा की ओर जो आकर्षण है, उसमें रुकावट है, बाधा है, यह व्रत की सीमा में होता है। जब वह निर्बाध होता है तब महाव्रत की सीमा आ जाती है।

जिज्ञासा : ऐसे पदार्थ हैं, जिनके प्रति हमारा कोई आकर्षण नहीं है, फिर भी अव्रत से बचने के लिए हम उनका त्याग करते हैं। क्या ऐसा त्याग उपयोगी होता है या चेतना की दिशा बदलना उपयोगी होता है?

समाधान : एक होता है पदार्थों का त्याग और एक होता है चेतना की दिशा का परिवर्तन। ये दो बातें हैं। दोनों का प्रयोजन है। मूल बात है चेतना की दिशा को बदलना। पदार्थों का त्याग यदि चेतना के दिशा-परिवर्तन में सहायक होता है, सहयोग देता है तो वह प्रयोजनीय है। चेतना के आकर्षण को बदलने के लिए यदि पदार्थ-त्याग का अभ्यास होता है तो वह करणीय है, अन्यथा वह बहुत मूल्यवान नहीं है। पदार्थ-त्याग पूर्वाभ्यास के रूप में अथवा परीक्षण के रूप में होता है और वह चेतना के दिशा-परिवर्तन के लक्ष्य को सामने रखकर होता है तो बहुत उपयोगी है। चेतना के दिशा-परिवर्तन की बात को गौण कर केवल पदार्थ त्याग करते चले जाएं तो हमने व्रत का मर्म ही नहीं समझा है। हम नहीं जान पाए हैं कि चोट कहां करनी है?

दुर्योधन बलवान था। उसे ऐसे नहीं मारा जा सकता था। गांधारी सती थी। दुर्योधन जब गांधारी के सामने खड़ा होता और गांधारी उसके शरीर के जितने भाग पर दृष्टि दौड़ाती, वह भाग वज्रमय बन जाता। दुर्योधन लंगोट बांधे रहता था। गांधारी की दृष्टि उस भाग पर नहीं जाती। वह भाग कमजोर रह गया। महाभारत का युद्ध छिड़ा। भीम ने दुर्योधन को मार डालना चाहा, किंतु दुर्योधन वज्रमय था। उसे कैसे तोड़ा जाए? मूल मर्म हाथ नहीं आ रहा था। कृष्ण ने मर्मोद्घाटन किया। भीम ने उसी कमजोर अवयव पर गदा से प्रहार किया और दुर्योधन भूमि पर गिर पड़ा। यह है उचित स्थान पर चोट करने की बात। उचित स्थान पर चोट नहीं होती है तो हजार प्रयत्न के बावजूद सफलता प्राप्त नहीं होती।

हमें मर्म को पकड़ना है। पदार्थ-त्याग मर्म नहीं है। हम कितने पदार्थों का त्याग करेंगे? प्रतिदिन नए-नए पदार्थों का आविष्कार होता है। पदार्थों की बाढ़-सी आ रही है। जीवनभर पदार्थों का परित्याग करते चले जाएं। कहीं अंत नहीं आएगा। अनंत हैं पदार्थ। मुख्य मर्म है आकर्षण के केन्द्र को बदलना। चेतना की धारा का दिशा-परिवर्तन करना। जब तक यह समझ में नहीं आता, तब तक दुर्योधन जीता का जीता रह जाएगा। कभी नहीं मरेगा। मूल मर्म यह है कि हमारा प्रहार चेतना की दिशा को बदलने के लिए होना चाहिए। प्रयोग और परीक्षण के रूप में पदार्थों का परित्याग कर सोचते रहें कि मैं कितना संयमी बना हूं? क्या मेरी चेतना बदल रही है? पदार्थ-त्याग हमारी प्रयोगभूमि है। लक्ष्य है चेतना की दिशा का परिवर्तन।

जिज्ञासा : क्या पदार्थों को छोड़ने से, त्याग लेने से, धर्म नहीं होता?

समाधान : होता है, परंतु आप मर्म को समझने का प्रयत्न करें। राजस्थानवासी मतीरा खाने का त्याग करता है और मानता है कि धर्म हुआ, किंतु विश्व में ऐसे भी देश हैं, जहां मतीरा होता ही नहीं। वहां के निवासी जानते ही नहीं कि मतीरा क्या होता है? उनके लिए मतीरा खाने की बात ही नहीं उठती। उनको भी धर्म होता है क्या? मतीरा नहीं खाने मात्र से धर्म हो गया क्या? मूल बात यह नहीं है। पदार्थ कहीं होते हैं, कहीं नहीं। कभी होते हैं, कभी नहीं। प्रश्न है मन की आग का, लालसा का। वह शांत हुई या नहीं? हम सोचें आग में मौसंबी नहीं डाली, नहीं जलेगी। कपड़ा नहीं डाला, नहीं जलेगा। हमने इतना बचा लिया। अरे, बचा क्या लिया। आग में बचाने की बात है ही

नहीं। आग को अब भी कपड़ा मिले तो वह उसे जला सकती है, फल मिले तो फल को जला सकती है। कुछ भी मिले, सबको भस्मसात कर सकती है। आग है तब तक जलने-जलाने की बात होती रहेगी। मूल बात है आग को बुझाना, आग को शांत करना।

आकर्षण आग है। यदि हमारा ध्यान आकर्षण को मिटाने में लगता है, आग बुझ जाती है। यदि हमारा ध्यान केवल ईंधन को बचाने में लगता है, पदार्थ-त्याग की ओर ही जाता है, कभी आग बुझेगी ही नहीं, समय पाकर भभक उठेगी। बहुत सारे पदार्थ छोड़ दिए जाते हैं, पर लोलुपता नहीं मिटती, लगाव नहीं मिटता, आकर्षण नहीं छूटता। लोलुपता मिटनी चाहिए, लगाव मिटना चाहिए, आकर्षण छूटना चाहिए। यह है दिशा का परिवर्तन।

आप आग को भी जानें और ईंधन को भी जानें। दोनों को समझें। ईंधन को आग में गिरने से रोकें। आग भभकेगी नहीं। उसे बुझाने का भी प्रयत्न करें। पदार्थ त्याग लालसा की आग को बुझाने में सहायक बने, ऐसा प्रयत्न हो।

जिज्ञासा : व्रत की सीमा चेतना के आकर्षण का बिंदु है तो उसके परीक्षण की सीमा का निर्धारण कैसे हो सकता है? यह कैसे संभव है?

समाधान : सीमा-निर्धारण की कोई जरूरत नहीं है। हम अभ्यास के रूप में कुछ भी प्रयोग कर सकते हैं। हम बच्चे को कुछ सिखाना चाहते हैं। उसे पहले नकली रूप बताते हैं। नकली चीजें सामने रखते हैं। जिनका आकार हम बच्चे को दिखा रहे हैं, उनका कोई उपयोग नहीं है। वे नकली हैं। असली तो वह होगा जो वास्तव में है, किंतु अभ्यास के लिए हम उसे नकली आकार दिखाते हैं। यह हमारा अभ्यास होता है कि हम इन व्यक्तियों के साथ ऐसा व्यवहार करेंगे, इनके साथ ऐसा करेंगे। यह सारा ज्ञान विभिन्न रूपों में कराया जाता है, किंतु उसकी पृष्ठभूमि में एक ही भावना काम करती है। वह भावना है विवेक जागृत करना, क्षमता जागृत करना।

शिक्षा का उद्देश्य है बौद्धिक क्षमता का विकास। उसके लिए अनेक विद्यालयों में शिक्षा दी जाती है। इतिहास पढ़ाया जाता है, भूगोल पढ़ाया जाता है, सामाजिक ज्ञान कराया जाता है। यह सभी देशों में एक-सा नहीं होता। देश और काल के अनुसार नाम बदल जाते हैं, स्थान बदल जाते हैं, संदर्भ बदल जाते हैं। मौलिक अंतर नहीं होता। अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, चीन या भारत सबकी शिक्षा का एक ही उद्देश्य है कि छात्र का बौद्धिक विकास हो,

मानसिक विकास हो। देशप्रेम जागे। देश के प्रति अनुराग पैदा हो। शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का विकास हो। शिक्षा देने के तरीकों में भिन्नता आती है देश और काल के अनुसार, किंतु मूल उद्देश्य नहीं बदलता।

हमारा भी मूल उद्देश्य है कि जो आकर्षण बाहर की ओर बह रहा है, वह मुड़े और अंदर की ओर बहने लगे। वह मूल चेतना में लीन हो जाए। इसके उपाय एक नहीं, हजार हो सकते हैं। पदार्थ-त्याग भी उसका एक उपाय है, पर वह हो संयम को बढ़ाने वाला, आकर्षण को बदलने वाला, आकर्षण को तोड़ने वाला। पदार्थ के परित्याग से आकर्षण कितना छूटता है, यह देखना चाहिए। पदार्थ-त्याग भी अच्छा है और चेतना का दिशा-परिवर्तन भी अच्छा है। पहला है प्रयोग और दूसरा है मूल। हम मूल को मूल समझें, प्रयोग को प्रयोग और साधना को साधना।

जिज्ञासा : पदार्थों का परित्याग और चेतना की दिशा का परिवर्तन क्या दोनों चेतना के ऊर्ध्वारोहण के लिए आवश्यक हैं?

समाधान : दोनों आवश्यक हैं, परंतु इसे हमें ठीक समझ लेना चाहिए। जो लोग केवल छोड़ते ही चले जाते हैं, मूल बात को नहीं पकड़ते, उनके सामने भी समस्या आती है। जो प्रयोग नहीं करते, लालसा को घटाने के लिए पदार्थ-त्याग का प्रयोग नहीं करते, उनके सामने भी समस्या आती है। मूल बात है चेतना का परिवर्तन। मूल को समझना और पदार्थ-त्याग का प्रयोग करना आवश्यक है। पदार्थ-त्याग को प्रयोग का रूप देना चाहिए, जिससे यह लगे कि जीवन में प्रयोग हो रहा है। रूढ़ि पर न चलें। हमने एक दिशा की ओर प्रस्थान करने का निश्चय कर लिया। हमें एक-एक पैर आगे रखना होगा, तभी हम मंजिल पा सकेंगे। पांच मील का रास्ता पार करना है तो भी एक-एक पैर चलकर ही हम उसे पार कर सकेंगे। उड़कर एक साथ पांच मील नहीं जा पाएंगे। एक पैर रखा। मंजिल कुछ कम हुई। दूसरा, तीसरा और चौथा पैर रखा। मंजिल कुछ और कम हुई। यही क्रम है मंजिल को पाने का। हमारे सामने दिशा है हम एक-एक पैर चल रहे हैं। निश्चित ही हम लक्ष्य तक पहुंच जाएंगे।

जिज्ञासा : क्या चेतना अपने मूल स्रोत से बाहर निकलकर नई स्थितियां निर्मित करती है?

समाधान : मूल चेतना से हमारी चेतना बाहर की ओर फैलती है। सूर्य की रश्मियां सूर्य से बाहर फैलती हैं, बाहर की ओर जाना इनका स्वभाव है,

किंतु बाहर जाने का अर्थ किसी से मिलना नहीं है। कोई मिला लेता है, यह बात दूसरी है। जहां मिलना होता है, वहां परिवर्तन भी होता हे, तब अनेक स्थितियां बनती हैं।

जिज्ञासा : जागरूकता संवर है या निर्जरा? कर्म को रोकती है या तोड़ती है?

समाधान : जागरूकता संवर और निर्जरा दोनों है। जो आदमी जागरूक रहता है, वह दोषों के आने के द्वार बंद कर देता है। द्वार बंद होने पर बाहर से कोई वस्तु नहीं आती। नहीं आने के साथ-साथ उसमें शक्ति बढ़ती है और वह इतनी बढ़ जाती है कि उससे पुराने दोष नष्ट होते हैं। वह निर्जरा है।

जिज्ञासा : क्या अप्रयत्न भी एक प्रयत्न नहीं?

समाधान : अप्रयत्न भी एक प्रयत्न है। प्रयत्न को छोड़ना भी एक प्रकार का प्रयत्न है, प्रवृत्ति है।

जिज्ञासा : भूख की अनुभूति ज्ञान के द्वारा होती है या अन्य किसी माध्यम से?

समाधान : यदि ज्ञान से भूख की अनुभूति होती हो तो मुक्त आत्मा को भी भूख की अनुभूति होनी चाहिए। क्या अज्ञान के द्वारा भूख की अनुभूति होती है? नहीं। यदि अज्ञान के द्वारा भूख की अनुभूति मानें तो निर्जीव वस्तु में भी उसकी अनुभूति होनी चाहिए। ज्ञान या अज्ञान भूख की अनुभूति के कारण नहीं है। भूख की अनुभूति तब होती है जब ज्ञान की धारा वेदनीय कर्म की धारा से मिलती है।

जिज्ञासा : संवेदन और स्व-संवेदन में क्या अंतर है?

समाधान : जहां ज्ञानधारा कषाय से मिश्रित होती है, वह है संवेदन। जहां ज्ञान, कर्म और संस्कारों का मिश्रण होता है, वह है संवेदन। जहां ज्ञानधारा, ज्ञान चेतना विशुद्ध रहती है, जहां अपनी आत्मा का अनुभव होता है, शुद्ध चैतन्य का अनुभव होता है, वह है स्व-संवेदन। इसका अर्थ है स्व का अनुभव।

जिज्ञासा : ज्ञान चेतना और कषाय चेतना का तात्पर्य क्या है?

समाधान : एक है चेतना का वलय और एक है कषाय का वलय। इन दोनों में अपनी-अपनी शक्ति है। चेतना में अपनी शक्ति है और कषाय में अपनी शक्ति है। इन दोनों शक्तियों का संघर्ष है। शुद्ध चेतना कहीं नहीं

जाती। वह तो अपने स्वरूप में स्थित रहती है, शांत रहती है। वह शक्ति रूप है। शुद्ध चेतना से जो ज्ञान की रश्मियां निकलती हैं, वे बाहर की ओर जाती हैं। कषाय की रश्मियां उनसे संयुक्त होने का प्रयास करती हैं। संघर्षण होता है। जब आदमी जागरूक रहता है तब ज्ञानधारा की शक्ति प्रबल रहती है और वह कषाय की धारा को हटाने लग जाती है, उसके वलय को तोड़ने लग जाती है। जब आदमी प्रमाद में होता है तब कषाय की धारा प्रबल होती है और वह ज्ञानधारा को दबोचने का प्रयत्न करती है। दोनों अपने-अपने दांव लगाती हैं। जो प्रबल होती है, वह जीत जाती है और दूसरी हार जाती है। कभी ऐसी स्थिति भी आती है कि वह कषाय चेतना ज्ञान चेतना को दबाए चली जाती है। ऐसा लगता है मानो ज्ञान समाप्त हो गया। कभी ऐसी स्थिति भी आती है कि ज्ञान चेतना कषाय चेतना को दबाए चली जाती है और उसे समूल नष्ट कर देती है।

जिज्ञासा : जप को शक्तिशाली कैसे बनाया जा सकता है?

समाधान : जप को शक्तिशाली बनाने के लिए, उसे पूर्ण प्रभावशाली बनाने के लिए चार बातें आवश्यक हैं–रंग, शब्द, उच्चारण और मन का योग। जैसे 'णमो अरहंताणं' का जाप करते समय हमारे मस्तिष्क में श्वेत वर्ण का चिंतन होना चाहिए। श्वेत रंग का ध्यान होगा तो उससे अधिक लाभ होगा। अर्हत् के साथ श्वेत रंग का, सिद्ध के साथ लाल वर्ण का, आयरियाणं के साथ पीले रंग का, उवज्झायाणं के साथ हरे रंग का और णमो लोए सव्वसाहूणं के साथ काले रंग का योग है। इस प्रकार प्रत्येक मंत्र के साथ रंग का संबंध है। प्रत्येक अक्षर के साथ रंग का संबंध है। जैसे 'क, अ' ये सारे अक्षर हैं। 'अ' का वर्ण होता है, रंग होता है, गंध होती है, रस होता है और स्पर्श होता है। संस्थान भी होता है। पांचों बातें हर अक्षर के साथ, हर वर्ण के साथ होती हैं।

जिज्ञासा : सूक्ष्म जप और मानसिक जप क्या है?

समाधान : सूक्ष्म उच्चारण को बोलकर नहीं समझाया जा सकता है। मैं बोलूंगा तो वह सूक्ष्म नहीं रहेगा। जप के तीन प्रकार हैं। उसमें एक है मानसिक जप। इसे हृदय जप भी कहा जाता है, रहस्य जप भी कहा जाता है, गूढ़ जप भी कहा जाता है। आपने स्थान चुना हृदय का। यह सबसे सरल स्थान है। आपने मंत्र का एक वाक्य ले लिया। जो भी इष्ट है, उसके अक्षर ले लिए। आंखें मूंद लीं। जब उन अक्षरों को देखना प्रारंभ किया। सुनहरे अक्षरों के रूप में उन्हें देखा। ध्यान में बैठे हैं, उन अक्षरों को पढ़ रहे हैं, बोल नहीं रहे हैं, मात्र

उन अक्षरों को देख रहे हैं। यह है सूक्ष्म जाप, सूक्ष्म ध्यान। इस प्रकार जो जाप किया जाता है, वह बहुत शक्तिशाली होता है।

आप उच्चारण कर, बोलकर जाप करेंगे तो उसमें इतनी शक्ति नहीं होगी। अक्षरों को आंतरिक आंखों से निरंतर देखते रहना, एकटक देखते रहना, यह है मानसिक जप। इससे मन शक्तिशाली होता है।

जिज्ञासा : क्या जप के स्थान उद्देश्य के साथ बदल जाते हैं?

समाधान : एक 'णमो अरहंताणं' का जाप शरीर के पचासों भागों में किया जा सकता है। यह हमारे उद्देश्य पर निर्भर करता है कि हम किस उद्देश्य से जाप कर रहे हैं। आपको एक बीमारी से छुटकारा पाना है तो आपको अर्हत् का जाप और कहीं करना होगा। आपको किसी वस्तु को प्राप्त करना है तो उसको कहीं और करना होगा। आपको अर्हत् बनना है तो दूसरे स्थान पर करना होगा। इस प्रकार पचासों उद्देश्य हो सकते हैं।

जिज्ञासा : आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न इसके आधार पर जाप का क्रम क्या होना चाहिए?

समाधान : 'आत्मा भिन्न और शरीर भिन्न' इस अनुभूति का जप करना, यह किसी भी मंत्र से कम नहीं है। मोह को तोड़ने के लिए यह बहुत बड़ा मंत्र है। इसे बोलकर भी किया जा सकता है। जप का क्रम इस प्रकार चले। प्रारंभ में तेज और लंबी ध्वनि हो। इसमें ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत–ये तीनों प्रकार के उच्चारण होते हैं। जप करते-करते दस-पंद्रह मिनट बीत गए। स्नायुओं में शिथिलता आ गई, थकान आ गई। पंद्रह मिनट के बाद आप उसे छोड़ दें, फिर उपांशु जप करें, फिर उच्चारण होठों तक सीमित रहेगा। दूसरों को पता भी नहीं चलेगा। उस जप में चले जाइए। दस-पंद्रह मिनट करते रहें, फिर मानसिक जप में चले जाइए। यह एक क्रम है शक्ति के संवर्धन का। मानसिक जप में जाने के बाद आप न जोर से बोलेंगे, न धीमे बोलेंगे, केवल पढ़ेंगे, देखेंगे, द्रष्टा बन जाएंगे।

जिज्ञासा : क्या नमस्कार मंत्र का एक ही प्रकार का प्रयोग है या भिन्न-भिन्न?

समाधान : एक बार मैंने सोचा था कि नमस्कार मंत्र के विविध प्रयोगों, सौ प्रयोगों की एक पुस्तक लिखूं, जिसमें नमस्कार मंत्र के सौ अलग-अलग प्रयोग हों। ऐसा प्रयत्न किया भी, पर वह अभी पूरा नहीं हो सका। अगर कोई

चाहे तो नमस्कार मंत्र के हजार प्रयोग कर सकता है। किस प्रकार की बीमारी के लिए, किस प्रकार की मानसिक स्थिति के लिए और किस प्रकार के संपर्क के लिए सबके लिए अलग-अलग प्रयोग हैं।

जिज्ञासा : श्वास पर मैंने ध्यान दिया। डेढ़ घंटे बाद होश आया। जो दो-तीन घंटे तक ध्यान करते हैं, उन्हें भी ज्ञात नहीं रहता। इस प्रकार जो भीतर जाते हैं, क्या वे मनोमय कोष में पहुंचते हैं या जड़ समाधि में जाते हैं? जड़ समाधि में जाते हैं तो क्या यह उल्टी दिशा में नहीं है?

समाधान : यह मनोमय कोष में नहीं, प्राणमय कोष में है सारा। हम प्राण को दिशांतरित कर देते हैं। इससे शून्यता आ जाती है। यह जड़ समाधि की बात है। इससे इतना तो होता है कि कुछ विश्राम-सा मिलता है या शरीर की जो क्रिया है, वह कम हो जाती है और यह शरीर की शक्ति को सुरक्षित रखने का एक साधन जरूर बन जाती है, किंतु जो चैतन्य का विकास करना चाहते हैं, वह इससे संपन्न नहीं होता। वह सारा होता है जागृत समाधि में। इसका अर्थ है कि हम निरंतर जागते रहें। आचार्यों ने बताया कि मुनि को सोते समय भी जागना चाहिए। दो प्रकार की स्थिति होती है–एक जागते समय सोने की और दूसरी सोते समय जागने की।

सोते समय भी जागना चाहिए। इसका मतलब है कि रात को सोए भी, नींद ले भी तो इतनी गाढ़ नींद न लें कि बिल्कुल बेभान ही हो जाए। साधक इतनी हल्की नींद ले कि सोते समय भी यह बराबर अनुभव बना रहे कि मैं जाग रहा हूं। चेतना एकदम लुप्त न हो। यह अच्छी भूमिका है। यह साधना की स्थिति है कि हम ध्यानकाल में या समाधिकाल में बिल्कुल बेभान न हों, बेहोशी की स्थिति में न हों, जागृत हों, जागते रहें। हमें अपनी आत्मा का बोध, अपने अस्तित्व का बोध बराबर बनाए रखना चाहिए। यह होगी हमारी जागृत समाधि। बस, इतना-सा हो कि मन एक ही दिशा में लगा रहे। इसका अर्थ यह हुआ कि मन का कार्य बंद नहीं हुआ है। वह कार्यरत है। मन का काम चालू है। मन की अनुभूति भी बंद नहीं है। मन का ज्ञान भी बंद नहीं है। केवल समाहार हो गया। संस्कृत भाषा में समाहार की पद्धति है। यह व्याकरण की पद्धति है। 'अह' कहने से समूची वर्णमाला का समाहार हो जाता है, ग्रहण कर लिया जाता है। आदि का अक्षर है 'अ' और अंतिम अक्षर है 'ह'। 'अह' में सारी वर्णमाला समा गई। भाषा में संक्षेपीकरण की बात चलती है। अंग्रेजी भाषा

में भी यह प्रचलित है। बड़ा नाम है किसी कंपनी का। आदि के अक्षर से वह नाम बोला जाता है। समझने वाला समझ जाता है। यह समाहार की पद्धति है।

वैसे ही मन का भी समाहार होना चाहिए, करना चाहिए। मन जो चारों ओर छितर रहा है, उसे समेटकर एक बिंदु पर जमा देना, यह है मन का समाहार। उस प्रतिक्रिया में जागरण रहेगा, चैतन्य रहेगा, सुषुप्ति नहीं होगी, मूर्च्छा की स्थिति नहीं होगी। आत्म-बोध बराबर बना रहेगा। उस स्थिति में मन ऊर्जा को पैदा करता है और उस ऊर्जा के द्वारा परमाणुओं का विस्फोट होता है। उससे हमारे चैतन्य की ज्योति प्रज्वलित होती है, अभिव्यक्त होती है।

यह है हमारे विकास का साधन, विकास का मार्ग, जागरण का राजपथ। जड़ समाधि चैतन्य विकास का मार्ग नहीं है। शरीर के स्तर पर उससे कुछ लाभ हो सकता है, किंतु यह चेतना के विकास का रास्ता नहीं है। जड़ समाधि और जागृत समाधि की भूमिकाएं भिन्न-भिन्न हैं। दोनों दो हैं, एक नहीं।

जिज्ञासा : उस वक्त यदि दूसरी घटनाएं घट रही हों तो उनकी थोड़ी-थोड़ी जानकारी होगी कि ऐसा कुछ हो रहा है। उस ओर ध्यान नहीं देते हैं, फिर भी इन्द्रियां कभी-कभी ग्रहण करती रहती हैं। उस स्थिति में क्या करना चाहिए?

समाधान : एकाग्रता की स्थिति में बाहरी घटनाओं का ज्ञान होता है। जैसे शब्द का जो ज्ञान होता है, वह कभी होता है और कभी नहीं होता, किंतु जब एकाग्रता सिद्ध हो जाएगी तब ये सारी स्थितियां समाप्त हो जाएंगी। प्रारंभ में कुछ स्थितियां बनती हैं, किंतु एकाग्रता का जो दृढ़ बिंदु प्राप्त हो जाता है, उस समय कुछ भी भान नहीं रह सकता। मैंने स्वयं इसका अनुभव किया है। मैं जान-बूझकर उस स्थान में ध्यान करने बैठता हूं, जहां चारों ओर कोलाहल हो रहा होता है।

यह इसलिए करता हूं कि एकाग्रता की डिग्री का परीक्षण हो सके। एकाग्रता किस बिंदु तक पहुंची है, यह ज्ञात हो सके। कभी शब्द सुनाई देता है, उसके अर्थ की ओर भी ध्यान चला जाता है। कभी शब्द सुनाई देता है, पर उसके अर्थ की ओर ध्यान नहीं जाता और कभी यह भी स्थिति आती है कि कोई भी शब्द सुनाई नहीं देता। ये तीन स्थितियां हैं। तीनों स्थितियां चलें, कोई आपत्ति नहीं है। एकाग्रता जैसे-जैसे पुष्ट और सुदृढ़ होती जाएगी, मन को जैसे-जैसे एकाग्र करते चले जाएंगे तो हम एकाग्रता के उस बिंदु पर पहुंच जाएंगे कि बाहर की स्थिति का अनुभव ही समाप्त हो जाएगा।

जिज्ञासा : मनोमय कोष में पहुंचे बिना जो हमारी क्रियाएं होंगी, वे वास्तविक नहीं होंगी। भक्त रैदास में जो क्रिया निष्पन्न हुई, जो परिवर्तन फलित हुआ, वह मनोमय कोष में पहुंचने पर ही हुआ था। हम संयम करते हैं, त्याग करते हैं, बहुत-सी क्रियाएं करते हैं और सोचते हैं कि हमने बहुत अच्छा कर लिया या कर रहे हैं, लेकिन हम मनोमय कोष में तो पहुंचे नहीं हैं। उस कोष में पहुंचे बिना जो धार्मिक क्रियाएं करता है, उनका फल कितना और कैसा होता होगा?

समाधान : प्राण के स्तर पर साधना करने वाले व्यक्ति अनेक चमत्कारों की शक्ति पा लेते हैं, पर उनके स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आता। ऐसे साधक या संन्यासी हो सकते हैं, जो अपनी दृष्टि से एक पल में आदमी को भस्म कर सकते हैं। वे शाप दे सकते हैं, अनुग्रह कर सकते हैं, आशीर्वाद दे सकते हैं। प्राण के स्तर पर चमत्कार सारे हो सकते हैं, किंतु उनमें क्रोध भी है, मान भी है, माया भी है, ईर्ष्या भी है, द्वेष भी है। उनके स्वभाव में, चरित्र में, आचरण में कोई भी अंतर नहीं दीखता। इससे यह स्पष्ट होता है कि उनमें चमत्कार तो है, पर उदात्त चरित्र नहीं है, क्योंकि उन्होंने प्राणों की सिद्धि की है, मन की सिद्धि नहीं की है।

जब साधक मानसिक साधना में लगता है, तब परिवर्तन आता है। उसका सारा चरित्र बदल जाता है। उसकी आकांक्षाएं, वासनाएं बदल जाती हैं, उसका चरित्र उदात्त हो जाता है। यह सारा निष्पन्न होता है इस मनोमय भूमिका पर। इसका यह अर्थ नहीं है कि यह एक ही प्रकार से होता है, अनेक प्रकार से होता है। जिस व्यक्ति का संयम सुदृढ़ है, वह अपने आप इस भूमिका पर पहुंच जाता है। जिस व्यक्ति का वैराग्य सुदृढ़ है, वह भी इस भूमिका पर पहुंच जाता है। वह न ध्यान करता है, न श्वास पर ध्यान देता है, कुछ भी नहीं करता, केवल वैराग्य से ही वहां पहुंच जाता है। अपने आप मनोमय कोष खुल जाता है, विकसित हो जाता है। एकाग्रता सध जाती है। इसके अनेक साधन हैं–संयम, ध्यान, संकल्पशक्ति, वैराग्य, तीव्र इच्छाशक्ति। जिसका मन जिसमें लग जाए, वह उसी साधन से आगे बढ़ सकता है। जिसमें तीव्रता आ जाती है, वह लक्ष्य तक पहुंचा देता है। परिवर्तन आ जाता है।

अनेक व्यक्ति ऐसे हुए हैं, जो पहले क्षण में अत्यंत कामुक, भोगी और इन्द्रिय-लोलुप थे। राजसी ठाट-बाट में रहते थे। अपार वैभव और तीव्र

लालसाओं में वे जीवन बिता रहे थे। एक स्थिति ऐसी घटित हुई, दूसरे ही क्षण सबकुछ बदल गया। यह आकस्मिक परिवर्तन भी होता है और साधना की तीव्रता से भी होता है। संयम से होता है, वैराग्य से होता है, ध्यान से होता है। अनगिन साधन हैं इसकी जागृति के, परिवर्तन के। इसलिए हम एक ही साधन मानकर न चलें। एक ही साधन को पकड़कर न चलें। अनेक साधन हैं, अनेक मार्ग हैं, जो भी मार्ग पूरा खुल जाए, वह उस स्थिति तक पहुंचा देगा।

जिज्ञासा : यह साध्य की तरफ पहला चरण है। उसके शेष चरण कैसे और कौन-कौन-से हैं?

समाधान : शेष चरण बहुत हैं। एक चरण यह होगा कि अब हमने मन को एक दिशा में प्रवाहित किया है। एक स्थिति यह आएगी कि हमने मन को समाप्त कर दिया है। मन को समाप्त करने के बाद अनेक भूमिकाएं पार करनी होंगी।

जिज्ञासा : आपने कहा कि मन एकाग्र हो जाए और वह मनोमय कोष का स्पर्श करने लग जाए, तब ही धार्मिक क्रियाएं बहुत फल ला सकती हैं। हम तपस्या करते हैं, भूख निकालते हैं, इसका फल क्या है?

समाधान : यह निष्फल नहीं है। तपस्या की है और वह विधि से की है तो उसका परिणाम निश्चित आता है। अभी एक रूसी वैज्ञानिक ने कुंडलिनी-जागरण के लिए एक प्रयोग किया। हमारे शरीर में एक विद्युतधारा है। उसे जागृत किया जा सकता है। उस विद्युत को वे 'बायोलॉजिकल रेडियो कम्युनिकेशन' (जैविक रेडियो संचार) मानते हैं। उसे विकसित कैसे किया जाए, इस दृष्टि से वे प्रयोग करते हैं। उन्होंने संन्यासी का जीवन स्वीकार किया। उपवास किए, निर्जल उपवास किए। प्राणायाम, ध्यान आसन किए। ये सभी साधनाएं कीं। आंतरिक शुद्धि की और उसे एक ऐसा झटका लगा कि चेतना में एकदम परिवर्तन आ गया।

एक बहन है रामामंडी की। उसका नाम है कलावती। वह पढ़ी-लिखी नहीं है। अक्षरज्ञान भी उसे नहीं होगा। वह तपस्या करती है। लंबी तपस्याएं करती है। ध्यान साथ-साथ चलता है। वह उस बिंदु पर पहुंच गई, जहां पहुंचने पर परिवर्तन अवश्यंभावी हो जाता है। उसमें परिवर्तन आया। उसमें अनेक विलक्षणताएं पैदा हो गईं। पढ़ी-लिखी नहीं है, फिर भी विलक्षणताओं से भरी है। उसे ऐसा आभास होता है कि सामने कुछ लिखा हुआ है और वह उस लिपि

को पढ़ रही है, समझ रही है। चमत्कार घटित हो रहे हैं। आप इस बात को कभी न पकड़ें कि उपवास कर रहे हैं, उसका लाभ होगा या नहीं? आप यह देखें कि वह ठीक बिंदु पर चोट कर रहा है या नहीं? ठीक बिंदु पर पहुंचा है या नहीं? उस बिंदु पर किसी भी रास्ते से पहुंचा जा सकता है।

जिज्ञासा : अहं क्या है?

समाधान : मैं धनवान हूं। मैं बुद्धिमान हूं। मैं पंडित हूं। मैं बड़ा हूं। मैं स्वामी हूं। यह मेरा नौकर है–यह सारा अहं है। जिसके साथ 'मैं' लगता है, विशेषण लगता है, वह सारा अहं है। सब विशेषणों को हटा लो। मैं केवल चैतन्यमय पवित्र सत्ता हूं, पवित्र हूं, सर्वोच्च हूं। यह शुद्ध भावना है। अहं से शून्य भावना है। यह हीन भावना नहीं है। हीन भावना तब आती है जब हम आत्मा को भुला देते हैं। आत्मा की सत्ता के पीछे जहां इतना प्रकाश है, वहां न हीन भावना है और न अहं भावना।

जिज्ञासा : क्या समतालश्वास में दीर्घश्वास नहीं हो सकता या दीर्घश्वास में समतालश्वास नहीं हो सकता?

समाधान : दोनों साथ-साथ हो सकते हैं। यह तो केवल बताने के लिए दोनों का अलग-अलग उल्लेख किया है। श्वासदीर्घ भी हो और समताल भी।

जिज्ञासा : मस्तिष्क को शक्तिशाली कैसे बनाया जा सकता है?

समाधान : मस्तिष्क में एक भूरे रंग का पदार्थ है। वही हमारी सारी शक्ति को संजो रहा है। शरीरशास्त्री भी यही कहते हैं कि मस्तिष्क को शक्तिशाली बनाना हो तो श्वेत रंग का, भूरे रंग का चिंतन करो, ध्यान करो।

जिज्ञासा : जप करने का समय कौन-सा अच्छा है?

समाधान : प्रातःकाल और सायंकाल ये दो समय अच्छे हैं। बीच के समय में भी कर सकते हैं।

जिज्ञासा : क्या निर्विचार में जाने के बाद पुनः लौटना नहीं होता? क्या वह अंतिम स्थिति नहीं है?

समाधान : यह मत मानिए कि निर्विचार की स्थिति में जाने वाला पुनः विचार की स्थिति में नहीं आता। जो अंतिम बिंदु पर पहुंच गया, वह नहीं लौटेगा, वह विचार में नहीं आएगा, किंतु अभ्यास-काल में हम स्वयं निर्विचार में चले जाएंगे, फिर विचार में आ जाएंगे। यह क्रम चलता रहेगा। जब

हम निर्विचार का अनुभव करेंगे, वह हमारा प्रत्यक्ष अनुभव होगा। जो बताया गया है, उससे विपरीत नहीं होगा।

दूसरी बात यह है कि जो निर्विचारता के अंतिम बिंदु पर पहुंच गए, उन्होंने जो कुछ कहा, वह सोच-विचारकर नहीं कहा, किंतु उन्हें जो कुछ प्रत्यक्ष अनुभव हुआ, उसी के आधार पर कहा। जो स्पष्ट अनुभव होता है, दीखता है, वे कहते हैं। उन्हें सोचने-समझने की जरूरत ही नहीं होती। सोचना और विचारना उनके लिए आवश्यक होता है, जिनका ज्ञान परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं है। प्रत्यक्ष द्रष्टा के लिए सोचना-विचारना आवश्यक नहीं होता। वहां प्रत्यक्ष दर्शन है। उसका पुनरावर्तन जैसा होता है।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में अवग्रह, ईहा आदि का क्रम होता है, किंतु अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष में यह क्रम समाप्त हो जाता है।

जिज्ञासा : जो साधक निर्विचारता के चरम बिंदु पर पहुंच गए, वे लौटकर विचारों के जगत में नहीं आ सकते तो फिर जो विचार में बैठते हैं, उसका वे किस प्रकार अनुभव करते होंगे?

समाधान : वे अनुभव नहीं करते। वे तो स्पष्ट देखते हैं। उनमें प्रत्यक्ष दर्शन होता है। अनुभव का धरातल दर्शन से नीचे है। दर्शन का धरातल ऊंचा है। वे द्रष्टा बन जाते हैं। जिसने आत्मा को जान लिया, उसने सबको जान लिया। वे आत्मद्रष्टा हो जाते हैं। जो निर्विचारता की स्थिति में पहुंच गए, उन्होंने परम सत्य को देख लिया। उन्हीं ने परम सत्य का वर्णन किया। जो आत्मस्थ है, वह आत्मा को जानेगा तो जड़ को भी जानेगा। उसमें संवेदना समाप्त हो जाती है। संवेदन होता ही नहीं। जो असंवेदन की भूमि पर पहुंच गया, वह संवेदना से अतीत हो गया।

जिज्ञासा : कहा जाता है कि कलियुग में केवलज्ञान नहीं होता। क्या मनःपर्यवज्ञान भी नहीं होता?

समाधान : केवलज्ञान का एक अर्थ है कोरा ज्ञान। कोरा ज्ञान आज भी हो सकता है। अभी इसी क्षण आप केवलज्ञान का अनुभव कर सकते हैं। ऐसा मत मानिए कि केवलज्ञान नहीं हो सकता। मनःपर्यवज्ञान आज भी होता है। मनःपर्यवज्ञान का अर्थ है पर-चित्तज्ञान। दूसरे के भावों को जानना मनःपर्यवज्ञान है। आज विज्ञान की भाषा में इसे टेलीपैथी कहा जाता है।

आदमी कहीं हजारों कोस दूर बैठा है और यहां बैठा हुआ व्यक्ति उसके मनोभावों को जान लेता है। यह टेलीपैथी है।

'आज अमुक प्राप्त नहीं होता' यह जो बात कही गई है, वह एक चरम-बिंदु को लेकर कही गई है। इसका विकास ही नहीं हो सकता, ऐसा नहीं कहा गया है।

किसी ने कहा–'अमेरिका नहीं जा सकते।' इसका तात्पर्य यह है कि पैदल चलकर थल मार्ग से वहां नहीं पहुंचा जा सकता। कहने वाले के मन में यही अभिप्राय रहा होगा। यदि इस कथन के आधार पर यह मान लें कि अमेरिका पहुंचा ही नहीं जा सकता, यह भ्रांति होगी। उसके कहने का अभिप्राय था कि पैदल नहीं जा सकते, बैलगाड़ी से नहीं जा सकते, आदि, किंतु वायुयान से नहीं जा सकते या जहाज से नहीं जा सकते, यह उसके कथन का आशय कभी नहीं हो सकता। हर बात के निषेध में भी अपेक्षा जुड़ी रहती है। वह निरपेक्ष कथन नहीं होता। यह ठीक है, पूर्ण ज्ञान, निरावरण ज्ञान तक जब पहुंचना होगा, तब होगा, जिस स्थिति में पहुंचना होगा, तब होगा, परंतु मार्ग को खुला रहने दो। बंद मत करो। यह मार्ग कहां समाप्त होता है यह आगे की बात है। जितना तुम चल सको, चलते रहो, मार्ग मिलता जाएगा। मंजिल निकट आती रहेगी। पहले से ही यदि मार्ग बंद कर दिया तो फिर मार्ग पर चलने के लिए कौन तत्पर होगा? वह सोचेगा, मार्ग बंद है। उस तक पहुंचने से पूर्व ही वह लौट आएगा पूर्व बिंदु पर।

जिज्ञासा : मोक्ष तो मरने के बाद होता है। आप यह कैसे कह सकते हैं कि जीवित अवस्था में भी मोक्ष हो सकता है?

समाधान : उमास्वाति ने लिखा है **इहैव मोक्षः सुविहितानां** जो पवित्र आचरण करते हैं, उनके लिए अभी, इसी क्षण, यहीं मोक्ष है। हमें समझना है कि मोक्ष क्या है? बहुत सरल परिभाषा है। जब हम आत्मा की अनुभूति में होते हैं, शुद्ध चेतना की अनुभूति में होते हैं, अनासक्ति का अनुभव करते हैं, निर्लेपता और असंग का अनुभव करते हैं, वह हमारा मोक्ष है। ये सब मोक्ष के अनुभव हैं। हमें प्रत्येक बात को अपेक्षा से समझना होगा। घड़ा बन गया। हम कब कहेंगे कि घड़ा बन गया। आवे में पककर जब घड़ा बाहर निकलता है तब हम कह देते हैं कि घड़ा बन गया। तो क्या जब कुम्हार मिट्टी लाया था, तब घड़ा नहीं बना था? कुम्हार ने जब मिट्टी को चाक पर चढ़ाया था, तब घड़ा

नहीं बना था? भगवान महावीर का सिद्धांत है–**कडेमाणे कडे। क्रियमाणं कृतम्**–जिस क्षण में कुम्हार ने मन में घड़ा बनाने का संकल्प किया था, उसी क्षण घड़ा बन गया था। कुम्हार के संकल्प से घड़ा बन जाता है और हमारा मोक्ष होता है हमारे मरने के बाद, यह कैसा न्याय? यदि धर्म करने के क्षण में हमें मोक्ष की अनुभूति नहीं होती तो निश्चित मानिए कि कभी आपको मोक्ष नहीं मिलेगा।

जो बच्चा जन्म के पहले क्षण में नहीं मरता, वह कभी मर ही नहीं सकता। उसे कोई मार नहीं सकता। अंतिम बिंदु पर हम कह देते हैं कि 'मर गया।' यह हमारा अज्ञान है। हम कहते हैं 'मर गया।' यह क्यों? जब अंतिम क्षण आता है, सारे कर्म टूट जाते हैं, तब हम कहते हैं मोक्ष हो गया। पहले क्षण में कर्म टूटे, हम कहते हैं निर्जरा हुई। क्या मोक्ष नहीं हुआ? मोक्ष हुआ, निश्चित रूप से मोक्ष हुआ। ये दो कोण हैं। इन्हें ठीक से समझ लेना है।

जिज्ञासा : क्या जगत का प्रलय कभी हुआ है? होगा?

समाधान : जगत न किसी का बनाया हुआ है और न इसका कोई संरक्षक है। इसका न कोई पालन करने वाला है और न कोई प्रलय करने वाला है। प्रत्येक व्यक्ति जगत को रचने वाला है। प्रत्येक व्यक्ति जगत को पालने वाला है। प्रत्येक व्यक्ति जगत का प्रलय करने वाला है। प्रत्येक व्यक्ति प्रलय करता है, जड़ वस्तु भी प्रलय करती है। जगत चेतन और अचेतन का योग है। मनुष्य ने एटम बम का निर्माण किया। उसका विस्फोट किया। प्रलय किसने किया एटम बम ने या मनुष्य ने? हिरोशिमा और नागाशाकी का जो प्रलय हुआ वह मनुष्य ने किया। सारा का सारा निर्माण भी मनुष्य करता है। निर्माण और प्रलय मनुष्य ही करता है, किंतु जगत में दो मूल तत्त्व हैं–चेतन और अचेतन, चेतन और जड़। इसको किसी ने न बनाया है और न बिगाड़ा है। इन्हें न कोई बना सकता है और न कोई नष्ट कर सकता है। इस जगत में जितने तत्त्व थे, उतने ही हैं और उतने ही रहेंगे। एक अणु भी कम नहीं हुआ है। एक अणु भी कम नहीं होगा। जितना था, उतना ही है और उतना ही रहेगा।

जिज्ञासा : एक ही विचार को पकड़े रहना ध्यान की अच्छी स्थिति है या नहीं? ध्यान का अच्छा साधक कौन हो सकता है?

समाधान : ध्यान के लिए देखना जरूरी है, किंतु ध्यान करने वाले साधक में यह क्षमता होनी चाहिए कि जब चाहे विचार कर ले और जब चाहे

तब उस विचार को छोड़ दे। यह क्षमता जिसमें होती है, वह अच्छा ध्यान करने वाला होता है। जिसमें यह क्षमता नहीं होती, जो विचार आ गया है, उसे छोड़ने की क्षमता नहीं होती, वह पागलपन है। प्रश्न है क्षमता का। किसी साधक ने यह संकल्प किया कि वह एक घंटे तक अमुक विषय पर ध्यान करेगा। वह संकल्प के साथ बैठा। इसका अभ्यास होने पर एक घंटे का काल बीता या नहीं, इसे देखने के लिए घड़ी आवश्यक नहीं होती, उसका अभ्यास स्वयं काल बीतते ही संपन्न हो जाता है। ध्यान में तत्काल प्रवेश कर जाना और ध्यान से तत्काल निवृत्त हो जाना, यह क्षमता जिसमें होती है, वह अच्छा ध्यान-साधक होता है। एक विचार उठा और वह पांच-दस दिन तक भी नहीं हटा, प्रयत्न करने पर भी नहीं निकला, वह ध्यानी नहीं होता।

जिज्ञासा : आपने कहा था कि देखते रहो। देखते रहो। मैंने उस पर चिंतन किया, पर सूक्ष्म स्पंदनों को देख नहीं पाया। क्यों?

समाधान : चिंतन तो किया है, पर देखने का अभ्यास नहीं किया है। अगर देख लेते और देखने के बाद यह प्रश्न पूछते तो इसका उत्तर मुझे नहीं देना पड़ता, आप स्वयं उसके उत्तर हो जाते। देखते-देखते जब आप पहली बार भित्ति को देखेंगे, आपको एक स्थूल भित्ति दिखाई देगी। मेरा विश्वास है कि आप दस-बीस मिनट निरंतर देखते चले जाएं तो संभव है आपको फिर स्पंदन दीखने लग जाए। लगेगा कि भित्ति में स्पंदन हो रहा है, भित्ति के परमाणु स्पंदित हो रहे हैं।

जिज्ञासा : अनिमेष दृष्टि को स्पष्ट करें। देखने में क्या-क्या आवश्यक होता है?

समाधान : अनिमेष दृष्टि। अनिमेष का अर्थ यह नहीं है कि बीच में कोई पलक झपकाए ही नहीं। पलक झपका ली तो भी कोई बात नहीं है। अनिमेष का अर्थ यह है कि लंबे समय तक देखना, स्थिरता से देखना। भगवान महावीर के लिए कहा गया है कि वे भींत को लंबे समय तक देखते थे। **तिरियं भित्तिं पेहाए**–यह अजीब-सा लगता है, किंतु महावीर भींत को देखते थे। मैंने पहले ही कहा था कि जिस वस्तु को हम देखना प्रारंभ करेंगे, पहले उसका स्थूल रूप हमारे सामने आएगा, किंतु देखने की अवधि जैसे-जैसे लंबी होती चली जाएगी, स्थूल रूप समाप्त होता चला जाएगा और उसका भीतरी रूप प्रकट होने लगेगा। इसके साथ तीन बातें आवश्यक हैं–लंबा समय, स्थिर अध्यवसाय और दृढ़ लक्ष्य।

जिज्ञासा : वस्तु दर्शन का प्रयोजन क्या है?

समाधान : वस्तु दर्शन से सत्य दर्शन की बात फलित होती है। दुतरफा लाभ होता है। एक तो हमारे देखने की क्षमता विकसित होती है और दूसरे उस वस्तु के सूक्ष्म पर्याय प्रकट होने लगते हैं। जैसे वस्तु दर्शन में हम उस क्षमता का उपयोग करते हैं, वैसे ही यदि आत्मदर्शन या सत्य दर्शन के लिए ध्यान करें तो आत्मदर्शन उद्‌भासित हो जाता है, प्रकट हो जाता है।

जिज्ञासा : देखने की शक्ति को विकसित करना क्यों आवश्यक है? वह आत्मदर्शन में कैसे सहायक होगी?

समाधान : हमने देखने की क्षमता प्राप्त कर ली। वह गहरी हो गई, विकसित हो गई। अब हम उसका उपयोग किस दिशा में करते हैं, यह हम पर निर्भर है। जब हम वस्तु को जानना चाहते हैं तो उस शक्ति को, वस्तु को जानने में नियोजन करेंगे। मात्र हमारा विषय बदला, क्षमता वही रही। क्षमता एक ही है। विषय बदल जाता है। हमें आकाश को जानना है, चश्मे को जानना है या किसी भी वस्तु को जानना है, उसके अंतस्तल को देखना है तो हम उस पर ध्यान केन्द्रित करेंगे। वह हमारा विषय होगा। धीरे-धीरे वस्तु जान ली जाएगी। यदि क्षमता विकसित नहीं है तो कुछ भी नहीं होगा।

हम बच्चे को वर्णमाला पढ़ा देते हैं। हम उसके पढ़ने की क्षमता विकसित कर देते हैं। वह कोई भी पुस्तक पढ़ लेता है। वह इतिहास भी पढ़ सकता है, भूगोल भी पढ़ सकता है, विज्ञान भी पढ़ सकता है। यदि वर्णमाला की क्षमता विकसित नहीं है तो वह न इतिहास पढ़ सकता है, न भूगोल पढ़ सकता है और न विज्ञान पढ़ सकता है। उसमें यदि क्षमता विकसित है तो जो भी पुस्तक सामने आएगी, वह पढ़ लेगा।

प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करें। देखने का अभ्यास करें। इसका यह अर्थ नहीं है कि अभी कुछ ही दिनों के अभ्यास से आपको सत्य का दर्शन हो जाएगा। इतनी बड़ी आशा मत रखिए, किंतु इस अभ्यास से आपके देखने की शक्ति विकसित होगी, यह निश्चित है। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास देखने की शक्ति को विकसित करने का प्रयत्न है, उपक्रम है।

जिज्ञासा : महान आत्मा जन्म लेने से पूर्व चुनाव करती है कि मुझे कहां जन्म लेना है? क्यों?

समाधान : आत्मा जन्म लेती है। प्रकृति का चुनाव होता है कि माता-पिता उपयुक्त मिलें। यह पहली बात है। दूसरे में माता-पिता के द्वारा प्राप्त होने वाले पुष्ट उपकरणों को तो प्राप्त करते ही है, किंतु स्वयं में सोए हुए जो शक्तिकेन्द्र हैं, उन्हें भी विकसित करते हैं। दोनों बातें चाहिए। केवल एक बात से काम नहीं बनेगा। दोनों बातें होती हैं, तब कोई महापुरुष पैदा होता है। उसके लिए उपयुक्त तैयारी होती है। आजकल ऐसा नहीं होता, यह मैं नहीं सोचता। आज भी जो विशिष्ट आत्मा पैदा होती है, वह भी दो बातों का चुनाव अवश्य करती हैं। आज में और पहले में बहुत फर्क पड़ा हो, ऐसा नहीं लगता।

जिज्ञासा : प्राणशक्ति का मुख्य प्रवाह केन्द्र कौन-सा है?

समाधान : प्राण हमारी जीवनीशक्ति है, विद्युत है। जैसे एक विशाल फैक्टरी बिजली से संचालित होती है, वैसे ही इस प्राणविद्युत से शरीर संचालित होता है। इसे हम प्राणशक्ति कहते हैं। यह शक्ति समूचे शरीर में होती है, परंतु उसका मुख्य प्रवाह सुषुम्ना में होता है?

जिज्ञासा : ऑक्सीजन और प्राणशक्ति में क्या अंतर है?

समाधान : ऑक्सीजन प्राणवायु है। जैविक विद्युत प्राणशक्ति है। दोनों भिन्न हैं। प्राणवायु के साथ प्राण आता है, प्राणशक्ति बढ़ती है।

जिज्ञासा : प्राण के विभिन्न उपयोगों पर प्रकाश डालें।

समाधान : हमारा प्राण तीनों नाड़ियों से प्रवाहित होता है। एक प्रवाह को हम कहते हैं सूर्य स्वर। यह पिंगला नाड़ी का प्राणप्रवाह है। इड़ा के प्राणप्रवाह को हम चन्द्रस्वर कहते हैं और मध्यनाड़ी सुषुम्ना के प्राणप्रवाह को हम मिला हुआ स्वर कहते हैं। यह मध्यस्वर है। हमारी पीठ के पीछे सुषुम्ना में जब प्राण का प्रवाह होता है, उसके आसपास बाईं ओर इड़ा का प्रवाह है। ये तीनों ऊपर आकर भृकुटि के स्थान पर मिलते हैं। तीनों का अपना-अपना उपयोग है। सूर्यस्वर के प्राणप्रवाह का अपना उपयोग है, चन्द्रस्वर के प्राणप्रवाह का अपना उपयोग है और मध्यस्वर के प्राणप्रवाह का अपना उपयोग है। एकाग्रता और समाधि के लिए सबसे अधिक उपयोग है मध्यस्वर का। दीर्घश्वास बहुत उपयोगी है। हम दीर्घश्वास का अभ्यास करते हैं, इसका भी एक कारण है। सुषुम्ना को जगाने के लिए, चलाने के लिए दीर्घश्वास कार्यकर है। लंबे समय तक दीर्घश्वास लेने से सुषुम्ना में स्वर अपने आप चलने लगता है, मन स्थिर

हो जाता है। कपालभाति प्राणायाम भी सुषुम्ना को जागृत करने में उपयोगी सिद्ध होता है।

जिज्ञासा : शक्ति का व्यय कब और कैसे होता है? क्या प्रवृत्ति मात्र में शक्ति का व्यय होता है?

समाधान : जहां पुद्गल के साथ संपर्क है, वहां शक्ति खर्च होगी, क्योंकि वह पर के साथ संबद्ध है। शक्ति अपने आप खर्च नहीं होती। एक परमाणु है। उसके पास इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रॉन का बड़ा चक्र चलता है। वे इतने चक्कर लगा रहे हैं कि शक्ति का व्यय नहीं होता। स्वभावगत क्रिया में शक्ति खर्च नहीं होती। जहां दूसरे से संपर्क होता है, वहां शक्ति खर्च होती है। जहां शुद्ध उपयोग है, वहां शक्ति का व्यय नहीं होता। शुद्ध चेतना या शुद्ध उपयोग है जानना और देखना। वहां शक्ति खर्च नहीं होती। एक उपयोग है योग के साथ जुड़ा हुआ। जैसे मन का उपयोग, मतिज्ञान का उपयोग, श्रुतज्ञान का उपयोग। यह शब्द, इन्द्रिय और मन के साथ जुड़ा हुआ उपयोग है। इसमें शक्ति खर्च होती है, क्योंकि वास्तव में यह भी योग है। योग में शक्ति खर्च होगी, किंतु जहां केवल चेतना का उपयोग है, वहां शक्ति खर्च नहीं होगी।

योग से शरीर की शक्ति खर्च होती है, साथ-साथ इन्द्रिय और मन की शक्ति भी खर्च होती है । चेतना का जो स्तर है, उसकी भी शक्ति खर्च होती है। जहां सहज चेतना है, शुद्ध चेतना है, वहां शक्ति नहीं होती। वहां सविचार और निर्विचार का भेद समाप्त हो जाता है।

अप्रमत्तता में निर्विचार की स्थिति प्रारंभ हो जाती है। मैं इसे रूढ़ भाषा में बांधना नहीं चाहता। पहले गुणस्थानों में भी यह स्थिति प्राप्त हो सकती है, किंतु अप्रमत्त गुणस्थान में उसकी झलक अवश्य ही मिल जाती है।

जिज्ञासा : क्या श्वास का आदि बिंदु और अंतिम बिंदु एक ही है?

समाधान : श्वास को भीतर ले गए। अब फिर उसे ऊपर उठाना है, जहां तक भीतर ले गए, वहां तक तो श्वास है। ऊपर उठता है तब प्रश्वास होता है। जहां तक ले गए, वह श्वास का अंतिम बिंदु है और प्रश्वास का आदि बिंदु है। अतः आदि बिंदु और अंतिम बिंदु एक ही है।

जिज्ञासा : एक व्यक्ति छोटी-छोटी बातों को लेकर संवेदनशील बनता है। क्या यह संवेदनशीलता उसको महान साधक बना देगी?

समाधान : यह सच है कि संवेदनशीलता से क्षमता बढ़ती है, किंतु हम क्षमता का उपयोग किस दिशा में करेंगे, यह हमारी वीतरागता पर निर्भर है। क्षमता को हमें बढ़ाना ही है। अब उस क्षमता का उपयोग हम किस दिशा में करें, यह दूसरी बात है। मन पटु हो गया। जिसकी पटुता बढ़ जाती है, उसकी काम करने की शक्ति भी बढ़ जाती है। आंख में सब इन्द्रियों से अधिक पटुता मानी जाती है। मन की पटुता उससे भी अधिक है। मन की पटुता में तारतम्य होता है। इन्द्रियों की पटुता में भी तारतम्य होता है। पटुता को बढ़ाते-बढ़ाते हम इतना विकास कर लेते हैं कि हम दीवार के परे की चीज भी देख लेते हैं। यह पटुता का विकास है।

जिज्ञासा : क्या देखने के बाद भी कुछ करना शेष रहता है? क्या देखना ही सबकुछ नहीं है?

समाधान : देख लेने के बाद भी दो क्रियाएं होती हैं। हमने सचाई को देखा। देखने के बाद बदलने की क्रिया होती है। कुछ लोग मानते हैं कि देखने के बाद परिवर्तन शुरू हो जाता है। यह बात अधूरी है। परिवर्तन के लिए प्रयत्न अपेक्षित होता है। देखने मात्र से रूपांतरण नहीं होता। रूपांतरण के लिए विशेष प्रयत्न करना होता है। हमने देख लिया कि अंदर इतना कूड़ा-करकट जमा हुआ है। वह मात्र देखने से नष्ट नहीं होगा। उसे नष्ट करने के लिए हमें उसे कुरेदना होगा, उखाड़ना होगा। तभी वह साफ हो सकेगा। निर्जरा कुरेदने की प्रक्रिया है। जो परतें जमी हुई हैं, उन्हें कुरेदकर उखाड़ सकते हैं। संस्कारों की परत है, अहंकार और ममकार की परत है और भी अनेक परते हैं। उन परतों को उखाड़कर फेंकना है। उसके लिए हमें प्रयत्न करना होगा। यह सारी निर्जरा की प्रक्रिया है। यह परतों को उखाड़ने की प्रक्रिया है।

जिज्ञासा : क्या देखने मात्र से अनुप्रेक्षा कृतकार्य हो जाती है?

समाधान : अनुप्रेक्षा में चार बातें जुड़ती हैं। पहली बात है कि जो जैसा है, उसे वैसा देखो। दूसरी बात है संकल्प। देख लेने के बाद उसे बदलने के लिए संकल्प का सहारा लो। तीसरी बात है ध्वनि और चौथी बात है भावना। इस प्रकार देखना, संकल्प करना, ध्वनि करना और भावना करना–ये चारों बातें जुड़कर अनुप्रेक्षा को पूर्ण बनाती हैं।

जिज्ञासा : आपने कहा कि हम इसी जीवन में अभी मुक्ति का अनुभव कर सकते हैं। कैसे?

समाधान : हमने मुक्ति को ऐसे घेरे में बांध दिया है कि मानो मुक्ति कहीं अन्यत्र है। मुक्ति हमारे साथ ही साथ चल रही है। हमसे मुक्ति अलग नहीं है। जितना अप्रमाद है, वह सारी की सारी मुक्ति है। यही मुक्ति-स्थल है।

जिज्ञासा : पर्याप्ति क्या है? प्राण और पर्याप्ति का संगम कैसे हो सकता है?

समाधान : कोई आत्मा एक जन्म से च्युत होकर दूसरे जन्म में जाती है, उस समय उसके पास स्थूल शरीर नहीं होता, सूक्ष्म शरीर होता है। वह सूक्ष्म शरीर जन्म ग्रहण करने के पहले क्षण में ही बहुत बड़ी पुद्गल राशि एकत्रित करता है। इसे आहार पर्याप्ति कहते हैं। उस पुद्गल राशि से सारी पर्याप्तियों का निर्माण होता है। शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय-पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति–इन सबका निर्माण होता है। जैसे ही इन शक्तियों का निर्माण हो जाता है, तैजस और कार्मण का इनके साथ तालमेल होता है। जब तालमेल बैठता है तब तैजस की शक्ति, विद्युत की शक्ति–ये सारी शक्तियां केन्द्रों में प्रवेश करना शुरू करती हैं। तैजस शरीर प्राण का उत्पादक है। हमारी जो विद्युत है, वह तैजस शरीर से ही उत्पन्न होती है। यह धारा प्रवाहित होती है पर्याप्ति के केन्द्रों में और पर्याप्ति के केन्द्रों से हमारे स्थूल शरीर में आती है। शरीरशास्त्री तो इस स्थिति तक पहुंच नहीं पाए हैं, किंतु परामनोवैज्ञानिक छह-सात सूक्ष्म शरीर मानते हैं। इनमें अनेक कोष हैं–अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञान कोष, आनंद कोष आदि-आदि। इनकी पर्याप्ति से तुलना हो सकती है।

जिज्ञासा : ऐसा लगता है कि साधना में बौद्धिकता सबसे बड़ी बाधा बनती है। क्या यह ठीक है? लोकोत्तर योग को और अधिक स्पष्ट करें।

समाधान : बौद्धिकता नहीं, आपका तर्क उसमें बाधक बन रहा है। अगर बौद्धिकता नहीं होती तो शायद प्रयोग में आप आगे नहीं बढ़ सकते। चिंतनपूर्वक आप शिविर में आए हैं, प्रयोग किए हैं, योग के ग्रंथों को पढ़ा है और अभी पढ़ रहे हैं। पढ़ने से ही उत्तरोत्तर विकास हुआ और आपने यह अनुभव किया कि जीवन में ऐसे प्रयोग करने चाहिए, यह सब आपने बौद्धिकता के उच्च धरातल पर ही किया। बौद्धिकता और तर्क एक नहीं हैं। बौद्धिकता है हमारी वस्तु को पकड़ने की क्षमता। उससे हम लाभ-अलाभ को समझ लेते हैं, पद्धति को समझते हैं, उसके परिणामों को समझते हैं। यह है हमारी बौद्धिकता।

बाधा आती है तर्क के द्वारा। बौद्धिकता और तर्क एक नहीं हैं। यद्यपि बौद्धिकता का परिणाम तर्क है, किंतु बौद्धिकता उससे बहुत बड़ी चीज है। तर्क हमारे विश्वास को केन्द्रित नहीं करता बल्कि उसको विभक्त कर देता है। संकल्प मात्र से हमारा आंतरिक परिवर्तन कैसे हो सकता है? यह जो प्रश्न उभार देते हैं, वहां विश्वास सघन नहीं हो सकता। किसी भी साधना के लिए संकल्प की सघनता बहुत जरूरी है। तर्क को हम छोड़ नहीं सकते। बौद्धिकता है तो तर्क भी चलेगा, किंतु यह बात भी हमारी समझ में आ जाए कि जो कर रहे हैं उसके लिए संकल्प किया है। उसके प्रति अगर तर्क करते हैं तो बात ठीक नहीं होती। खंडित विश्वास हमें एक निश्चित दूरी तक नहीं ले जाएगा। जब व्यक्ति में संकल्प की प्रखरता आ जाती है, वहां तर्क गौण हो जाता है। अगर विश्वास सघन नहीं होता तो भिक्षु स्वामी विचलित हो जाते। सौ बार विचलित हो जाते। जो व्यक्ति यह धार लेता है कि चाहे मुझे मरना ही क्यों न पड़े, यह प्रयोग तो करना ही है, वह व्यक्ति निश्चित ही अपने प्रयोग में सफल हो सकता है।

हमारे जैन आचार्यों ने इस बात पर बहुत बल दिया कि हमारे कषाय क्षीण होने चाहिए। कोई भी साधना पद्धति सफलता तक नहीं पहुंच पाती, जहां कषाय क्षीण होने की बात नहीं आती। चमत्कार हो सकते हैं, क्योंकि चमत्कार यांत्रिक होते हैं। हमारे शरीर में रेडियो की तरह यंत्र लगे हुए हैं। वैज्ञानिक लोग इस बात का प्रयोग कर रहे हैं कि हमारे शरीर में जो यंत्र लगे हुए हैं, उनके द्वारा ध्वनि को ठीक तरह से पकड़ा जाए ताकि रेडियो की आवश्यकता न पड़े। इस प्रकार हमारे शरीर में बहुत सारी यांत्रिक चीजें हैं। इन यांत्रिक शक्तियों का विकास हो जाए तो उनके द्वारा भी बहुत बड़ा चमत्कार हो सकता है, किंतु उन सबके होने पर जो आत्मिक अनुभूति होनी चाहिए, वह नहीं होती। वह कषाय क्षीण होने पर ही हो सकती है।

उपयोग (चेतना की प्रवृत्ति) से कषाय नहीं होते और कषाय से उपयोग नहीं होता। ये दोनों अलग-अलग चलते हैं। हम शुद्धोपयोग यानी निष्कषाय उपयोग में जितने अधिक रह सकें, उतनी ही हमारी वृत्तियां शुद्ध होंगी। आप यह मत मानिए कि वृत्तियों को अलग से शुद्ध करना पड़ता है। कोई जरूरत नहीं है। किसी भी व्यक्ति को लगा कि मुझे गुस्सा अधिक आ रहा है, उसने कोई प्रयोग किया कि क्रोध कम हो जाए, किंतु यह भी कोई गूढ़ सफलता नहीं। मूलतः वृत्ति एक है, दो नहीं। उस वृत्ति पर ही प्रहार करना होता है। कषाय के

मूल पर ही प्रहार करना पड़ता है और वह होता है आत्मदर्शन के द्वारा। हमारा ध्यान आत्मा पर केन्द्रित होगा, चैतन्य पर केन्द्रित होगा या शुद्ध उपयोग पर केन्द्रित होगा तो एक साथ सारी वृत्तियों पर प्रहार होगा। निष्कषायता की वृत्ति का जो अभ्यास है, वह वास्तव में साधना का सबसे बड़ा प्रयोग या सबसे बड़ा परिणाम है। जैन साधना पद्धति में यह मुख्य प्रयोग है। इसी के आधार पर हमारी साधना की भूमिका चलती है।

जिज्ञासा : क्या संकल्प-विकल्प को रोकना ही समाधि है? समाधि, एकाग्रता और ध्यान में क्या अंतर है?

समाधान : केवल संकल्प-विकल्प को रोके और ध्येय का बोध न रहे तो जागृत समाधि नहीं हो सकती। ध्येय-शून्य संकल्प-विकल्प का विरोध है शून्य-समाधि। संकल्प-विकल्प की शून्यता और ध्येय की शून्यता दोनों एक नहीं हैं। समाधि में संकल्प-विकल्प की शून्यता है, पर ध्येय की शून्यता नहीं है। समाधि के प्रकर्ष में ध्येय का रूपांतरण हो जाता है। दृष्टि, द्रष्टा और दर्शन, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, ध्याता, ध्यान और ध्येय–इनमें से प्रत्येक त्रिक एकात्मक बन जाता है। इसे उदाहरण के द्वारा समझें। आत्मा ध्येय है। मैं उसका साक्षात् करना चाहता हूं। मैं द्रष्टा हूं। आत्मा दृश्य है। मेरी दर्शन की अपनी प्रक्रिया है। एकाग्रता के द्वारा आत्मा को देखूं, यह है मेरा दर्शन। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन–ये तीनों बराबर चल रहे हैं। मैं उस बिंदु पर पहुंच जाऊं कि जहां आत्मा का साक्षात्कार हो जाए, फिर न ध्येय रहा और न ध्यान रहा। दोनों समाप्त हो गए। ध्येय, ध्याता और ध्यान सब एक हो गए। एकाग्रता साधन है। वह ध्यान में भी होती है और समाधि में भी होती है। जैसे धारणा का प्रकर्ष ध्यान है, वैसे ही ध्यान का प्रकर्ष समाधि है। समाधि की एकाग्रता ध्यान की एकाग्रता से बहुत प्रकृष्ट होती है।

जिज्ञासा : द्रष्टा का स्वरूप क्या है?

समाधान : द्रष्टा का शब्दार्थ है देखने वाला। चेतना शुद्ध हो, उसमें कोई विकल्प न हो, उस भूमिका का नाम द्रष्टा है। इस भूमिका में केवल चैतन्य का प्रवाह होता है। दूसरा कोई नाला उसमें नहीं मिलता। न प्रियता का भाव और न अप्रियता का भाव। न राग और न द्वेष का मनोभाव। न संवेदन और न प्रतिक्रिया। चैतन्य और केवल चैतन्य। इसे कुछ साधकों ने साक्षीभाव कहा है और कुछ ने शुद्ध उपयोग कहा है।

जिज्ञासा : चैतन्य को केन्द्रित करो, चित्त को केन्द्रित करो या मन को केन्द्रित करो, ये तीनों एक हैं या भिन्न-भिन्न?

समाधान : चैतन्य व्यापक है, चित्त उससे छोटा है और उससे छोटा है मन। चित्त (बुद्धि) स्थायी तत्त्व है। मन उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, फिर उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। जब हम कहते हैं चैतन्य को केन्द्रित करो तो उसका अर्थ है चैतन्य की धारा को कषाय की ओर प्रवाहित न करो। जब हम कहते हैं चित्त को केन्द्रित करो तो उसका अर्थ है चित्त की निर्णायक शक्ति को आत्मा में विलीन करो। जब हम कहते हैं मन को केन्द्रित करो तो उसका अर्थ है संकल्प-विकल्प का निरोध करो।

जिज्ञासा : क्या मंत्र, यंत्र और तंत्र तीनों वास्तविक हैं या केवल काल्पनिक?

समाधान : शब्द, संस्थान, पदार्थ और संकल्प की शक्ति के गूढ़ रहस्यों को जानने के लिए मनुष्य सदा प्रयत्नशील रहा है। उसने समय-समय पर रहस्यों को समझा है और गुह्य का उद्घाटन किया है।

रहस्य और गुह्य के होने के तीन हेतु हैं–1. वस्तु के व्यक्त पर्याय कम हैं, अव्यक्त बहुत अधिक है। 2. वस्तु परिणमनशील है। अमुक देश और काल में स्वाभाविक रूप में भी पर्याय व्यक्त होते हैं, जिनकी शक्ति सामान्यतः ज्ञात नहीं होती। 3. वस्तु परिणमनशील है। संयोग से भी उसमें परिवर्तन होता है। वह संयोजना की विधि सामान्यतः ज्ञात नहीं होती।

एक संस्कृत कवि ने कहा–

अमंत्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति, योजकस्तत्रदुर्लभः।

'कोई अक्षर ऐसा नहीं, जो मंत्र न हो। कोई मूल ऐसा नहीं, जो औषध न हो। कोई मनुष्य ऐसा नहीं, जिसमें योग्यता के बीज न हों, पर दुर्लभ है योजना करने वाला, योग मिलाकर उनकी शक्ति को प्रकट करने वाला।'

यह दुर्लभ कार्य मनीषी पुरुषों ने किया है। उनकी साधना के फलस्वरूप आज हमें कुछ ऐसे रहस्य ज्ञात हैं, जो शक्ति, ज्ञान और सुखानुभूति की दिशा में गतिशील होने में हमारा सहयोग करते हैं।

मंत्र देवता है। वे वाचक होते हैं। दिव्य आत्माएं उनका वाच्य होती हैं।

वाचक वाच्य से सर्वथा भिन्न नहीं होता, वह उससे अभिन्न भी होता है। इस अभिन्नता का अनुभव ही मंत्र साधना की सफलता है।

आकृति का अपना महत्त्व होता है। पिरामिडों में रखे हुए शवों में सड़ान पैदा नहीं होती। यह उनके आकृति-संस्थान की विशेषता है। रेखाओं के विन्यास से शक्ति पैदा होती है। यंत्र इसका प्रमाण है। तंत्र वस्तुओं के योग से चेतना-विस्तार के पक्ष में है। वस्तुओं के योग से बड़ी विचित्र परिणतियां होती हैं। संस्कृत साहित्य में एक प्रसिद्ध सूक्त है–**अचिन्त्यो मणिमंत्रौषधीनां प्रभावः** अर्थात् मणि, मंत्र और औषधि का प्रभाव अचिंत्य होता है, कल्पना से परे होता है।

इस प्रकार मंत्र, यंत्र और तंत्र तीनों विधाएं रहस्यों को उद्घाटित करने के सक्षम माध्यम हैं। ये वास्तविक हैं, काल्पनिक नहीं।

जिज्ञासा : हम अनेक बार शिविरों में भाग लेते हैं। वहां हमें सीखने को बहुत कुछ मिलता है, हम सीखते हैं, अभ्यास करते हैं और आनंद का अनुभव करते हैं, किंतु जीवनभर हम शिविर में रह नहीं सकते। शिविर काल के बाद हम घर आते हैं। साधना का क्रम टूट जाता है। आप यह बताएं कि शिविर के बाद हमें क्या करना चाहिए, जिससे शिविरगत उपलब्धियों को हम स्थायी बना सकें?

समाधान : यह सही है कि शिविर में जो लोग आज रह रहे हैं, उन्हें वापस अपने-अपने घरों को जाना है। जाएंगे, यह स्वाभाविक बात है। अभी इतनी तैयारी नहीं है कि शिविर को एक स्थायी आवास के रूप में बदल दें और उपासक की समर्पित स्थिति का अनुभव दूसरों को भी करा दें। ऐसे बहुत कम लोग तैयार हुए हैं। इस स्थिति में घर जाने के पश्चात् सबके साथ व्यवहार का प्रश्न है, काम का प्रश्न है और जीवन के रहन-सहन के ढंग का प्रश्न है। ये सारे प्रश्न सामने हैं। मैं यह सोचता हूं कि साधना-सत्र में आने का मतलब तात्कालिक आनंद की उपलब्धि नहीं है। आज आपने प्रयोग किया और बहुत आनंद आया। यह कोई पर्याप्त बात नहीं है। यह तो उसका एक क्रम है, यह तो उसका एक क्षण है, किंतु शिविर में आने का मतलब यह है कि यहां से जो कुछ भी आप प्राप्त करें, उसे आगे क्रियान्वित करें। जो पाठ आपने पढ़े हैं, उन्हें अपने जीवन में प्रयुक्त करें। अभी शिविर चल रहा है, करने का समय तो आगे है, जब आप शिविर से मुक्त होकर अपने परिवार में जाएंगे। हम शिविर में बौद्धिक चर्चाएं करते हैं। वे बहुत आवश्यक हैं, क्योंकि जब तक हमारा ज्ञान

विकसित नहीं होता, हमारी धारणाएं स्पष्ट नहीं होतीं, हमारी मान्यताओं में बल नहीं होता, तब तक हम किसी साधना की कल्पना ही नहीं कर सकते। सबसे पहले हमारे लिए ज्ञान जरूरी है। जितने भी अच्छे-अच्छे साधक हैं, वे इस बात पर बहुत बल देते हैं कि हमारा बौद्धिक धरातल बहुत ऊंचा होना चाहिए। साधक यह अनुभव भी करते हैं कि बौद्धिक धरातल ऊंचा होने के बाद आंतरिक ज्ञान का विकास शुरू हो जाता है।

यह बहुत जरूरी है और इसीलिए उपासक के सामने एक लंबे अध्ययन का क्रम रखा जाता है। साधना का क्रम और वर्तमान की दुनिया में जिस स्तर पर बौद्धिकता का विकास हो रहा है, उसका अध्ययन हमारे लिए बहुत जरूरी है। उसके बिना हमारा धरातल बहुत नीचा रहता है, फिर साधना की बात कैसे की जा सकती है? इने-गिने आपवादिक उदाहरणों को सामने रखकर सामान्य नियम नहीं बन सकता। हमेशा नियम बनाते समय अनुपात का ध्यान रखना होता है, अन्यथा हम उलझ जाते हैं और न इधर के रहते हैं, न उधर के रहते हैं। अब कोई राम-कृष्ण हो गया है, कोई भिक्षु स्वामी हो गया या दूसरा और कोई हो गया। ये लोग दुनिया में अपवाद के रूप में जन्म लेते हैं। भिक्षु स्वामी ने कुछ नहीं पढ़ा था, परंतु कहां पहुंच गए थे। हर आदमी तो भिक्षु बनकर जन्म नहीं लेता। वह तो कोई व्यक्ति था, जो पहुंच गया। हर आदमी उसका अनुसरण नहीं कर सकता। हर आदमी को प्रयत्न करना होता है और अपने प्रयत्न से ज्ञान की उपलब्धि करनी होती है। इसीलिए सबसे पहली बात है कि बौद्धिक धरातल उन्नत होना चाहिए और ज्ञान अर्जित करने का भी पूरा प्रयत्न करना चाहिए। जितना ज्ञान विकसित होगा, अगली बातें प्राप्त करने में बहुत सुविधा हो जाएगी।

हमारे इस शिविर में अच्छी चर्चाएं चली हैं। अगर पकड़ने वाले लोग हों तो अपने बौद्धिक धरातल को काफी उन्नत बना सकते हैं, नहीं तो कम से कम प्रेरणा तो पा ही सकते हैं।

दूसरी बात आती है साधना की। साधना की दृष्टि से आसन, प्राणायाम आदि तो चलते ही थे, कायोत्सर्ग और धारणाओं के प्रयोग भी चलते थे।

हमें बौद्धिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से विकास करना है, किंतु जीवन बहुत लंबा-चौड़ा है और जीवन के इतने मार्ग हैं कि उसमें एक बात पर्याप्त नहीं होती। एक बात का अपना स्थान है, किंतु हम मान लें कि पर्याप्त हो गया, यह नहीं हो सकता। उसमें बहुत सारे कोण हैं और हर कोण को पकड़ना पड़ता है।

तीसरी बात है व्यवहार की। हर बात हमें सीखनी है और इस पर चिंतन करना है कि हमारा पारस्परिक व्यवहार कैसा रहे? शिविर में भिन्न-भिन्न परिवारों के लोग आए हैं और परस्पर में मिले हैं। इसीलिए बहुत उलझनें भी नहीं हैं, कोई टकराहट भी नहीं है, किंतु साधना की सफलता इस बात में है कि जहां अपना जीवन नियंत्रित रहे, वहां भी व्यवहार को सीधा और सरल रखें, टकराव से बचाएं। उस स्थिति में यह अनुभव किया जा सकता है कि साधना का हमारे जीवन पर कितना असर हुआ है।

साधना के चमत्कारों के बारे में शिविर में काफी प्रश्न आते रहते हैं। मैं सोचता हूं कि साधना का सबसे बड़ा चमत्कार यह है कि व्यक्ति की वृत्तियां बदल जाएं, आदत बदल जाए, स्वभाव बदल जाए। अगर मन में शत्रुता का भाव साधना के द्वारा बदल जाए तो यह जादू से भी बड़ा चमत्कार है। हमारे मन में और दूसरी वृत्तियां रहती हैं, चाहे वासना की वृत्ति हो और चाहे दूसरे प्रकार की वृत्ति हो। अगर उसमें थोड़ा-सा भी परिवर्तन आ जाए तो वह जादू से बढ़कर चमत्कार होगा।

साधना का बहुत बड़ा परिणाम है वृत्तियों का परिवर्तन और परिमार्जन। इसे चमत्कार से कम न समझें। यह बहुत बड़ा चमत्कार है। बड़े-बड़े चमत्कार करने वाले भी इन बातों से अनभिज्ञ रह जाते हैं और यहां आकर वे पराजित हो जाते हैं। मैंने ऐसे लोगों को देखा है, जो बहुत बड़े-बड़े चमत्कार दिखाने वाले थे, किंतु वे जैन साधुओं के सामने झुक गए। उनके प्रति श्रद्धा प्रकट की। उनसे पूछा गया कि आप लोग इतना जानते हैं, फिर यह क्यों? उन्होंने उत्तर दिया कि हमें ऐसा लगता है कि चरित्र जितना जैन मुनि का उज्ज्वल है, उतना हमारा नहीं। इसलिए हम चरित्र के सामने झुक जाते हैं।

वास्तविक परिवर्तन है वृत्तियों का परिवर्तन और स्वभावों का परिवर्तन। अगर साधना-सत्रों की चर्चाओं के द्वारा हम उस भूमिका पर पहुंचते हैं तो एक बहुत बड़ा काम होता है। साधना का जो तीसरा परिणाम है, वह है व्यवहार की शुद्धि। व्यवहार हमारा इतना ऋजु, कोमल और मैत्रीपूर्ण हो कि साधक के मन में प्रत्यक्ष विरोध करने वाले के प्रति भी अनिष्ट का भाव, कटुता का भाव नहीं आए। जीवन का इतना बड़ा मूल्य है कि अगर वह स्थिति प्राप्त हो जाए तो मैं साधना की बहुत बड़ी सफलता मानता हूं। मन में जो क्लेश आते हैं, दूसरों के प्रति ईर्ष्या, शत्रुता आदि-आदि भावों के क्लेश आते हैं, ये सारी बातें मिट जाएं तो उसके प्रति आनंद का सहज द्वार खुल जाता है और सारी समस्याएं समाप्त हो जाती हैं।

चौथी बात है श्रम और सेवा की। शिविर में आने वाले लोगों में पुरुषार्थ और सहयोग का संस्कार न आए तो शिविर का एक कोना बिल्कुल अछूता रहेगा। अपने जीवन को श्रमपूर्ण और स्वावलंबी बनाना, पुरुषार्थी बनाना जैनाचार्य का मूल आधार है।

अगर ये चारों बातें प्राप्त होती हैं तो शिविर के द्वारा, साधना-सत्र के द्वारा अवश्य ही जीवन का निर्माण होगा। हमारी ऐसी परिकल्पना है कि धर्म का एक व्यावहारिक रूप जनता के सामने आए। परंपरा के अनुसार लोग धर्म कर रहे हैं, परंतु वर्तमान युग को जिस बात की अपेक्षा है, उसकी पूर्ति कर सके, ऐसा धार्मिक का रूप सामने आना चाहिए।

लोग सामायिक आदि भी खूब करते हैं और व्यवहार की गड़बड़ियां भी खूब चलती हैं। यह धर्म के अनुकूल नहीं है। दूसरों के सामने उतनी ही शत्रुता की दृष्टि रहती है। उतने ही दूसरों पर प्रहार चलते हैं। ईर्ष्या और घृणा भी मन में पलती चली जाती है। यह जो दोहरा रूप है, वह आज के बौद्धिक व्यक्ति को मान्य नहीं है, इष्ट नहीं है। वह नहीं चाहता कि धार्मिक का ऐसा रूप बने। कुछ बातें शिविरार्थी में अवश्य विकसित होनी चाहिए, जैसे बौद्धिकता, आध्यात्मिकता, मृदु व्यवहार, निश्छल, मैत्रीपूर्ण व्यवहार, सेवा और श्रम। जीवन में इनका ठीक सामंजस्य और संतुलन हो तो धर्म का नया आयाम खुल सकता है।

जिज्ञासा : समस्या का वास्तविक समाधान क्या है?

समाधान : द्वंद्व की दुनिया में अकेला कोई नहीं हो सकता। न केवल समस्या हो सकती और न केवल समाधान। इस दुनिया में समस्या का उपादान भी है और निमित्त भी है। समाधान का उपादान भी है और निमित्त भी है। हम एक को पकड़कर एकांगी हो जाते हैं। एकांगी होने का अर्थ होता है समस्या का स्थायित्व। हमारी पहुंच केवल निमित्त तक होती है, तब समस्या उभरकर हमारे सामने आती है। जब हम निमित्त के दरवाजे से प्रविष्ट होकर उपादान तक पहुंचते हैं तब समस्या स्वयं समाधान बन जाती है। अंतर्मुखी होना ही समाधान है।

समस्या के अंतरंग को जानना, देखना और अनुभव करना अध्यात्म है। समस्या के आध्यात्मिक समाधान का आशय यही है कि हम पत्तों को न सींचें, उस मूल को सींचें जिसका सिंचन पत्ते को जीवन देता है। हम परिणाम को समाधान न मानें, किंतु उस प्रवृत्ति को समाधान मानें, जिससे परिणाम का सृजन होता है। यह मूल तक पहुंचना ही आध्यात्मिकता है। मानसिक और व्यावहारिक समस्या का समाधान आध्यात्मिक ही हो सकता है।